संस्कृतविश्वविद्यालय-ग्रन्थमालायाः 125 पुष्पम्

श्रीमहेश्वरावतारयोगाचार्यश्रीगोरक्षनाथविरचिता

सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः

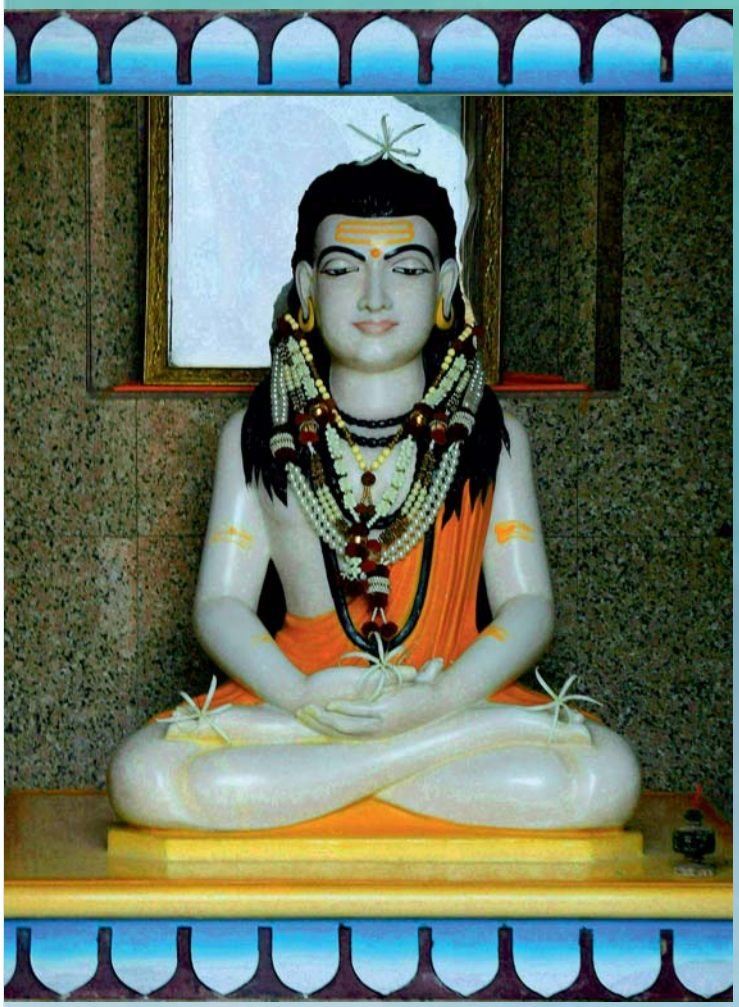

प्रधानसम्पादकः
प्रो. मुरलीमनोहरपाठकः
कुलपतिः

सम्पादकौ
प्रो. शिवशङ्करमिश्रः
शोधविभागाध्यक्षः

♦

डॉ. रविशङ्करशुक्लः
सांख्ययोगविभागः

शोध-प्रकाशनविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
नवदेहली-16

संस्कृतविश्वविद्यालयस्य ग्रन्थमालायाः 125 पुष्पम्

श्रीमहेश्वरावतारयोगाचार्यश्रीगोरक्षनाथविरचिता

सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः

प्रधानसम्पादकः

प्रो. मुरलीमनोहरपाठकः

कुलपतिः

सम्पादकौ

प्रो. शिवशङ्करमिश्रः

शोधविभागाध्यक्षः

डॉ. रविशङ्करशुक्लः

सांख्ययोगविभागः

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)

नवदेहली

प्रकाशकः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)
बी-4, सांस्थानिक क्षेत्रम्, कटवारिया सराय,
नवदेहली-110016

© प्रकाशकाधीनः

प्रथमं संस्करणम् : 2023

ISBN : 978-81-966663-1-6

मूल्यम् : ₹ 370.00

मुद्रकः
डी.वी. प्रिन्टर्स
97-यू.बी., जवाहर नगर, दिल्ली-110007

शुभमस्मदीयम्

दु:खनिवृत्ति एवं स्वरूपानन्दावाप्ति के उपाय का चिन्तन सभी दर्शनों की आधारशिला है। हमारी समृद्ध भारतीय दर्शन परम्परा में परमशिव को लक्ष्य करके प्रवृत्त हुए वीरशैव-पाशुपत-आदि छः शैव दर्शनों की परम्परा में सिद्धमत अन्यतम है। नाथयोगियों का 'सिद्धमत' दार्शनिक चिन्तन, उपासना एवं क्रिया का एक अपूर्व संगम है; जिसमें अवगाहन करने वालों के अन्त:करण निश्चित रूप से निर्मल हो जाते हैं।

हम सभी जानते हैं कि निर्विशेष-केवलाद्वैतवाद स्वामी श्रीशंकराचार्य से पूर्ववर्ती गोविन्दपाद-गौडपादाचार्य आदि विद्वानों के द्वारा पोषित था। किन्तु श्रीशंकराचार्य के क्रान्तिकारी दृष्टिकोण ने उक्त दार्शनिक परम्परा को एक नवीन चेतना एवं चिन्तनदृष्टि प्रदान की; जिसके फलस्वरूप आधुनिक दार्शनिकों के मानस पटल पर 'वेदान्त' शब्द का उच्चारण करते ही श्रीशंकराचार्य की छवि सहजतया अंकित हो जाती है। ठीक ऐसे ही; नाथमुनि-यामुनमुनि आदि के होते हुए भी विशिष्टाद्वैतवाद को एक सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने का जो कार्य श्रीरामानुजाचार्य ने किया, उससे सभी दर्शन प्रेमियों के ज्ञानकोश में श्रीरामानुजाचार्य ही विशिष्टाद्वैत के पर्याय बनकर सुरक्षित हो गए। ऐसा ही विशिष्ट स्थान परशिवरूप भगवान् श्रीगोरक्षनाथ महाभाग का भी है। आपने मत्स्येन्द्रनाथ-आदि अपने पूर्ववर्ती महापुरुषों से परम्परया प्राप्त हुई आगम-हठयोग की चिन्तनधारा को अपने स्तुत्य प्रयासों द्वारा एक ऐसे अभेद्य दुर्ग के रूप में परिवर्तित कर दिया; जिसमें प्रवेश करके सभी साधक, चिन्तक एवं योगी स्वयं को सुरक्षित अनुभव करते हैं।

श्रीगोरक्षनाथजी महाभाग ने निगम-आगम-साहित्य का समीक्षण करके गुरुपरम्परागत ज्ञान को अपनी गोरक्षशतक-श्रीनाथसूत्र-हठयोग-संहिता-गोरखवाणी-आदि महनीय कृतियों में अभिव्यक्त किया। उनमें

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' नामक एक अद्‌भुत कृति सम्मिलित है; जो छः प्रकरणों (उपदेशों) में निबद्ध, प्रसन्नभाषा में लिखित तथा विषयानुरोध से अतिगम्भीर है। विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भी यह ग्रन्थ योगविषय हेतु संकलित है। अतः साधकों के साथ-साथ यह हमारे विद्यार्थियों के लिए भी अत्यन्त उपादेय है। किन्तु अद्य यावत् कोई ऐसा संस्करण सुगमतया सुलभ नहीं था; जिसमें सर्वोपयोगी संस्कृत एवं हिन्दी टीकाएँ युगपत् संकलित हों।

हमारे विश्वविद्यालय के आचार्य प्रो. शिवशंकर मिश्र (अध्यक्ष, शोधविभाग) एवं डॉ. रविशंकर शुक्ल (आचार्य, सांख्ययोगविभाग) ने तत्परतापूर्वक इस अभाव की पूर्ति की है। आप दोनों मान्य विद्वानों ने कठोर परिश्रम द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन किया है; जिसमें श्रीमान् पं. द्रव्येश झा शास्त्री (व्याकरण-वेदान्ताचार्य, सर्वदर्शनसूरि) के द्वारा विरचित संस्कृत टीका तथा श्रीमान् पं. योगी भीष्मनाथजी के द्वारा प्रणीत हिन्दी टीका विनियुक्त हैं। मैं प्रस्तुत ग्रन्थ के सिंहावलोकन से कृतकृत्य एवं सन्तुष्ट हूँ और इस पुनीत सारस्वत-साधना के लिए उक्त दोनों आचार्यों का अभिनन्दन करता हूँ। वाग्देवता के अनुग्रह से यह ग्रन्थ सभी जिज्ञासु छात्रों एवं साधकों के श्रेयो मार्ग का साधक बने, यही भावना है।

- **प्रो. मुरलीमनोहर पाठक**
(कुलपति,
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय,
नवदेहली - 110016)

॥ श्रीगोरक्षनाथाय नमः ॥

प्राक्कथन

परमेश्वर ने मनुष्यमात्र को अपनी प्राप्ति करवाने हेतु 'वेद' नामक एक अनुशासन प्रदान किया है; जिसके माध्यम से सुखप्राप्ति एवं दुःखनिवृत्ति का अभिलाषी मनुष्य प्रयत्नपूर्वक धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की सिद्धि करके अपने जन्म को सार्थक कर सकता है। परमेश्वरप्रदत्त अनुशासन में अन्तर्निहित 'योग' एक ऐसी विधा है; जो देह, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि– इन चारों को शुद्ध करती है। सभी दर्शनों में इसकी विशेषता निरापद है। कदाचित् इसीलिए सभी वर्ग एवं सम्प्रदाय के अनुयायियों ने इसको प्रशस्त माना है। जगन्मिथ्यात्व के प्रतिपादन में पारंगत-वेदान्ती लोग भी अष्टांगयोग का समाश्रयण लेने से बच न सके। अत एव सदानन्दयति को निर्विकल्प समाधि के प्रसंग में अष्टांगयोग को ग्रहण करना ही पड़ा। और यदि योगमार्ग के पथिक जगन्मिथ्यात्व, अन्य ईश्वर एवं आत्मभेद को त्याग दें; तो उनमें एवं वेदान्तियों में कोई भेद नहीं रहता। विद्यारण्यस्वामी के शब्दों में : *'आत्मभेदो जगत्सत्यमीशोऽन्य इति चेत्त्रयम्। त्यजतेस्तैस्तदा साङ्ख्ययोगवेदान्तसङ्गतिः'* (पंचदशी ६.२२८)।

वेद का अन्त (निष्कर्ष) उसके शिरोभाग (उपनिषद्) में है। उनमें हंस, अमृतबिन्दु, नादबिन्दु, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु, ब्रह्मविद्या, योगतत्त्व, त्रिशिखिब्राह्मण, योगचूडामणि, मण्डलब्राह्मण, अद्वयतारक, शाण्डिल्य, योगशिखा, पाशुपतब्रह्म, योगकुण्डलिनी, दर्शन, महावाक्य, वाराह आदि कुछ ऐसी उपनिषदें हैं; जो 'योग' का स्फुट प्रतिपादन करती हैं। यहाँ योग-शब्द से कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, प्रपत्तियोग, हठयोग, क्रियायोग आदि विभिन्न विषय अभिप्रेत हैं। उन्हीं को आधार लेकर हिरण्यगर्भ ने सांख्ययोगमार्ग का प्रादुर्भाव किया; जिसको क्रमशः कपिल एवं पतञ्जलि ने सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। आगे चलकर गीताचार्य श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में उक्त योगसम्प्रदाय को संगृहीत

किया। किन्तु शैवमत में अनुरक्त साधकों की प्रवृत्ति केवल आगमोक्त कर्मकाण्ड में ही न उलझे रहें, प्रत्युत चित्तशुद्धि द्वारा आत्मसाक्षात्कार के अधिकारी बनें; इसके लिए नाथयोगियों का 'सिद्धमत' (अर्थात् सिद्धों-नाथयोगियों का 'मत'; प्रायशः हठयोग) प्रचलित हुआ।

नाथयोगियों की प्रसिद्धि उनके गौरवशाली इतिहास की परिचायिका है। समूचे भारतवर्ष में कदाचित् ही कोई राज्य या जनपद उनकी चरणरज एवं साधना से प्रवृत्त न हुआ हो। इसलिए आज भी हमें भारतवर्ष में सर्वत्र नाथसम्प्रदाय के विभिन्न तीर्थ, मन्दिर, मठ, आश्रम, टिल्ले आदि मिल जाते हैं। उक्त सम्प्रदाय के मूल आचार्य भगवान् शिव हैं; जिन्हें सम्प्रदाय में 'आदिनाथ' शब्द से अभिहित किया जाता है। तदुपरान्त श्रीमद्भागवत (११.२.२०-२१) में प्रसिद्ध कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस एवं करभाजन-इन नौ योगेश्वरों ने नौ नाथों के रूप में प्रकट होकर नाथसम्प्रदाय को सर्वत्र प्रचारित किया। नवनाथ के नाम एवं क्रम में पर्याप्त मतभेद हैं। किन्हीं के मतानुसार; मत्स्येन्द्रनाथ, गहनीनाथ, जालन्धरनाथ, कानीफरनाथ, नागनाथ, चर्पटनाथ, रेवणनाथ, भर्तृहरिनाथ तथा गोपीचन्द्रनाथ-ये नौ नाथ हैं। जबकि कुछ लोग मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पटीनाथ, मंगलनाथ, घुगोनाथ, गोपीनाथ, प्राणनाथ, सुरतनाथ एवं चम्बानाथ को नौ नाथ मानते हैं, वहीं; किन्हीं के मत में ओंकार-आदिनाथ, शेलनाथ, सन्तोषनाथ, अचलाम्बुनाथ, गजबलि-गजकण्ठनाथ, प्रजानाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ तथा पूर्णभक्तनाथ को नौ नाथ मानते हैं। इस प्रकार, विभिन्न परम्पराओं में अपनी-अपनी मान्यताएँ हैं, किन्तु आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरक्षनाथ पर भी परम्पराएँ एकमत हैं। अतः उक्त तीनों का माहात्म्य अक्षुण्ण है।

नाथपन्थियों की यह मान्यता है कि स्वयं भगवान् आदिनाथ ने ही 'गोरक्षनाथ' के रूप में प्रकट होकर नाथसम्प्रदाय को एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया। महाकालयोगशास्त्र में स्वयं आदिनाथ ने गोरक्षनाथजी की शिवरूपता को प्रकट किया है :

अहमेवास्मि गोरक्षो मद्रूपं तन्निबोधत।
योगमार्गप्रचाराय मया रूपमिदं धृतम्।।

अतः श्रीगोरक्षनाथ स्वयं सच्चिदानन्द परमशिव के अपर रूप हैं, यह अतिशयोक्ति नहीं है। प्रख्यात पाश्चात्य विद्वान् जॉर्ज ग्रियर्सन (१८५१-१९४१) ने उनकी प्रशस्ति में लिखा है : *'उन्होंने (अर्थात् श्रीगोरक्षनाथजी ने) लोकजीवन का पारमार्थिक स्तर उत्तरोत्तर उन्नत और समृद्ध कर, निष्पक्ष आध्यात्मिक क्रान्ति का बीजारोपण कर योगकल्पतरु की शीतल छाया में त्रयताप से पीड़ित मानवता को सुरक्षित कर जो महनीयता प्राप्त की वह उनकी महती अलौकिक सिद्धि की परिचायिका है।'*

गोरक्षनाथजी के जन्म को लेकर नाथपन्थ में अनेक मान्यताएँ हैं। नाथयोगी उन्हें चारों युगों में विद्यमान एक अयोनिज, अमरकाय, सिद्ध महापुरुष के रूप में मानते हैं; जिन्होंने कान्धार, हिमालय, नेपाल एवं तिब्बत से लेकर श्रीलंका तक के भूभाग में अपनी कृपा का विशेषतः वर्षण किया। विभिन्न युगों एवं कालों में उनके विभिन्न स्थलों पर आविर्भूत होने की प्रसिद्धि है। इसलिए पेशावर (वर्तमान पाकिस्तान में), गोरखपुर (उ.प्र.), गोरखपुर एवं बंगाल के किसी क्षेत्र में भी गोरक्षनाथजी की प्राकट्यस्थली की प्रसिद्धि है। उनके देश एवं काल को लेकर अधिक विवादों में अभी न जाते हुए हम मात्र इतना अनुमान करते हैं कि उनकी उपस्थिति आज से लगभग एक-डेढ़ सहस्राब्दी पूर्व अवश्य थी। कारण कि माधवीय शंकरदिग्विजय (९.८०-८८) में पद्मपाद का वचन है कि जैसे गोरक्षनाथ अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को प्रबोधित करने हेतु वेश बदलकर गए थे, ऐसे ही हमलोग भी राजा अमरुक के शरीर में विद्यमान अपने गुरु श्रीशंकराचार्य को उनके मूलरूप का स्मरण करवाकर उन्हें लौटा लाने का प्रयास करेंगे :

मत्स्येन्द्रनामा हि पुरा महात्मा गोरक्षमादिश्य निजाङ्गगुप्त्यै।
नृपस्य कस्यापि तनुं परासोः प्रविश्य तत्पत्तनमाससाद।।

अस्तु! 'गोरक्षनाथ' लोकव्यवहार में 'गोरखनाथ' के रूप में प्रचलित हैं। नाथपन्थ के ग्रन्थ संस्कृत एवं जनभाषा-दोनों माध्यमों में लिखे गए; जिनमें श्रीगोरक्षनाथ को 'नाथयोगी', 'सिद्धयोगी', 'कनफटायोगी', 'दरसनीयोगी' आदि नामों से अभिहित किया गया है। श्रीगोरक्षनाथजी

साक्षात् शिवरूप थे, इसका अनुमान विज्ञ पाठकों को उनके साहित्य के अवलोकन से प्राप्त होगा। डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल आदि विद्वानों के अनुसार; गुरु गोरक्षनाथजी ने संस्कृत एवं लोकभाषा– दोनों माध्यमों में पचासों ग्रन्थों की रचना की। वे हैं : अभयमात्राजोग, अमनस्कयोग, अवलि सिलूक, अष्टचक्र, अष्टपारछ्या, अष्टमुद्रा, आत्मबोध, इंद्रीदेवता, काफिरबोध, खाणीवाणी, गोरक्षकल्प, गोरक्षगीता, गोरक्षशतक, गोरक्षशास्त्र, गोरक्षसंहिता, गोरखवचन, गोरखगणेशगोष्ठी, गोरखदत्तगोष्ठी, गोरखबानी, गोरखसत, ग्यान चौंतीसा, ग्यान तिलक, ग्यानमाला, चौबीस सिद्ध, जाति भौंरावली, ज्ञानप्रकाशशतक, ज्ञानामृतयोग, दयाबोध, नरवै बोध, नवग्रह, नवरात्र, निरंजनपुराण, पंचमात्रा, पंचाग्नि, पंद्रहतिथि, पद, प्राणसांकली, मंछिद्र-गोरख-बोध, महादेव गोरखगुष्टि, महार्थमंजरी, मूलगर्भावली, योगचिन्तामणि, योगमार्तण्ड, योगसिद्धान्तपद्धति, रहरास, रोमावली, विवेकमार्तण्ड, व्रत, शिष्टपुराण, शिष्यदर्शन, श्रीनाथसूत्र, षडक्षरी, सप्तवार, सबदी, सिद्धसिद्धान्तपद्धति, हठयोगसंहिता इत्यादि। इन ग्रन्थों के अवलोकनमात्र से उनके प्रखर पाण्डित्य एवं अनुभवी दृष्टिकोण का दर्शन हो जाता है। फलतः उनकी शिवरूपता में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

श्रीगोरक्षनाथजी की शिवरूपता को इंगित करने हेतु यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि *'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'* (गीता ४.९) - भगवान् गीताचार्य की इस उक्ति के समान; उनके भी जन्म एवं कर्म दिव्य हैं। अभिप्राय : श्रीगोरक्षनाथजी का जन्म किसी प्राकृत माता-पिता से नहीं हुआ। जनश्रुति के अनुसार; एक बार महायोगी मत्स्येन्द्रनाथजी गोदावरी नदी के तट पर चन्द्रगिरि नामक स्थान में भ्रमण कर रहे थे, जहाँ वे सरस्वती नामक एक निःसन्तान महिला के द्वार पर भिक्षा लेने पहुँचे। उस व्यथित माता से भिक्षा प्राप्त करके उन्होंने उसके दुःख को दूर करने के लिए उसको अभिमन्त्रित विभूति प्रदान की, किन्तु श्रीमत्स्येन्द्रनाथजी के लौट जाने पर माता ने लोकनिन्दा के भय से उस विभूति को खाने के स्थान पर एक झाड़ी के पास गोबर की ढेरी पर डाल दिया। बारह वर्षों के बाद जब गुरुजी पुनः उस माता के घर पधारे,

तो उन्होंने उसके पुत्र से मिलने की इच्छा व्यक्त की। माता ने अपने अपराध को स्वीकार किया, किन्तु परमतपस्वी मत्स्येन्द्रनाथजी उसको उसी गोबर वाले निर्जन स्थान पर ले गए और उन्होंने अट्टहासपूर्वक 'अलख निरंजन' की ध्वनि की। उक्त ध्वनि को सुनकर गोबर के उसी ढेर से एक द्वादश वर्षीय बालक 'आदेश' कहता हुआ प्रकट हो गया। चूंकि गोबर में उसके शरीर की रक्षा हुई थी, इसलिए वह बालयोगी 'गोरक्ष' कहलाया। महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ ने उसको 'महेश्वरानन्द' नाम दिया तथा उसको अपने साथ ले गए। अल्पकाल में ही वे सिद्धमत के सभी रहस्यों को जानकर 'नाथ' उपाधि को प्राप्त हो गए और उनकी प्रसिद्धि 'गोरक्षनाथ' नाम से होने लगी। प्रत्येक योगी का परमलक्ष्य है : नाथ-पद को प्राप्त करना। नाथ अर्थात् स्वामी; जो अनात्मतत्त्व पर विजय प्राप्त करके आत्मनिष्ठ किं वा जीवन्मुक्त हो गया हो।

हठयोग-क्रियाओं में अनेक नवीन अविष्कार गुरु गोरक्षनाथ द्वारा प्रसादित हैं। उनके चिन्तन में शैव, शाक्त, बौद्ध, वैष्णव, जैन, वेदान्त आदि विविध दर्शनों का समन्वय सुलभ होता है, जिसका दर्शन पाठकों को प्रस्तुत ग्रन्थ में यथास्थल होगा। शाबरमन्त्रों से लेकर गुरुवाणियों एवं साखियों तक गोरक्षनाथजी का व्यापक प्रभाव उनकी शिवरूपता का अपर अनुमापक है। श्रीकबीरदासजी ने *'राम गुन बेलड़ी रे अवधू गोरषनाथि जांणी'* इत्यादि में तथा गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी *'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग'* (कवितावली ७.२२६) इत्यादि पंक्तियों में उनका पुण्यस्मरण किया है। इसी प्रकार जपुजी साहिब (५) में श्रीगुरु नानकदेवजी ने *'गुरु ईसरु गुरु गोरखु बरमा गुरु पारबती माई'* इत्यादि शब्दों में गुरुतत्त्व को गोरक्षनाथजी के तुल्य पूज्य माना है, जबकि गुरु गोबिन्दसिंहजी ने 'उग्रदन्ती' (५.७) में अकालशक्ति को 'गोरक्ष' के रूप में आविर्भूत हुआ बताया है : *'तूही बिआस गोरख अगसतं कबीरे'*। ऐसे ही सन्त मलूकदासजी ने *'हमारा सतगुरु विरले जाने ... की तौ नामदेव औ नानक की गोरख अवधूता'* - इन शब्दों के द्वारा गुरु गोरक्षनाथजी का सादर स्मरण किया है। फलतः सिद्ध है कि समूचे सन्तसमाज में भगवान् गोरक्षनाथजी गुरुवत् पूज्य हैं। इसलिए कभी-कभी भक्तलोग उन्हें 'जगद्गुरु'

भी कहते हैं, जो कि सर्वथा उचित ही है। नेपाल में भी गोरक्षनाथजी का प्रचुर प्रभाव है। इसका सबसे बड़ा एवं व्यावहारिक प्रमाण है– गोरखा सैनिक; जो गुरु गोरक्षनाथ के नाम पर ही 'गोरखा' कहलाते हैं। श्रीगुरु गोरक्षनाथजी-सम्बन्धी चमत्कारों में अधिक न लिखकर हम केवल एक उदाहरण से सन्तोष करेंगे। हिमाचलप्रदेश-स्थित ज्वालादेवी मन्दिर में 'गोरखडिब्बी' नामक एक प्रसिद्ध मठिया है। कभी वहाँ श्रीगोरक्षनाथजी अपने असंख्य शिष्यों के साथ पधारे तथा भगवतीजी ने उनकी भिक्षा हेतु जल को गरम होने के लिए रखा था। तब यह सोचकर कि भगवतीजी की उपस्थिति भक्तजनों को सदैव इस चमत्कारिक जल के माध्यम से होती रहे, भगवान् गोरक्षनाथजी जगदम्बा से बोले, 'मातः! जब तक मैं न लौटूँ, तब तक आप खिचड़ी को पकाने हेतु न चढ़ाइए; जल को गरम होने दीजिए। 'उस दिन से लेकर आज तक न श्रीगोरक्षनाथजी लौटे और न ही जल गरम हुआ। किन्तु वह उबलता हुआ-सा दिखाई पड़ता है; जो कि आज भी वहाँ यथावत् देखा जा सकता है।

तो इस प्रकार; महेश्वरावतार जगद्गुरु भगवान् श्रीगोरक्षनाथजी सभी के पूज्य हैं। उनका एक महान् ग्रन्थ है : **सिद्धसिद्धान्तपद्धति;** अर्थात् सिद्धों (नाथयोगियों) के सिद्धान्तों (निगम-आगम-अनुकूल अनुभवों एवं निष्कर्षों) को अभिव्यक्त करने वाली पद्धति। नाथपन्थियों में 'कनफटा योगी साधना' के नाम से इसकी प्रसिद्धि है। इसमें **छः उपदेश** (प्रकरण) हैं; जिनमें कुल **३५३ वचन** संकलित हैं। उनमें प्रायशः गद्यों की प्रधानता है, कहीं-कहीं विषयानुरोध से भगवान् गोरक्षनाथजी ने पूर्वाचार्यों के श्लोकों का भी संचय किया है। ग्रन्थ के आशय को स्पष्ट करने हेतु गुरु गोरक्षनाथजी ने 'नाथनिर्वाण' नामक एक संस्कृत टीका भी लिखी थी; जो कि प्रौढ साधकों के लिए उपादेय है। चूंकि यह ग्रन्थ अनेक विश्वविद्यालयों के योग-पाठ्यक्रम का भाग है, अतः इस पर सरल संस्कृत एवं हिन्दी टीकाओं के प्रकाशन की आवश्यकता हमें बारम्बार प्रतीत हो रही थी। फलतः हम लोगों ने एक पूर्वप्रकाशित टीका के सम्पादन एवं हमारे विश्वविद्यालय से पुनर्मुद्रण का विचार किया।

विक्रमी १९९६ (१९३९ ई.) में श्रीमत्पूज्यपाद बोहराधिपति योगीन्द्र

१०८-श्रीसमलंकृत श्रीपूर्णनाथजी महाभाग ने सिद्धसिद्धान्तपद्धति के एक टीकाद्वय-संस्करण को प्रकाशित किया था। उक्त संस्करण में श्रीमान् पं. द्रव्येशजी झा शास्त्री (व्याकरण-वेदान्ताचार्य, सर्वदर्शनसूरि) के द्वारा विरचित संस्कृत तथा श्रीमान् पं. योगी भीष्मनाथजी (वेदान्ताचार्य) के द्वारा विरचित हिन्दी-टीकाएँ संकलित थीं। ये दोनों टीकाएँ अत्यन्त सुबोध तथा विषय को सुगमतया प्रस्तुत करने वाली होने से महती उपकारिणी हैं। इसलिए अपेक्षित संशोधन के साथ उन्हीं टीकाद्वय को हमलोग विद्यार्थियों एवं प्रारम्भिक जिज्ञासु साधकों के सौविध्य हेतु पुनः प्रकाशित कर रहे हैं। उक्त तीनों विद्वानों का हम विश्वविद्यालय के पक्ष से आभार व्यक्त करते हैं। हमारे विश्वविद्यालय के शोधार्थी एवं हमारे अतिशय कृपापात्र शिष्य चि. अंकुर नागपाल को भी हम अपने आशीर्वाद देते हैं; जिन्होंने हमारे आज्ञा से प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए 'दिग्दर्शन' नामक एक लेख प्रस्तुत किया।

अन्ततः हम परमपूज्य कुलपतिजी के प्रति अपनी महती कृतज्ञता को ज्ञापित करते हैं, आपने प्रमुदित होकर प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु सहमति व्यक्त की। यह पुस्तक सभी विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं की ज्ञानपिपासा शान्त करे-यही हमारी हार्दिक भावना है, भगवान् श्रीराम से प्रार्थना है। किमधिकम्!

विनीत सम्पादकद्वय-

प्रो. शिवशंकर मिश्र
(अध्यक्ष, शोधविभाग)

डॉ. रविशंकर शुक्ल
(आचार्य, सांख्ययोगविभाग)

(श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय
संस्कृत विश्वविद्यालय, नवदेहली-११००१६)

श्रीमस्तनाथाय नमः

श्री पण्डित योगी भीष्मनाथ विलिखित

भूमिका

यूँ तो इस विशाल विश्व के गर्भ में अनेक दार्शनिक साहित्यिक एवं कलाकार हो गये हैं। परन्तु पक्षपात को तिलाञ्जलि देकर यदि विवेचनात्मक बुद्धि से विचार किया जाये, तो साफ साफ मालूम हो सकता है कि भारतीय दर्शनकार हमारे पूज्य पूर्वज महर्षि महोदय अध्यात्म विषय को लक्ष्य बनाकर अपने अलौकिक, ज्ञानगौरव और अगाध पाण्डित्य का जितना परिचय दे गये हैं तथा बाल की खाल खींचने में जिस बुद्धिबल का सदुपयोग उन्होंने किया है; शायद ही उतना आज तक किसी विदेशी दर्शन धुरन्धर ने किया हो।

यह सब कुछ ठीक होते हुये भी जब हम अपने दर्शनशास्त्रों पर दृष्टि डालते हैं, तो सर्वप्रथम सांसारिक जन्म-मरणादि दुःखों की निवृत्ति और अन्त में परमपद की प्राप्ति के लिये योगशास्त्र से बढ़कर दूसरा दर्शन इतना उपयुक्त नहीं जँचता। वास्तव में योगज धर्म एक बहुत ही अनूठी वस्तु है। इसके प्रभाव से महर्षि विश्वामित्र ने त्रिशंकु के लिये एक दूसरे ही स्वर्ग का निर्माण कर डाला था। इसी धन के धनी वसिष्ठ जी ने भूपति दिलीप के सन्तान निरोधक अदृश्य कारण का पता लगा लिया था। इसी अजेय शक्ति की सामर्थ्य से हठयोग के प्रवर्तक योगाचार्य श्रीमत्स्येन्द्रनाथ-श्रीगोरक्षनाथादि महासिद्धों की अमिट छाप आबाल-वृद्ध सभी के अन्तस्तल में अङ्कित हो रही है। उनका यश आज भी समस्त भूमण्डल पर सूर्य के प्रकाश की तरह उज्ज्वलरूप से देदीप्यमान है। सारांश यह है कि एकमात्र योगशास्त्र ही ऐसा है; जिसकी कृपा से

भुक्ति और मुक्ति- ये दोनों पदार्थ सहज ही प्राप्त किये जा सकते हैं तथा उस सनातन आत्मा को साक्षात्कार करने की शक्ति भी योगियों में ही विशेष रूप से पाई जाती है। इस भाव की पुष्टि निम्नलिखित वाक्यों से हो जाती है–

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।

यं विनिद्रा जितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः।

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।

किं बहुना स्वयं श्री आदिनाथ महेश्वर ने भी भगवती भवानी के प्रश्न करने पर सर्वकल्याण साधनों में योग को ही शिरोमणि कहा है। "योगबीज" नामक ग्रन्थ में देखिए–

बद्धा येन विमुच्यन्ते नाथमार्गमतः परम्।
तमहं कथयिष्यामि तव प्रीत्या सुरेश्वरि।।

नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम्।
सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिव भाषितम्।।

हे पार्वति! जिस नाथमार्ग अर्थात् सिद्धान्त के अनुष्ठान से प्राणी इस संसार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, वह योगमार्ग है। उसका आदि प्रवर्तक मैं हूँ और मत्स्येन्द्रनाथादि सिद्धों से सर्वदा सेवित है। मैं प्रसन्न होकर तुझे उस सिद्धान्त का उपदेश देता हूँ; क्योंकि कैवल्यपद की प्राप्ति दूसरे अनेक शास्त्रों से अतिदुष्कर है। वह मोक्षपद केवल सिद्ध मार्ग से ही सुलभ है, दूसरे प्रकार से नहीं; इस मेरे वचन को तुम सत्य मानो।

अतएव सिद्धराज योगाचार्य श्रीगोरक्षनाथ जी ने सिद्ध सम्प्रदाय के कल्याणार्थ योग के गहन एवं गूढ़ रहस्यों के प्रकाशनपूर्वक इस "सिद्धसिद्धान्तपद्धति" नामक योग के अनन्य ग्रन्थ को निर्माणकर इस संसार के लिये महान् उपकार किया है। प्राचीन समय से प्रचलित

सिद्धमार्ग ही इस समय योग सम्प्रदाय 'सिद्ध-सम्प्रदाय' और 'नाथ-सम्प्रदाय' नामों से प्रसिद्ध है।

योग के अन्य ग्रन्थों के होते हुये भी इस ग्रन्थ को महत्त्व इसलिये है कि इसमें पंच महाभूतों सहित इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियों तथा षट् चक्रों का बड़ा ही विशद एवं साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। कुण्डलिनी का जागरण कैसे होता है, पंचमहाभूतों में कौन कौन से गुण हैं, अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ कैसे प्राप्त होती हैं, सिद्धियों में न फँसकर मोक्ष प्राप्त कैसे होता है सहस्रदल क्या चीज़ है, महाशक्ति कुण्डलिनी के अन्दर कौन सी सामर्थ्य छिपी है, सिद्धों के मत में योग शब्द का क्या अर्थ है और अवधूत के क्या लक्षण हैं... इत्यादि अनेक योग के गुप्ततर रहस्यों का इसमें स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ में वर्णित रीति के अनुसार यदि योग का अनुष्ठान किया जाय, तो सद्गुरु की कृपा से प्रथम वर्ष में ही सिद्धि प्राप्त होने लगती है और बारहवें वर्ष में पहुँचते ही पूर्ण सिद्ध एवं साक्षात् शिव तुल्य सकल विश्व का कर्ता, धर्ता और हर्ता हो जाता है। इस बात को स्वयं श्रीगोरक्षनाथजी ने इसी ग्रन्थ में साफ-साफ वर्णन किया है-

प्रथमे त्वरोगतासिद्धिः सर्वलोकप्रियो भवेत्।
कांक्षन्ते दर्शनं तस्य स्वात्मारूढस्य नित्यशः।।

तथा च,

द्वादशे शिव तुल्योऽसौ कर्ता हर्ता स्वयं भवेत्।
त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं श्रीभैरवो यथा।।

अन्य ग्रन्थों के अभ्यास करने से इतने स्वल्प समय में ऐसी सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। अतः यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय और आदरणीय है।

सिद्धसिद्धान्तपद्धति-दिग्दर्शन

।। श्रीनित्यनाथाय नमः ।।

शिवावतार जगदाचार्य भगवान् श्रीगोरक्षनाथजी महाभाग के द्वारा लगभग १०वीं शताब्दी ईस्वी में प्रणीत 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' छः उपदेशों (प्रकरणों) में निबद्ध एक अनुपम उपदेश-संग्रह है; जिसमें सिद्धों (नाथयोगियों) के लिए उपयुक्त अथवा उनके द्वारा परम्परया प्रोक्त सिद्धान्त-पद्धति प्रकाशित है। इसके **'पिण्डोत्पत्ति'** नामक **प्रथम उपदेश** में कुल **७३** वचन हैं; जिनमें, पिण्डोत्पत्ति-वर्णन के व्याज से, सिद्धसिद्धान्त के अभिमत पदार्थ-विभाग प्रतिपादित है। **१.१** में ग्रन्थकार द्वारा ग्रन्थ की निर्विघ्नसमाप्ति एवं शिष्यशिक्षण हेतु शक्तिसहित जगद्गुरु भगवान् आदिनाथ–परब्रह्म को प्रणाम करना, **१.२** में अजातवाद का सिद्धान्तत्वेन स्वीकार एवं केवल उपदेश (अर्थात् प्रारम्भिक साधक को सुगमतया समझानेभर) के लिए पिण्डाण्डभेद (व्यष्टिसमष्टिभाव) वाले सत्कार्यवाद का समर्थन तथा **१.३** में ग्रन्थ के छहों उपदेशों का नामोद्देश हुआ है।

१.४-९ में वर्णन है कि सृष्टि से पूर्व अव्यक्त-नामरूपातीत अनामा (परब्रह्म) में कार्यकर्तृत्व, कुल (नाम-रूप द्वारा व्यक्त) तथा अकुल (नाम-रूप द्वारा अव्यक्त) आदि भेद नहीं थे; केवल वह अनादिसिद्ध (सर्वभेदशून्य) सन्मात्र परमतत्त्व विद्यमान था। उसी सर्वव्यवहाररहित अनामा में अध्यारोपित (विकल्पित) उसकी ईक्षणस्वभावा निजाशक्ति प्राणियों के सुख-दुःखादि के भोगार्थ जगद्व्यापार करने हेतु विकसित एवं संकुचित होकर क्रमशः जगदुत्पत्ति एवं प्रलय का व्यवहार करती है। परब्रह्म में आरोपित उसकी पाँच शक्तियाँ हैं; जिनके नाम हैं : निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा एवं कुण्डलिनी। निजाशक्ति के द्वारा परब्रह्म के जगद्व्यापार-विषयक उत्साह (इच्छा) से उसमें लीन रहने वाली

पराशक्ति उत्थित होती है; जिसके स्पन्दनमात्र से पुनः परब्रह्म में अपराशक्ति उद्भूत होती है। उससे परमेश्वर में जगद्व्यापार-विषयक अहंभाव उदित होता है; जिससे पुनः परमेश्वर की सूक्ष्माशक्ति उदित होती है। अन्ततः उससे वेदना-तत्त्वज्ञानस्वरूपिणी कुण्डलिनीशक्ति का उद्भव होता है; जो अज्ञानी को बन्धन तथा योगियों को मोक्ष देने वाली है। **१.१०-१६** के अनुसार; उक्त पाँचों शक्तियों में निम्नोक्त पाँच-पाँच गुण विद्यमान रहते हैं :

१. *निजा* : नित्यता (जन्मादिभावशून्यता), निरंजनता (रागादिद्वन्द्वशून्यता), निष्पन्दता (स्पन्दनशून्यता), निराभसता (वस्तुगतभेदशून्यता) तथा निरुत्थानता (परिणामशून्यता)।

२. *परा* : अस्तिता (विकारशून्यता), अप्रमेयता (परिच्छेदशून्यता), अभिन्नता (शिवैकरूपता), अनन्तता (अभावशून्यता) तथा अव्यक्तता (सूक्ष्मता)।

३. *अपरा* : स्फुरता (गति), स्फुटता (शिवभासकत्व), स्फारता (क्रियासहकार), स्फोटता (कर्तृत्वादिधर्माभिव्यक्ति) तथा स्फूर्तिता (जगद्व्यापारसमर्थिका)।

४. *सूक्ष्मा* : निरंशता (अनेकत्वशून्यता), निरन्तरता (देशकालपरिच्छेद-शून्यता), निश्चलता (अच्युतभाव), निश्चयता (परब्रह्मबोधिनी) तथा निर्विकल्पता (जगद्व्यापारार्थसंकल्पशक्ति)।

५. *कुण्डलिनी* : पूर्णता (अपरिच्छिन्नता), प्रतिबिम्बता (योगितेजोरूपता), प्रबलता (महाशक्तिमत्ता), प्रोच्चलता (नित्यवर्धमानता) तथा प्रत्यङ्मुखता (जगद्व्यापारतत्परता)।

इन पच्चीसों शक्तियों के योग से 'परपिण्ड' (सगुण-साकार परब्रह्म द्वारा अधिष्ठित व्यापक पिण्ड) का आविर्भाव होता है : *'निजापराऽपरासूक्ष्माकुण्डलिन्यासु पञ्चधा। शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातः पिण्डपरः शिवः'* (१.१६)। **१.१७-२४** के अनुसार; उपर्युक्त पाँचों शक्तियों के पाँच अधिष्ठाताओं के रूप में एक परब्रह्म की पंचधा स्थिति होती है। अतः निजाशक्ति के 'अपरम्पर' (सदाशिव), पराशक्ति के

'परमपद' (परमेश्वर), अपराशक्ति के 'शून्य' (रुद्र), सूक्ष्माशक्ति के 'निरंजन' (विष्णु) तथा कुण्डलिनीशक्ति के 'परमात्मा' (ब्रह्मा) अधिष्ठाता कहे गए हैं; जो कि स्फुरता (उत्साह), भावना (क्रियासामान्यज्ञान), शून्य (स्वास्तित्वबोध), अहंकार (स्वसाक्षात्कार एवं स्वप्नसाक्षित्व) तथा उत्पन्न (बीजरूप-समष्टिपिण्ड का सृष्टिव्यापार) -इन पाँच कृत्यों के क्रमशः निर्वाहक माने जाते हैं। पाँच-पाँच गुणों वाली पूर्वोक्त पाँच शक्तियों के उक्त अधिष्ठाताओं में भी पाँच-पाँच गुण विशेषतः रहते हैं, यथा :

१. *अपरम्पर (सदाशिव)* : अकलंकत्व (रागादिदोषशून्यता), अनुपमत्व (स्वसजातीयरहित-अद्वितीयसत्ता), अपारत्व (अनन्तता), अमूर्तत्व (सर्वपरिच्छेदशून्यता), अनुदयत्व (प्रागभावशून्यता)।

२. *परमपद (परमेश्वर)* : निष्कलत्व (अवयवशून्यता), अणुत्व (सूक्ष्मता), अचलत्व (व्यापकता), असंख्यत्व (संख्या-द्वैत से रहितता) तथा अनाधारत्व (स्वाश्रितता)।

३. *शून्य (रुद्र)* : लीनता (अव्यक्तता), पूर्णता (अखण्डता), उन्मनी (स्वरूपस्थिति), लोलता (संहारादि-कार्यकुशलता) एवं मूर्च्छा (प्रलयकालिक एकरसस्थिति)।

४. *निरंजन (विष्णु)* : सत्यत्व (त्रिकालाबाधित-सच्चिदानन्दरूपता), सहजत्व (स्वरूपस्थिति), समरसता (निर्विकारिता), सावधानता (सर्वदोषशून्यता) तथा सर्वगतत्व (सर्वव्यापकता)।

५. *परमात्मा (ब्रह्मा)* : अक्षयत्व (नित्यता), अभेद्यता (स्वरूपनिष्ठा-भिन्नता), अच्छेद्यता (सनातनसत्तास्थिति), अविनाशित्व (स्वाभि-व्यक्तिता) तथा अदाह्यत्व (त्रिविधतापशून्यता)।

इस प्रकार; व्यवहारतः एक ही परब्रह्म में कृत्यभेद से कुल पच्चीसों गुणों वाले उपर्युक्त पाँचों अधिष्ठाताओं का आविर्भाव होता है, किन्तु समष्टिरूप से सर्वाधार समष्टिदेव परब्रह्म ही हैं। फिर अनाद्यपिण्ड (सगुण परब्रह्म-कारणब्रह्म) से आद्यपिण्ड (अपरब्रह्म-कार्यब्रह्म) की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए भगवान् ग्रन्थकार **१.२५-३६** में कहते हैं कि अनाद्यपिण्ड से परमानन्द, परमानन्द से प्रबोध, प्रबोध से चिदुदय,

चिदुदय से चित्प्रकाश तथा चित्प्रकाश से सोऽहंभाव-इन पाँच देवताओं का आविर्भाव होता है। इनमें पुनः पाँच-पाँच गुण रहते हैं :

१. *परमानन्द* : स्पन्द (गति), हर्ष (आनन्द), उत्साह (कृतिशक्ति), निष्पन्द (परिणामशक्ति) तथा नित्यसुख (स्वरूपनिष्ठसुखनुभव)।

२. *प्रबोध* : उदय (उत्पत्ति), उल्लास (चित्तप्रफुल्लता), अवभास (ज्ञान), विकास (अभिव्यक्ति) तथा प्रभा (प्रकाशता)।

३. *चिदुदय* : सद्भाव (नित्यता), विचार (नित्यानित्यविवेक), कर्तृत्व (कर्तृनिष्ठ-अहं), ज्ञातृत्व (ज्ञातृनिष्ठ-अहं) तथा स्वातन्त्र्य (स्वाश्रयित्व)।

४. *चित्प्रकाश* : निर्विकारत्व (षड्भावविकारशून्यता), निष्कलत्व (निरवयवता), निर्विकल्पता (संशयरहितता), समता (एकरसता) तथा विश्रान्ति (विषयोपरामता)।

५. *सोऽहंभाव* : अहंता (व्यापकता-विषयक अभिमान), ऐश्वर्य (सर्वस्वामित्व), स्वात्मता (सर्वत्रात्मबुद्धि), विश्वानुभवसामर्थ्य (सर्ववेद्यता) तथा सर्वज्ञत्व (अतीतानागतज्ञातृत्व)।

कुल पाँच-पाँच गुणों वाले उक्त पाँचों देवता आद्यपिण्ड के अंग हैं तथा इनका समवेतस्वरूप आद्यपिण्ड महत्तत्त्व, हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा नाम से भी प्रसिद्ध है। उसी से महाकाश उत्पन्न होता है। फिर महाकाश से महावायु, महावायु से महातेज, महातेज से महासलिल (महाजल) तथा महासलिल से महापृथिवी उत्पन्न होती है। इन पाँचों महाभूतों (सूक्ष्मभूतों) में पुनः पाँच-पाँच गुण होते हैं, यथा :

१. *महाकाश* : अवकाश (सर्वाश्रयता), अच्छिद्रत्व (अभेद्यता), अस्पृशत्व (असंगता), नीलवर्णत्व तथा शब्दत्व (ध्वनिपूर्णता)।

२. *महावायु* : संचार (चलनक्रिया), संचालन (अन्यगतिप्रयोजकता), स्पर्श, शोषण तथा धूम्रवर्णता।

३. *महातेज* : दाहकता, पाचकता, ऊष्णता, प्रकाशता, तथा रक्तवर्णता।

४. *महासलिल* : प्रवाह, आप्यायन (तृप्ति), द्रवता, रसता तथ श्वेतवर्णता।

५. *महापृथिवी* : स्थूलता, नानाऽऽकारता, कठिनता, गन्ध एवं पीतवर्णता।

इस प्रकार; उक्त पाँचों महाभूतों का समवेतरूप महासाकार पिण्ड कुल पच्चीस गुणों वाला हो जाता है। १.३७ के अनुसार; परब्रह्म का यह महाभूतात्मक-उपाधि से उपहित-पंचानन (शिव) कहलाता है। इस शिव से भैरव, भैरव से श्रीकण्ठ, श्रीकण्ठ से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रुद्र, रुद्र से विष्णु और विष्णु से ब्रह्मा आविर्भूत होते हैं। यही महाभूतात्मक महासाकार पिण्ड की शिवादि आठ मूर्तियाँ हैं; जो सृष्टि-स्थिति-संहार-निग्रह-अनुग्रह की निर्वाहक होतीं हैं। आगे (१.३८-४३ में) कथन है कि ब्रह्माजी के संकल्प से सर्वप्राणियों का नरनारीभेदयुक्त 'प्रकृतिपिण्ड' (पांचभौतिक स्थूलशरीर) उत्पन्न होता है। यद्यपि इसमें पृथिवी तत्त्व की प्रधानता होती है, तथापि इनमें पाँचों भूत अपने पाँच-पाँच गुणों के रूप में न्यूनाधिकत: विद्यमान रहते हैं। अत: प्रकृतिपिण्ड-स्थूलशरीर में अस्थि, मांस, त्वक्, नाडी एवं रोम-ये पृथिवी के; लार, मूत्र, वीर्य, रक्त एवं स्वेद-ये जल के; भूख, प्यास, निद्रा, कान्ति एवं आलस्य-ये तेज के; चलन, प्रवाह, फैलना, समेटना एवं निरोध-ये वायु के तथा राग, द्वेष, भय, लज्जा एवं मोह-ये आकाश के पाँच गुण हैं।

१.४४-४९ में वर्णन है कि इस स्थूलशरीर का नियामक अन्त:करण होता है; जिसके पुन: चार अवयव हैं : मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित्त। इन सभी के पुन: पाँच-पाँच गुण होते हैं; जिनमें संकल्प, विकल्प, मूर्च्छा, जडता एवं मनन-ये मन के; विवेक, वैराग्य, शान्ति, सन्तोष एवं क्षमा-ये बुद्धि के; अभिमान, इन्द्रियात्मबुद्धि, सुखबुद्धि, दु:खबुद्धि एवं ममता-ये अहंकार के तथा मति (इच्छा), धृति, स्मृति, त्याग एवं स्वीकार-ये चित्त के पाँच गुण हैं। वहीं; विमर्श (प्रमाणपूर्वक वस्तुनिरूपण), शीलन (गुणदोषविचार), धैर्य, चिन्तन एवं नि:स्पृहत्व (अनात्मविरति एवं आत्माभिमुखता)-ये पाँचों अन्त:करण-सामान्य के पाँच गुण हैं। इस प्रकार; ये अन्त:करण (सूक्ष्मशरीर) के पच्चीस धर्म हैं।

तदनन्तर (**१.५०-५५** में) कुलपंचक का उल्लिखित है। सत्त्व, रजस्, तमस्, काल एवं जीव–ये पाँच कुल हैं। दया, धर्म, क्रिया (सत्कर्म), भक्ति एवं श्रद्धा–ये सत्त्वगुण के; दान, भोग, शृंगार, वस्तुग्रहण एवं स्वार्थसंग्रह–ये रजोगुण के; तथा विवाद, कलह, शोक, वध (आघात) एवं वंचन (धोखाधड़ी)-ये तमोगुण के पाँच गुण (वृत्तियाँ) हैं। कलना (संख्यांकन), कल्पना, भ्रान्ति, प्रमाद एवं अनर्थ (अनिष्टभावना)-ये काल के पाँच गुण (वृत्तियाँ) हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय एवं तुर्यातीत (निर्विकल्पसमाधि)– ये जीव के पाँच गुण (अवस्था) हैं। वहीं; **१.५६-६१** में सूक्ष्मशरीरगत पाँच उपभोगसाधक व्यक्तियों (व्यवहारों) का उल्लेख है-इच्छा, क्रिया, माया, प्रकृति एवं वाक्। उन्माद, वासना, वांछा, चिन्ता एवं चेष्टा–ये इच्छा के; स्मरण, उद्योग, कार्य, निश्चय एवं स्वकुलाचार (कुलमर्यादा–ये क्रिया के; मद, मात्सर्य (ईर्ष्या), दम्भ, कृत्रिमता एवं असत्य-ये माया के; आशा (प्राप्त्याशा), तृष्णा (प्रबलप्राप्त्याशा), स्पृहा (प्राप्याभिलाषा), कांक्षा (प्राप्तसंरक्षणबुद्धि) एवं मिथ्या (अप्राप्याभिलाषा)-ये प्रकृति (स्वभाव) के; जबकि परा (मूलाधारगत), पश्यन्ती (नाभिगत), मध्यमा (हृदयगत), वैखरी (मुखगत) एवं मातृका (बीजमन्त्ररूपा)-ये वाक् के पाँच गुण (अवस्था) हैं।

तत्पश्चात् **१.६२-६७** में भगवान् ग्रन्थकार ने 'प्रत्यक्ष' (शरीरप्राप्ति) के पाँच करण (साधन) कहे हैं : कर्म, काम (वासना-संस्कार), चन्द्र, सूर्य एवं अग्नि। शुभ, अशुभ, यश, अपयश एवं अदृष्टफल-ये कर्म के; तथा रति, प्रीति, क्रीडा, कामना एवं आतुरता–ये काम (वासना) के पाँच गुण (वृत्तियाँ) हैं। उल्लोला, कल्लोलिनी, उच्चलन्ती, उन्मादिनी, तरंगिणी, शोषिणी, लम्पटा, प्रवृत्ति, लहरी, लोला, लेलिहाना, प्रसरन्ती, प्रवाहा, सौम्या, प्रसन्नता एवं प्लवन्ती-इन सोलह के अतिरिक्त निवृत्ति (अमृतकला) को मिलाकर चन्द्रमा की कुल सत्रह (१६/१) कलाएँ होतीं हैं। जबकि सूर्य की बारह कलाओं-तापिनी, ग्रासिका, उग्रा, आकुंचनी, शोषिणी, प्रबोधिनी, स्मरा, आकर्षिणी, तुष्टिवर्धिनी, ऊर्मीरेखा, किरणवती, प्रभावती-के साथ-साथ स्वप्रकाशता (निजकला) नामक तेरह (१२/१) कलाएँ मान्य हैं। ऐसे ही; दीपिका, राजिका, ज्वलिनी, विस्फुलिंगिनी, प्रचण्डा, पाचिका,

रौद्री, दाहिका, रागिणी एवं शिखावती–इन दस के अतिरिक्त अग्नि की ज्योति नामक ग्यारहवीं कला भी है।

तदनन्तर योगशिखोपनिषद् (५.२१–२२) में उल्लिखित नाडीक्रम का **१.६८** में अनुवाद हुआ है। शरीर के दस द्वारों में दस प्रमुख नाडियाँ (प्राणवाहिनियाँ) विद्यमान हैं : बाईं नासिका में इडा, दाईं नासिका में पिंगला, ब्रह्मदण्डमार्ग में सुषुम्ना, मुख में सरस्वती, बाएँ नेत्र में गान्धारी, दाहिने नेत्र में हस्तिजिह्विका, दोनों कानों में क्रमशः पूषा एवं अलम्बुषा, लिंग में कुहू तथा गुदा में शंखिनी। **१.६९** के अनुसार; स्थूलशरीर में दस वायु विद्यमान रहते हैं : १. प्राण (हृदयगत, श्वाससंचालक), २. अपान (गुदास्थित, प्राणायामोपयोगी), ३. समान (नाभिगत, जठराग्निदीपक), ४. व्यान (सम्पूर्णदेहगत, मलशोषक), ५. उदान (कण्ठगत, भाषणादिकारक), ६. नाग (सम्पूर्णशरीरगत, अंगसंचालक), ७. कूर्म (नेत्रोन्मीलक), ८. कृकल (क्षुधाकारक), ९. देवदत्त (जृम्भणकारक) तथा १०. धनंजय (नादोत्पादक)। वेदान्तियों ने इन दसों को दो प्रकार से वर्गीकृत किया है (देखें वेदान्तसार ७७–८६)। यहाँ उल्लेखनीय है कि प्राणवायु शरीर से निकलते हुए 'हम्' तथा पुनः शरीर में आते हुए 'सः' ध्वनि करने से 'हंस'–गायत्री का मोक्षदायक अजपाजप करता है (गोरक्षशतक ४२–४६)। इसका विज्ञान गुरुगम्य है।

प्रथमोपदेश के उपसंहार (**१.७०–७३**) में जीवात्मा के वातादि–त्रिदोषमय स्थूलशरीर का उत्पत्तिक्रम वर्णित है। स्त्री–पुरुष के ऋतुकालिक संयोग से नारी के गर्भ में उनके स्खलन (रजः एवं बिन्दु–वीर्य) का संयोग होता है; जो कि प्रथम दिन में कलल, प्रथम सप्ताह तक बुद्बुद, प्रथम पक्ष तक गोलाकार, प्रथम मास तक ठोस मांसपिण्ड, द्वितीय मास तक शिर तथा तृतीय मांस तक हाथ–पैर वाला हो जाता है। चौथे मास में उसके आँख, कान, नाक, मुख, लिंग एवं गुदा का आकार बन जाता है। पाँचवे मास में उसकी पीठ एवं पेट तथा छठे मास में उसके नख–केश–आदि का निर्माण होता है। सातवें मास में वह पूर्णतः चेतन हो जाता है तथा आठवें मास तक उसके सभी लक्षण पूर्ण हो जाते हैं। नवें मास में वह आत्मस्वरूप का ज्ञान रखता है; जब वह गर्भवासरूपी

दु:ख से मुक्ति हेतु प्रभु से प्रार्थना करता है। फलत: दसवें मास में वह माता के योनिद्वार से निकलकर इस मायामय संसार में आता है; जिसके स्पर्शमात्र से उसका आत्मस्वरूपविज्ञान तिरोहित हो जाता है। ध्यातव्य है कि गर्भाशय में पुरुष के स्खलन (वीर्य) की अधिकता से पुत्र तथा स्त्री के स्खलन (रज:) की अधिकता से कन्या सन्तान का जन्म होता है। जबकि दोनों के समानत: स्खलित होने पर नपुंसक सन्तान होती है। सहवास में स्त्री-पुरुष के चिन्ताग्रस्त रहने पर सन्तान का दुर्बल अथवा विकलांग होना तथा गर्भाशय में एकाधिक बार वीर्यस्खलन के द्वारा अनेक सन्तानों की उत्पत्ति होना सम्भावित है। गर्भोत्थित पिण्ड में धातुओं का एक समीकरण-विशेष रहता है; जो कि मूलग्रन्थ (१.७३) में ही द्रष्टव्य है।

तदुपरान्त **३९** वचनों वाले **'पिण्डविचार'** नामक **द्वितीय उपदेश** में भगवान् ग्रन्थकार बतलाते हैं। **२.१-९** में शरीरगत नौ चक्रों का उल्लेख है :

१. *मूलाधार/ब्रह्म* : गुदास्थान में रक्तवर्णिम चतुर्दल कमल, अग्नि-आकार वाला मूलकन्द, कामरूपपीठ, सर्वाभीष्टसाधक।

२. *स्वाधिष्ठान* : कमर के नीचे स्थित प्रवालशिवलिंग-जैसा षड्दलकमल, उड्ड्यानपीठ, सर्वजनाकर्षक।

३. *मणिपूर* : नाभि में सूर्य-जैसी स्वर्णकान्ति वाला दशदल कमल-सर्पवत् कुण्डलाकार, सर्वसिद्धिप्रदायक।

४. *अनाहत* : हृदय एवं सुषुम्ना के योगस्थान में अधोमुखी अष्टदल कमल में विद्यमान लिंगाकार ज्योति:, हंसकलाशक्ति, सर्वेन्द्रिय-प्रशामक।

५. *विशुद्धि* : कण्ठदेश (इडा-पिंगला के मध्य) में स्थित अनाहतकला, संकल्पशक्तिवर्धक।

६. *तालु* : मुख में विद्यमान घण्टिका में स्थित, शून्य-अलख निरंजन परब्रह्म का संस्थान, शंखिनीविवर, चित्तलयकारक।

७. *आज्ञा* : भ्रूमध्यस्थित, अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला दीपशिखाकार द्विदल-कमल, ज्ञाननेत्र, वाक्सिद्धिदायक।

८. *निर्वाण/सहस्रार* : शिर:कपाल/ब्रह्मरन्ध्र में स्थित धूमशिखाकार सहस्रदल-कमल, ब्रह्मा का आसन, जालन्धरपीठ, मोक्षदायक।

९. *आकाश* : ऊर्ध्वमुख षोडशदल कमल, सच्चिदानन्द निराकारशक्ति-परमशून्य का संस्थान, पूर्णागिरिपीठ, संसारभयनाशक।

भगवान् ग्रन्थकार द्वारा उपर्युक्त शरीरगत नौ चक्र न्यूनाधिक भेदों के साथ विवेकमार्त्तण्ड, शिवसंहिता, गोरक्षशतक, योगशिखोपनिषद्, मच्छेन्द्रगोरखबोध आदि हठयोग-ग्रन्थों में भी प्रतिपादित हैं। ध्यान रहे; गुरुपरम्परा-चित्तसंस्कार-आदि के भेद से सभी साधकों को अपने साधनाकाल में उपर्युक्त चक्रों का प्रायश: भिन्नतया दर्शन होता है। अत: सभी को ग्रन्थकारोक्त रीति से ही अनुभव हो, ऐसी कोई राजाज्ञा नहीं है। तदुपरान्त **२.१०-२५** में अपने संचिन्तन द्वारा विभिन्न फल देने वाले शरीरगत सोलह आधारों (अर्थात् ध्यान हेतु प्रयुक्त आलम्बनों) का वर्णन प्राप्त है। तदनुसार : (१) पादांगुष्ठ में तन्निष्ठ तेजोरूपी आधार पर ध्यान करने से नेत्रज्योति की स्थिरता; (२) बाएँ पैर की एड़ी द्वारा गुदा को दबाते हुए मूलाधाररूपी आधार में ध्यान करने से शरीर में अग्निवत् कान्ति; (३) गुदाधाररूपी आधार के संकोच एवं विकास द्वारा अपानवायु की स्थिरता; (४) व्रजौली द्वारा लिंगरूपी आधार के संकोच से मन-प्राण-वीर्य का परमपद में ऊर्ध्वगमन; (५) लिंग एवं नाभिमूलों के मध्य उड्याणरूपी आधार के नियन्त्रण से मलमूत्र की अल्पता; (६) नाभिरूपी आधार में एकाग्रतापूर्वक ओंकारोच्चारण से नादलय; (७) हृदयाधाररूपी आधार में प्राणवायु के निरोध से अनाहतचक्र का विकास; (८) कण्ठमूल को चिबुक से निरुद्ध करके कण्ठरूपी आधार में ध्यान करने से सूर्यचन्द्र-नाडियों में वायु की स्थिरता; (९) मुखस्थित घण्टिकारूपी आधार को जिह्वाग्र से छूते हुए अमृतधारा का स्राव; (१०) तालुरूपी आधार के छिद्र में जीभ को लम्बा एवं उल्टा करके डालने से जडसमाधि--काष्ठवत् निश्चलता; (११) जिह्वामूलरूपी आधार में जिह्वाग्र को स्थापित करने से सर्वरोगनाश; (१२) भ्रूमध्यरूपी आधार में चन्द्रमण्डल के ध्यान से देह में शीतलता,

पुष्टि एवं प्रसन्नता की प्रसक्ति; (१३) नासिकाग्ररूपी आधार में एकाग्रदृष्टि रखने से मन:स्थिरता; (१४) नासिकामूलरूपी आधार में दृष्टि को स्थिर करने से छ: मास में ज्योतिर्दर्शन; (१५) ललाटरूपी आधार में ज्योति:पुंज की धारणा से दिव्य तेजस्विता; (१६) ब्रह्मरन्ध्ररूपी आधार में गुरुचरणकमलों के ध्यान द्वारा आकाशवत् पूर्णता ... का लाभ होता है।

उक्त आधारोपासनाएँ अत्यन्त दुष्कर एवं गुरुगम्य हैं। विना गुरुमार्गदर्शन के इनका अनुष्ठान क्लेशकारी हो सकता है। अत: इस मार्ग के पथिक साधकों को योग्य गुरुदेव का समाश्रयण करना चाहिए। पुन: ध्यान रहे; शिवसंहिता, योगकुण्डल्युपनिषद्, गोरक्षशतक, हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता आदि ग्रन्थों का उपर्युक्त प्रतिपादन से कुछ मतभेद सम्भव है। किन्तु इसमें सम्प्रदाय ही प्रमाण हैं; व्यक्तिगत विचार नहीं।

२.२६-२९ में लक्ष्यत्रय तथा **२.३०-३१** में व्योमपंचक का उल्लेख है। उपर्युक्त आधार तो कामना-विशेष हेतु ध्येय बनते हैं, किन्तु अपने मन को स्थिर करने के इच्छुक साधकों के लिए तीन लक्ष्य (ध्येय) उपदिष्ट हैं : अन्त:, बहि: और मध्यम।

(१) 'अन्तर्लक्ष्य' (शरीरगत लक्ष्य) में साधक मूलाधार से ब्रह्मरन्ध तक फैली श्वेत ब्रह्मनाडी (मेरुदण्डवर्ती सुषुम्ना) में विचरण करने वाली कोटिसौदामिनीप्रभा कुण्डलिनीशक्ति को अपना ध्येय बनाता है। अथवा सहस्रार के ऊपर गोल्लाटक्षेत्र में अथवा मेरुदण्ड के समक्ष एवं ग्रीवा से ऊपर रिक्तस्थान-भ्रमरगुफा में ज्योति:पुंज की भावना करता है। या फिर वह दोनों कर्णविवरों को तर्जनियों से बंदकर अपने शिर में नादश्रवण करता है अथवा अपने बन्द नेत्रों में नीलज्योतिर्मय पुतलियों वाले आकार की भावना करता है। ये ही उसके अन्तर्लक्ष्य कहे जाते हैं।

(२) नासिका से दो अंगुल आगे लाल तेज, दस अंगुल आगे श्वेत जल, बारह अंगुल आगे पीली पृथिवी की अथवा साक्षात् आकाश में ज्योति:पुंज का ध्यान करने से चित्तशुद्धि एवं मुक्ति को प्राप्त करता है। ये सभी उसके 'बहिर्लक्ष्य' हो सकते हैं।

(३) किसी वास्तविक या काल्पनिक वर्ण या आकार पर ध्यान केन्द्रित करने हेतु उपयुक्त लक्ष्य 'मध्यमलक्ष्य' कहलाता है।

इन लक्ष्यों के प्रयोग से ध्यान में सुगमता आती है एवं साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। आकाशवत् व्यापक आत्मा को उपासना हेतु सुलभ बनाने के लिए पाँच प्रकार के आकाशों की कल्पना की गई है; जिनमें आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति सम्भव है। वे हैं : १. आकाश (अत्यन्त निर्मल), २. पराकाश (अत्यन्त अन्धकारमय), ३. महाकाश (शरीरगत, प्रलयाग्निवत्), ४. तत्त्वाकाश (हृदयगत रिक्तस्थान, जीवात्मा का निवास) तथा ५. सूर्याकाश (कोटिसूर्यसमप्रभ)। मन को आकाश में एकाग्र करने से व्यष्टिचेतना का शोधन होता है तथा वह आकाशवत् व्यापक हो जाती है।

अब तक ग्रन्थकार भगवान् ने बहुशः ध्यान-धारणा का संकेत किया, किन्तु **२.३२-३९** में वे अष्टांगयोग की समाख्या करते हैं। यद्यपि उच्चस्थिति के नाथयोगियों ने षडंगयोग को स्वीकार किया है। स्वयं ग्रन्थकार अन्यत्र षडंग योग के पक्षधर हैं : *'आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्'* (गोरक्षशतक)। तथापि पातंजलमत का अत्यधिक प्रचार होने से प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिए भगवान् ग्रन्थकार यहाँ अष्टांगयोग का संग्रह करते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि ही अष्टांग योग के रूप में प्रसिद्ध हैं।

यद्यपि महर्षि पतंजलि ने पाँच यमों को माना है तथा शाण्डिल्योपनिषद् दस यमों की पक्षधर है। किन्तु यहाँ भगवान् ग्रन्थकार मन-इन्द्रियों के निग्रह तथा द्वन्द्वसहिष्णुता को 'यम' कहते हैं। इसी प्रकार; 'नियम' का अर्थ है : मनोनिग्रह, एकान्तवास, असंगता, उदासीनता, यथाप्राप्तिसन्तोष एवं गुरुचरणाश्रय। हालांकि उच्च ग्रन्थों में ग्रन्थकार ने प्रकारान्तर-विशदता से नियम को प्रतिपादित किया है। चेतना स्वरूपसंस्थिति ही 'आसन' है; जो कि यथाविधि स्वस्तिकासन, पद्मासन एवं सिद्धासन से सुगम है। शरीरगत प्राणप्रवाह को स्थिर करने की प्रक्रिया 'प्राणायाम' कहलाती है; जिसके चार भेद हैं : रेचक, पूरक, कुम्भक एवं संघटकरण। विषयों से

उनकी ग्राहक इन्द्रियों को बलात् खींच लेना 'प्रत्याहार' कहलाता है। गीता ६.३० के अनुरूप; सर्वत्र (बाहर-भीतर) अद्वितीय आत्मस्वरूप की बौद्धिक भावना को 'धारणा' कहते हैं। हालांकि सभी पदार्थों (जड-चेतन) में ऐसी सहज अनुभूति 'ध्यान' कहलाती है। भगवान् ग्रन्थकार के शब्दों में : *'कश्चन परमाद्वैतस्य भावः स एवात्मेति यथा यद्यत्स्फुरति, तत्तत्स्वरूपमेवेति भावयेत्सर्वभूतेषु समदृष्टिश्चेति ध्यानलक्षणम्'* (२.३८)। वहीं; सभी तत्त्वों की समावस्था (अभेदरूपता, आत्मस्वरूप में विद्यमानता) को 'समाधि' कहते हैं। यही अन्यत्र 'राजयोग' नाम से प्रसिद्ध है। इस विवरण को देखकर पाठकों को आपाततः लग सकता है कि पातंजल एवं नाथ मतों के अष्टांगयोग कुत्रचित् भिन्न हैं। किन्तु पारम्परिक विधा से सभी ग्रन्थों का समन्वय एवं प्रतीयमान विरोध का परिहार शक्य है।

यहाँ तक हुए पिण्डविचार का फल बतलाने के लिए अब मात्र **१३** वचनों वाला **'पिण्डसंवित्ति'** नामक **तृतीय उपदेश** प्रवृत्त होता है; जो कि *'यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे'* के सिद्धान्त का पोषक है। साधक के पिण्ड (शरीर) में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विद्यमान है। अतः **३.१** में यह प्रतिज्ञा है कि जो पिण्ड को जान गया, वह पिण्डसंवित्ति (अर्थात् व्यष्टिसमष्टि-पिण्डज्ञानी) हो गया। श्रीमद्भागवत (२.१.२४-३७) में विराट्पुरुष-परमात्मा का वर्णन है। योगसाधना द्वारा उससे एकात्मा का अनुभव कर चुका साधक अपने पिण्ड में उसी विराट्पुरुष के तुल्य सम्पूर्ण जगत्प्रपंच (इक्कीस ब्रह्माण्ड स्थानों) का अनुभव करने लगता है। इसलिए (**३.२-५** के अनुसार) पिण्डसंवित्ति को अपने पादमूल में ब्रह्माण्डधारी कूर्म, पादांगुष्ठ में पाताल, अंगुष्ठाग्र में तलातल, पादपृष्ठ में रसातल, गुल्फ (टखना) में सुतल, जंघा में वितल तथा जानु में अतल का दर्शन होता है। इन सातों पातालों के अधिष्ठातृदेव भगवान् रुद्र हैं; जो पिण्ड में क्रोधभाव के रूप में भी विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार; गुदास्थान में भूर्लोक, लिंगस्थान में भुवर्लोक तथा नाभि में स्वर्गलोक हैं। इन तीनों के अधिष्ठाता इन्द्र हैं; जो कि शरीर की सभी इन्द्रियों के भी नियामक हैं। तदुपरान्त मेरुदण्ड के मूल में महर्लोक, छिद्र में जनःलोक, नाल में

तप:लोक तथा मूलाधारकमल में सत्यलोक प्रतिष्ठित हैं। इन चारों के अधिष्ठाता तत्तद् लोकों के अधिपति ब्रह्मादि देवता हैं। वहीं; नाभिक्षेत्र में विष्णुलोक है, जहाँ रक्षण-पोषण-परायण विष्णु का वास है। जबकि हृदयक्षेत्रीय रुद्रलोक में सर्वसंहारक भगवान् रुद्र विराजमान हैं। उससे थोड़ा ऊपर-वक्ष:स्थल में ईश्वलोक है; जहाँ के निवासी तृप्तिदेवता ईश्वर हैं। ऐसे ही कण्ठ में नीलकण्ठ का, तालुद्वार में शिव का, जिह्वामूल में भैरव का तथा ललाट में आनन्दमय अहंरूपी अनादिदेव का अनुभव होता है। शृंगाट (भृकुटी से कुछ ऊपर) में कुललोक है; जहाँ शक्तियुक्त आनन्दस्वरूप भगवान् कुलेश्वर स्थित हैं। शंखनाडी से ऊपर नलिनीस्थान में अकुलेशलोक है, वहाँ सर्वाभिमानशून्य निरंजन परमशिव का साक्षात्कार होता है। ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्मलोक है, जबकि सहस्रार के ऊपर-शक्तिलोक में कर्तृत्वास्तित्वरूपिणी सर्वनियन्त्री पराशक्ति विराजमान है।

३.६ में साधक के सदाचार में ब्राह्मणत्व का, शौर्य में क्षत्रियत्व का, व्यवसाय में वैश्यत्व का तथा सेवाभाव में शूद्रत्व का अनुसन्धान करना लिखा है। किन्तु यहाँ भ्रमित नहीं होना चाहिए कि भगवान् ग्रन्थकार एक ही शरीर में चारों वर्णों को स्वीकार कर रहे हैं। वस्तुत: यहाँ *'वेदा अवेदा'* (बृहदारण्यकोपनिषद् ४.३.२२) इत्यादि का तात्पर्य अन्तर्निहित है। योगसाधना हेतु अपेक्षित अधिकारसम्पत्ति वेदशास्त्रोक्त वर्णाश्रमधर्म के पालन से ही आती है : *'योगिन: कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'* (गीता ५.११)। इसलिए **३.६** में वर्णित स्थिति को मात्र पिण्डसंवित्तियों के लिए ही समझना चाहिए; न कि हम-जैसे अज्ञानियों के लिए। कारण कि ज्ञानियों-पिण्डसंवित्तियों को अपने पिण्ड में समष्टि ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व-आदि का साक्षात्कार होने लगता है, किन्तु हम अज्ञानियों में तो व्यष्टि ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व-आदि बुद्धि बनी हुई है; जो कि साधनामूलक तत्त्वसाक्षात्कार के बल पर ही निवृत्त हो सकती है।

तत्पश्चात् **३.७-१३** में शेष चराचर सृष्टि का इस पिण्ड में अवस्थान प्रदर्शित है। तदनुसार; मज्जा में जम्बु, अस्थि में शाक, शिराओं

में सूक्ष्म, त्वचा में क्रौंच, रोमों में गोमय, नखों में श्वेत तथा मांस में प्लक्ष-ये सातों द्वीप क्रमशः विद्यमान हैं। इसी प्रकार; मूत्र में क्षार, लार में क्षीर, कफ में दधि, मज्जा में घृत, वसा में मधु, रक्त में इक्षु तथा वीर्य में अमृत-ये सातों समुद्र क्रमशः विद्यमान हैं। गुदा में भारत, उपस्थ में काश्मीर, मुख में कर्पर, दाहिने नासिकारन्ध्र में श्री, बाएँ नासिकारन्ध्र में शंख, बाएँ नेत्र में एकपाद, दाहिने नेत्र में गान्धार, बाएँ कर्णच्छिद्र में कैवर्त्त तथा दाहिने कर्णच्छिद्र में महामेरु-इस प्रकार शरीर के नव द्वारों में जम्बुद्वीप के उपर्युक्त नौ खण्ड अवस्थित हैं। ऐसे ही; मेरुदण्ड में सुमेरु, मस्तक में कैलास, पीठ में हिमालय, बाएँ कंधे में मलय, दाहिने कंधे में मन्दर, बाएँ कर्ण में मैनाक, दाहिने कर्ण में विन्ध्य तथा ललाट में श्रीशैल-ये अष्टकुल पर्वत क्रमशः स्थित हैं। वहीं पिण्ड की अंगुलियों में सभी छोटे-बड़े उपपर्वत विद्यमान हैं। इसी प्रकार; इडा नाडी में गंगा, पिंगला में यमुना तथा सुषुम्ना में सरस्वती अवस्थित हैं। जबकि पीनसा-चन्द्रभागा-पिपासा-शतरुद्रा-श्रीरात्रि-नर्मदा आदि प्रमुख नदियाँ पिण्डगत प्रधान नाडियों में प्रवाहित हैं। अवशिष्ट छोटी-बड़ी नदियों की स्थिति पिण्डगत ७२,००० नाडियों में समझनी चाहिए।

सत्ताईस नक्षत्र, नौ ग्रह, बारह राशियाँ और पन्त्रह तिथियाँ पिण्डगत मांसपेशियों में है। अस्थियों अथवा भूख-प्यास-आदि छः ऊर्मियों में तारामण्डल तथा रोमच्छिद्रों में तैंत्तीस कोटि देवता एवं अनेक पीठ-उपपीठ विराजमान हैं। दानव-यक्ष-राक्षस-पिशाच-आदि की समष्टि प्रजा पिण्डगत अस्थिसन्धियों (जोड़ों) में स्थित है। पेट के बालों में अनेक पर्वत तथा पेट के भीतर किन्नर-अप्सरा-गन्धर्व-आदि विद्यमान हैं। उग्र मातृकाएँ पिण्ड के वायुवेग में तथा मेघ उसके अश्रुपात में सन्निहित हैं। असंख्य सिद्धगण पिण्डगत बुद्धि के प्रकाशक हैं, सूर्य-चन्द्रमा इसके दोनों नेत्र हैं, वृक्ष-लता-आदि जंघा के रोम हैं तथा कृमि-कीट-पतंग-आदि इसकी विष्ठारूप हैं। ध्यातव्य है कि प्रत्येक पिण्डज्ञानी उपर्युक्त स्थानों पर अपनी सूक्ष्मदृष्टि को केन्द्रित करते ही तत्सम्बन्धी लोक या प्रजा का साक्षात्कार कर सकता है। वह जो जानना चाहता है, उसको तत्क्षण जान लेता है। यही उसका सर्वज्ञत्व है। सुख ही उसका स्वर्ग है, दुःख ही

नरक है, सकाम कर्म ही बन्धन है तथा निष्काम कर्म ही मुक्ति है। जीवन्मुक्तिलक्षण आत्मप्रबोध ही पिण्डसंवित्ति की नित्यजागृति है; क्योंकि उसको अज्ञानरूपा निद्रा तो प्राप्त ही नहीं होती। विश्वरूप अखण्ड परमात्मा उपाधिभेद से आत्मा के रूप में सर्वदेहव्याप्त है।

तत्पश्चात् **२९** वचनों वाले **'पिण्डाधार'** नामक **चतुर्थ उपदेश** के **४.१** में भगवान् ग्रन्थकार बतलाते हैं कि पूर्वोक्त पिण्ड-प्रपंच की आधार निजाशक्ति (शिवा) है; जो अपने अधिष्ठानभूत परब्रह्म (शिव) में अध्यारोपित है : *'जलबुद्बुदवन्न्यायादेकाकारः परः शिवः'* (४.११), *'शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेराभ्यन्तरः शिवः। अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिक-योरिव'* (४.२६) इत्यादि। यही भवानी समस्त कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सत्ता, चित्ता, प्रियता आदि का आधार है तथा स्वयं को दिक्कालाश्रित जगत् के रूप में अभिव्यक्त करती है। यह स्वरूपतः कूटस्थ, चैतन्य, परशिव से अभिन्न, परासंवित्, अनुभवगम्या, सर्वोपादानकारणरूपा, अविनाशिनी, नित्यप्रबुद्ध तथा परमस्वतन्त्र है; न कि सांख्याभिमत प्रकृति के समान जड एवं पुरुषाधीन। हालांकि इसका कार्य भी सांख्याभिमत प्रकृति के अनुरूप परब्रह्म की प्रसन्नतामात्र है, किन्तु तदर्थ यह अपने सान्निध्यमात्र से सत्तालाभ करवाने वाले-परब्रह्म के अधीन (विवश) नहीं; अपितु पतिपरायणा पति के तुल्य स्वाभाविक परब्रह्मानुकूला होने से है। इसके संकोच या विकास ही जगत्प्रपंच की प्रलय या उत्पत्ति के हेतु हैं, जबकि समता में परब्रह्म से इसका तादात्म्य (सामरस्य, अभेद) सिद्ध है। **४.२-११** के अनुसार; इसके कुल एवं अकुल नामक दो भेद प्रसिद्ध हैं; जिनमें परा, सत्ता, अहंता, स्फुरता एवं कला--इन पाँच रूपों से यह विश्वाधार 'कुल' (सृष्टिभावापन्न, नाम-रूप द्वारा व्यक्त) शक्ति अभिव्यक्त होती है :

१. *परा* : सर्ववस्तुनिष्ठ चेतनप्रकाशरूप है; जिसके कारण सभी पदार्थ भासित होते हैं।

२. *सत्ता* : सर्वभेदशून्य स्वप्रकाश अद्वैतरूप है; जो सभी के अस्तित्व की बोधक है।

३. *अहंता* : अनाद्यनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप है; जो शिव के साथ अपने अभेद को दर्शाती है।

४. *स्फुरता* : मनोवचनातीत अद्वैतावस्था की अभिव्यंजिका होती है।

५. *कला* : आत्मा की नित्यता, निरंजनता, बोधस्वरूपतआ, स्वयंप्रकाशता तथा अनुभवमात्रैकगोचरता को प्रकाशित करने वाली शक्ति है।

जबकि प्रलयकाल में वह कुलशक्ति सर्वोपाधिविवर्जित अखण्ड, अद्वय, अनन्य, कार्यकारणातीत, नामरूपातीत 'अकुल' में लीन हो जाती है। चाहे कुल हो या अकुल-दोनों रूपों में यह परब्रह्म में ही विद्यमान है तथा, शक्तिशक्तिमान् में अभेद के अनुरूप, परब्रह्म से इसका सामरस्य (अभेद) भी सिद्ध है। **४.१२-१३** के अनुसार; अपनी निजाशक्तिरूप उपाधि के द्वारा ही परब्रह्म आदिनाथ जगत् बनते भी हैं और बनाते भी हैं। अपनी उपाधि-शक्ति की प्रधानता से उनमें जगत् की अभिन्नोपादान-कारणरूपता आती है, जबकि अपने स्वरूप की प्रधानता से वे निजव्यापक, चिद्रूप, अखण्डस्वरूप एवं पूर्ण हैं। **४.१४-१६** के अनुसार; वही शक्ति सिद्धों के देहपिण्ड में कुण्डलिनीरूप से विद्यमान रहती है तथा प्रबुद्ध एवं अप्रबुद्ध-इन दो भेदों वाली है। यद्यपि स्वभावतः यह चेतन है, तथापि साधना के द्वारा मूलाधार में सुप्त इस शक्ति को जगाया जाता है। तब यह मूलाधार से ब्रह्मरन्ध तक मेरुदण्ड में गमन करते हुए योगियों के विकारों को दूर करती है। कुण्डलिनी जीवनीशक्ति है, इसकी साधना से योगी हो सहज आत्मबोध (ब्रह्मात्मैक्यबोध) हो जाता है। **४.१७-२९** में वर्णन है कि स्थान एवं रूप के भेद से वह एक कुण्डलिनीशक्ति अधः, मध्य एवं ऊर्ध्व-इन तीन संज्ञाओं को प्राप्त करती है :

१. *अधःशक्ति* : जिसका सम्बन्ध बाह्य जगत् से है। बहिर्मुखी लोगों के लिए यह सुप्त रहती है, किन्तु इसके यत्किंचित् अनुग्रह से हमारी इन्द्रियों में बाह्य विषयों के भोग का सामर्थ्य आता है। यदि यह शक्ति संकुचित हो जाए, तो इन्द्रियाँ अपने कार्यों में प्रवृत्त नहीं हो सकतीं।

२. *मध्यशक्ति* : इसके जागरणमात्र से साधक स्वरूपावस्थित हो जाता है। योगीजन गुरुपरम्पराप्राप्त साधनों के बल पर इसको जाग्रत्

करके परमानन्द की प्राप्ति करते हैं। जैसे समष्टि में निजाशक्ति के संकोच एवं विकास जगद्व्यापार के प्रयोजक होते हैं, ऐसे ही व्यष्टि में कुण्डलिनीशक्ति के संकोच एवं विकास पर साधक के ब्रह्मात्मज्ञान एवं आनन्दानुभव निर्भर करता है। हृदयगत मध्यशक्ति जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप है। जीव अविद्यावश संसारबन्धन में बन्ध गया है, किन्तु इसी मध्यशक्ति के बल पर वह स्वरूपावस्थिति का लाभ कर सकता है।

३. *ऊर्ध्वशक्ति* : जब साधक की कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत् होकर उसको परमपदप्राप्ति (अर्थात् उसकी परब्रह्मरूपता का निश्चय) करवा देती है, तब वह ऊर्ध्वशक्ति कहलाती है।

किन्तु इस पूरे विवेचन को देखने के पश्चात् पुनः यह स्मरण करना चाहिए कि ग्रन्थारम्भ में निजाशक्ति को भी परब्रह्म में ही अध्यारोपित बतलाया गया था। अतः सर्वाधार निजाशक्ति/कुण्डलिनीशक्ति का भी अधिष्ठान वह परब्रह्म ही है। एतावता वह 'पिण्डाधार' ही प्रत्येक साधक के लिए ज्ञेय है। मानो यह उद्घोषणा पूर्वकृत 'अध्यारोप' का 'अपवाद' करके निष्प्रपंच आत्मा का प्रपंचन कर रही है। पद (परब्रह्म) में अध्यारोपित-निजाशक्ति से परिणमित इस पिण्ड में परमार्थतः अभेद (सामरस्य) है। वस्तुतः यह *'तत्त्वमसि'* की लाक्षणिक व्याख्या है।

'पद' अर्थात् तत्/परमात्मा/समष्टि तथा 'पिण्ड' अर्थात् त्वम्/जीवात्मा/व्यष्टि के सामरस्य/एकत्व का प्रतिपादन ही यहाँ अभीष्ट है; जिसके लिए **८४** वचनों वाला **'पिण्डपदसामरस्य'** नामक **पाँचवें उपदेश** का उपक्रम होता है। इसमें साधना-पद्धति का विशद अनुशीलन हुआ है। **५.१** के अनुसार; सुप्त कुण्डलिनी को गुरुप्रदत्त साधना द्वारा जाग्रत् करके सहस्रार में स्थापित करके परमपद (परब्रह्म) से ऐक्य का अनुसन्धान करने से साधक को अपनी शिवरूपता का बोध प्राप्त हो जाता है। ऐसा अनुसन्धान क्यों? तो **५.२-४** में *'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम'* (गीता १०.१५) इत्यादि वचनों के अनुरूप भगवान् ग्रन्थकार यह निर्णय देते हैं कि परमपद स्वसंवेद्य (अर्थात् स्वयं अपने द्वारा ही जानने योग्य) तथा अत्यन्तभासाभासक (स्वयंप्रकाश) है। वह

मन-बुद्धि-वाणी से परे है, विद्वानों के पाण्डित्यपूर्ण प्रतिपादन का विषय भी नहीं बनता : *'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्'* (केनोपनिषद् १.३)। इसलिए *'तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसंवेद्यं परमपदम्'* अर्थात् भगवान् शिव (आदिनाथ) ने उस परमपद को स्वसंवेद्य कहा है। अतः (**५.५-७** के अनुसार) तदर्थ योग्यता को प्राप्त करने के लिए पहले गुरुचरणाश्रय लेना चाहिए। योगमार्ग ही सन्मार्ग है, तदतिरिक्त श्रेयोमार्ग नहीं है; और उस योगमार्ग में लगाने वाले गुरु ही सन्मार्गदर्शक हैं। ऐसे गुरुदेव की कृपा से मनोनिग्रहादि योगसाधनाओं द्वारा स्वरूपबोध का अधिकार प्राप्त करके व्यष्टिपिण्ड से परपिण्ड के तथा परपिण्ड से परमशिव के सामरस्य (तात्त्विक अभेद; निरुत्थानानुभव) का अनुभव करना चाहिए।

५.८-१२ में 'निरुत्थानानुभव' का विशेषतः वर्णन हुआ है। वस्तुतः स्वरूपानुसन्धान करने वाले योगी में स्व-पर-पिण्ड में अभेद-भावना के बल पर निजावेश (आत्माभिव्यक्ति) होती है, जिसके परिणामस्वरूप निरुत्थान (सामरस्य) का उदय होता है। इस अनुभव के बलपर स्व-पर-भेदों की निवृत्ति हो जाती है तथा अखण्ड परमात्मस्वरूप परमपद प्रत्यक्ष प्रस्फुटित हो जाता है। किन्तु उक्त समग्र साधना का मूल गुरुकृपा ही है; जिसकी प्राप्ति होने पर स्वपिण्ड एवं परपिण्ड में एकात्मरूपता तथा परपिण्ड की अपने मूलाधार-सच्चिदानन्द परब्रह्म से अभिन्नता का अनुभव होता है। इस अनुभव के कारण योगियों का पिण्ड (शरीर) महाप्रकाशपुंज एवं सच्चिदानन्द का रूप हो जाता है और वे लोग अपने उस चिन्मयानन्दविग्रह से चिरकाल तक अजर-अमर रह सकते हैं। उक्त अनुभव के लिए अपेक्षित आचार-सम्बन्धी इतिकर्तव्यताओं का विवरण **५.१३-१९** में संकलित है। तदनुसार साधक को नित्यप्रति हाथ में शंख, कानों में मुद्रा, प्राणायाम-आसनों का अभ्यास, एकान्तवास, गुरुदीक्षानुरूप जप-आदि, उपासना-सम्बन्धी विघ्नों के निवारणार्थ भैरवोपासना, भस्मत्रिपुण्ड्र-अंगवस्त्र-कम्बल-कौपीन-पादुका-आदि का धारण, गुरुवन्दन इत्यादि करना चाहिए। यद्यपि उक्तविध वेषधारणमात्र से परमार्थलाभ नहीं हो सकता और उक्त सभी का सूक्ष्म (सांकेतिक) अर्थ भी है, तथापि

साधकों को स्थूलरूप में उक्त सभी को धारण करना चाहिए; ताकि लोकसामान्य इस वेष के माहात्म्य से परिचित हो सके : *'परं पदं न वेषेण प्राप्यते परमार्थतः। देहमूलं हि वेषः स्याल्लोकप्रत्ययहेतुकः'* (५.१९)। इस सम्प्रदायप्राप्त उपासना-पद्धति एवं सदाचार के द्वारा धीरे-धीरे सिद्धियाँ प्राप्त होने लगतीं हैं; जिनमें योग्य साधकों को नहीं फंसना चाहिए।

५.२०-४५ में 'योगमार्ग' की परिभाषा, गुरु की महिमा, गुरुवंश/गुरुपरम्परा के भेद इत्यादि के सम्बन्ध में प्रतिपादित है कि शास्त्रोक्त स्वधर्म का निष्काम परिपालन ही योगमार्ग है; जिससे श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है। इस निष्काम कर्मानुष्ठान से परमपदप्राप्ति की भूमिका बनती है। अतः स्वधर्मपालन द्वारा अपने पिण्ड को सतत सिद्ध करना चाहिए; ताकि साधना में अभ्युदय हो, सहजज्ञान (स्वपरपिण्डाभेदज्ञान) का उदय हो तथा साधक को अपनी असंगता-परमात्मरूपता-व्यापकता का अनुभव हो। यहाँ उसको क्रमशः संयम (मन-इन्द्रियों को अनात्मा से हटाकर आत्मा में लगना), सोपाय (सत्स्वरूपावस्थिति) और अद्वैत-परमपद की प्राप्ति होती है। गुरुप्रदत्त साधनाओं के बलपर धीरे-धीरे आध्यात्मिक उत्कर्ष होता है और साधक लगभग बारह वर्षों तक दृढ़ साधना के द्वारा पूर्णनिर्मलता का लाभ करता है। किन्तु पुनः ग्रन्थकार स्मरण करवाते हैं कि उक्त साधना-सदाचार भी तभी सफल होते हैं, जब साधक पर गुरुकृपा होती है। अतः सतत गुरुसेवा करनी चाहिए : *'असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सद्गुरोः करुणां विना'* (५.३५)।

आगे (**५.४६-५५** में) सिद्धमत में पाँच प्रकार की विशिष्ट परम्पराओं का उल्लेख हुआ है : आईसन्तान, विलेश्वरसन्तान, विभूतिसन्तान, नाथसन्तान एवं योगीश्वरसन्तान। जीवात्मा की शिवरूपता का ज्ञान ही उक्त सभी को अभीष्ट है। दुर्भाग्यवश इनमें अनेक आत्मविमुख लोग भी दीक्षित हो जाते हैं, जो धनसंग्रह-वेशधारण-लोकप्रतिष्ठा-परनिन्दा-आदि दम्भपूर्ण आचरणों में सीमित तथा राग-द्वेष से प्रमत्त रहते हैं। पीछे (१.५५ में) जो स्थूलादि पाँच अवस्थाएँ कही गईं हैं, पूर्वोक्त पाँचों गुरुपरम्पराओं में से किसी एक में भी दीक्षित हुआ योगी (साधक) उन स्थूलादि

अवस्थाओं का विज्ञाता होने पर योगीश्वरेश्वर-सिद्धपुरुष बन जाता है। सम्प्रदाय में साधक की अधोलिखित सात भूमिकाएँ मान्य हैं :

१. *शुभेच्छा* : नित्यानित्यवस्तुविवेक और तीव मोक्षाभिलाषा।

२. *विचारणा* : गुरु से मन्त्रदीक्षा एवं उपनिषद्-योगशास्त्र-आदि के ज्ञान की प्राप्ति।

३. *तनुमानसा* : आसन, प्राणायाम तथा निदिध्यासन (अर्थात् गुरुप्रदत्त विद्या का जीवन में अनुभव)।

४. *सत्त्वापत्ति* : समस्त जगत् में आत्मदर्शन का अभ्यास।

५. *असंसक्ति* : जगत्प्रपंच में अनासक्ति एवं अद्वैतस्वरूप में स्थिति।

६. *पदार्थाभाविनी* : स्वरूपनिष्ठ आनन्द की प्राप्ति।

७. *तुर्यगा* : कैवल्यमोक्ष।

सातवीं भूमिका में पहुँच चुका साधक जीवन्मुक्त हो जाता है; जहाँ वह शास्त्रोक्त विधि-निषेधों से मुक्त हो जाता है। कारण कि जो अनात्मा-देहादि में आसक्त (आत्मबुद्धि रखते) हैं, उन्हीं तक विधि-निषेध की गति है; सिद्धयोगी तक नहीं। **५.५७-६३** की संगति जगद्गुरु भगवान् श्रीशंकराचार्यजी के *'आत्मनः अनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि च अशुद्धत्वपापविद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि'* (ईशावास्योपनिषद्भाष्य १) इत्यादि वचनों से सुगमतया लग सकती है। किन्तु पुनः (**५.६४-६५** में) भगवान् ग्रन्थकार स्मरण करवाते हैं कि साधना में उत्थान गुरुकृपा (अर्थात् गुरु के कृपाकटाक्ष, मौखिक उपदेश या आन्तरिक सन्तोष) के विना सम्भव नहीं है। प्रसंगवश वे गुरुगीता के *'न गुरोरधिकं न गुरोरधिकम्'* (२.१२२) इत्यादि श्लोक को **५.६६** के रूप में संकलित करते हैं तथा भाववश **५.६७-६९** में गुरुतत्त्व की वन्दना करके **५.७०** में गुरूपसत्ति का निर्देश देते हैं। पुनश्च **५. ७१-८४** तक गुरुमहिमा का दर्शनीय वर्णन हुआ है।

अन्ततः गुरुकृपा एवं गुरुप्रदत्त साधनविधि के बल पर विगत उपदेश में वर्णित सामरस्य को प्राप्त कर चुके नित्य अवधूत (आत्मज्ञानी) के लक्षणों को प्रतिपादित करने के लिए **११५** वचनों वाला

'नित्यावधूतयोगीलक्षण' नामक अन्तिम-**छठा उपदेश** आरम्भ होता है। **६.१** में 'अवधूत' का लक्षण कहा गया है : *'यः सर्वान् प्रकृतिविकारान् अवधुनोति'*। आशय यही है कि जिसने समस्त प्राकृत प्रपंचों-अनात्म-पदार्थों में आत्मबुद्धि को त्याग दिया है और जो सामरस्य के द्वारा अपने स्वरूपभूत सर्वोपाधिविवर्जित परब्रह्म में अवस्थित हो चुका है, वही अवधूत है। ६.३-१९ में अवधूत की सत्रह परिभाषाएँ संकलित हैं। उन सभी का सार यही है कि एक अवधूत अविद्यादि क्लेशों का उच्छेद करके अनात्मप्रपंच को त्याग दे और आत्मस्वरूप में स्थित रहता है। वह अपनी कामनाओं को भस्म करके उसकी विभूति को अपने शरीर पर मलता है, गुरूपदिष्ट साधना में दृढ रहता है, विषयप्रपंच-संसार में रहते हुए भी निर्विषयी रहता है, निष्काम होकर शरीर पर मात्र कौपीन और हाथ में भिक्षापात्र (खप्पर) लेकर दीनभाव से भ्रमण करता है, लोगों में कल्याण एवं सुखरूपी ब्रह्मतत्त्व का नाद करने वाला शंख बजाता है, परमात्मज्ञानरूप पादुका पहना है, अनाहतनादरूपी मृगचर्म को धारण करता है, पराशक्ति-ज्ञानरूपी शेली को कण्ठ में रखता है, प्रापंचिक विषयों को दूर रखने वाली मेखला को धारण करता है, षड्विकारों की निवृत्तिरूप चटाई पर जो बैठता है, जिसने चित्प्रकाश एवं परमानन्दरूपी दो कुण्डलों को अपने कानों में धारण कर रखा है, जो धैर्यरूपी दण्ड को धारण करता है, जिसकी दृष्टि में विषयोपरामता ही चित्तविश्रान्ति है, पराकाशरूपी खप्पर जिसके हाथ में है, जो निजाशक्तिरूप योगपट्ट को धारण करता है, जो भेदबुद्धि को त्यागकर भिक्षा के रूप में आत्मास्वादन करता है, जो राग-द्वेष या भोग-योग आदि द्वन्द्वों में एकरस रहता है ... इत्यादि। वह कभी राजा-जैसा व्यवहार करता है, तो कभी भिखारी-जैसा। कभी मूर्ख-जैसा, तो कभी विद्वान्-जैसा : *'बुधो बालकवत्क्रीडेत्कुशलो जडवच्चरेत्। वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत्'* (श्रीमद्भागवत ११.१८.२९, नारदपरिव्राजकोपनिषद् ५.२६)। इस प्रकार; अवधूत के अनेक लक्षणों को वहाँ संकलित किया गया है; जो कि नारदपरिव्राजकोपनिषद् में वर्णित संन्यासिलक्षण के प्रायः समकक्ष हैं। ध्यान रहे; ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इस मार्ग में दीक्षित लोगों को ये चिह्न नहीं धारण करने चाहिए। उन्हें तो चाहिए कि वे दण्ड-भिक्षापात्र-कुण्डल-आदि

उपर्युक्त चिह्नों को धारण करें तथा उनके वास्तविक अर्थ के रूप में उपर्युक्त तात्पर्यों को समझें। सिद्ध अवस्था में पहुँचते-पहुँचते वे स्वतः इन चिह्नों से भी मुक्त हो जाएँगे।

फिर **६.२१-६८** में अवधूत की सर्वरूपता का उल्लेख है। यह जगद्गुरु भगवान् श्रीशंकराचार्यजी के सर्वात्मभाव के सिद्धान्त-जैसा ही है (बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य ४.३.२०)। आगे (**६.६९-७२** में) भगवान् ग्रन्थकार ने 'नित्यावधूतता' को संकेततः चार्वाक-आदि से लेकर शैव-पांचरात्र-वेदान्त-आदि सभी मार्गों का लक्ष्य बतलाया है। जो सद्गुरु सभी मार्गों का समन्वय करके अपने शिष्यों का मार्गदर्शन करते हैं, वे निश्चयेन प्रणम्य हैं। किन्तु जो दम्भी मिथ्याचारी लोग किसी मत-विशेष के दुराग्रही होकर परमलक्ष्यभूत आत्मावस्थिति को भुला देते हैं, उन्हें दूर से देखना भी वर्जित है; क्योंकि ऐसे पापी लोगों के दर्शनमात्र से प्राणी भ्रष्ट हो जाता है : *'न वन्दनीयास्ते काष्ठा दर्शनभ्रान्तिकारकाः वर्जयेत्तान् गुरून् दूराद्धीरः सिद्धमताश्रयः'* (६.७२)। तदुपरान्त **६.७३-९३** में नाथयोगियों के सिद्धमत का स्तुतिगान हुआ है।

ग्रन्थ के अन्तिम वचनों (**६.९४-९६**) में परमकृपालु भगवान् ग्रन्थकार 'आदेश'-इस सद्वाणी के अनुसन्धान का निर्देश देते हैं। जीवात्मा, परमात्मा एवं दोनों के लक्ष्यार्थभूत-शुद्ध आत्मा के एकत्वदर्शन का द्योतक है– 'आदेश'। यह शब्द परमात्मा का सांकेतिक उपदेश मान्य है : *'तस्यैष आदेशो यदेतत्'* (केनोपनिषद् ४.४)। आचरण में भी दो नाथयोगी इस शब्द के उच्चारणपूर्वक अभिवादन द्वारा एक-दूसरे को जीवात्म-परमात्म-तादात्म्य का स्मरण करवाते हैं। तदनन्तर (**६.९७** में) कहते हैं कि इस शास्त्र के अनुसन्धाताओं का : *'आशादहनं भसितं कुण्डलयुगलं विचारसन्तोषः। कौपीनं स्थिरचित्तं खर्परमाकाशमात्मनो भजनम्'* अर्थात् जिसने अपनी आशाओं को जलाकर उसकी भस्म को अपने शरीर पर मल लिया, विचार एवं सन्तोष को अपने कानों के दो कुण्डल बनाकर पहन लिया, स्थिरचित्तरूपी कौपीन को धारण कर लिया, आत्मानुसन्धान ही जिनका रिक्त खप्पर हो गया। आगे (**६.९८-११५** में) इस ग्रन्थ की सम्प्रदायविधि एवं अधिकारसम्पत्ति का विस्तृत विमर्श किया गया है।

इस प्रकार; शिवावतार जगद्गुरु भगवान् श्रीगोरक्षनाथजी के द्वारा विरचित इस श्रेष्ठतम ग्रन्थ-**सिद्धसिद्धान्तपद्धति** का सारांश यथामति लिखा गया। भगवान् ग्रन्थकार के पावनतम श्रीचरणकमलयुगल में साष्टांगप्रणतिपूर्वक प्रार्थना है कि वे अपने कृपालुस्वभाववशात् प्राणिमात्र को परमपद का अधिकार प्रदान करें। प्रस्तुत आलेख में सम्भावित सैद्धान्तिक अथवा अन्यविध त्रुटियाँ सहृदय पाठकों द्वारा क्षन्तव्य हैं। नारायणस्मृतिः।।

- **अंकुर नागपाल** (दिल्ली)

॥श्री गुरुभ्यो नमः॥
॥श्री नित्यनाथाय नमः॥

॥अथ सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः॥

मू०–

आदिनाथं नमस्कृत्य शक्तियुक्तं जगद्गुरुम्।
वक्ष्ये गोरक्षनाथोऽहं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम्॥

अथ संस्कृतटीका

पञ्चात्मकं विश्वमिदं विरच्य
पञ्चाननो यः प्रथितः पृथिव्याम्।
गणेशनन्दीश्वरसेवितः स
ईशः सदा पातु सहेशयाऽस्मान्॥१॥

पञ्चदेवात्मको भूत्वा पञ्चशक्तिसमन्वितः।
पञ्चसृष्टिमधिष्ठाय प्रपञ्चरहितोऽवतु॥२॥

विपक्षपक्षोन्मथनेषु दक्षः स्वच्छाक्षलक्ष्यीकृतविश्वकक्षः।
स्वपक्षरक्षार्थधृताऽवतारो गोरक्षनाथस्तनुतां शिवन्नः॥३॥

विश्वप्रमाणानि विचारपद्धतौ
यस्यामशक्तानि तु तत्त्वतोलनात्।
तां योगिराजैर्निजयोगचक्षुषा
कृतां प्रवेष्टुं मम कीदृशी गतिः॥४॥

अनाथे नाथतां कर्तुमाचार्यः स्वप्रतिज्ञया।
गत्वरीं शेमुषीं कुर्यादित्याशा मे नियोजिका॥५॥

यद्यपि सिद्धराजस्य ग्रन्थमिमं प्रतुष्टुषोराचार्यपादस्य कृतिं दुरितोपनीत-प्रत्यूहव्यूहः प्रतिबध्नीयादिति कैव कथा, तल्लेशसमुन्मेषस्यापि स्वप्नेऽप्य-

सम्भाव्यमानतेत्यत्र न कश्चन विचित्तोऽपि संशेते; किमुत त्रिकालदर्शिनो दृष्टिमात्रेण तत्क्षणसूक्ष्माऽसूक्ष्मविघ्नबहुलभक्षणदक्षप्रतिकारक्षमतासनाथस्य श्रीगोरक्षनाथस्य विघ्नशङ्काप्रसङ्गः।

यतस्तद्वयितुकामनया मङ्गलं निबबन्धेतयुत्प्रेक्षा प्रेक्षावतां दूरोत्सारिता, तथापि "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" इति नीतिमनुसृत्य 'आचिनोतीह शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते, इति पारम्पर्याऽऽयाताऽऽचार्यमर्यादापरिपालनतत्परतया शिष्टाचारोऽपि प्रमाणमेवेति शिष्याणामुपदेशाय अभ्यासशालिनामनुषङ्गतो मङ्गलाय च वस्तुत एक एव सन् मूर्तिद्वयं परिकल्प्य स्वेष्टदेवपरमाचार्यधिया परमेश्वरस्य आदिनाथस्य नमस्कारात्मकं मङ्गलमातनुते। प्रथमतः (आदिनाथमिति) आदिश्चासौ नाथः, आदिकारणरूपः नाथत इति नाथः। अत्र नाथधातुर्याचनोपतापैश्वर्याऽऽशीःषु चतुर्षु अर्थेषु; तत्र प्रथमे नाथो याचक इत्यर्थः।

महेश्वरोऽपि सन् भक्ताऽनुग्रहार्थं निजशक्तिबलेन नानाविधविग्रहं गृहीत्वा पर्यटन्नटवीं भक्तिपरीक्षणाय भक्तभवने भिक्षुकपरिपाटीमिमामुररीकृत्य याचकतास्वभावं स्वभक्तात्परिहृत्य स्वस्मिन् परिदधत् धूलिधूसरितं स्वबालकं विरजीकृत्य स्वहस्तावेव मलिनयन् जनक इव सकललोकानुकम्पातिशायिनीं निजकरुणां कलयन्नात्मचरित्रं विचित्रचित्रमभिनयति। अत्र पक्षे परस्वत्व-निवृत्तिपूर्वकस्वस्वत्वोत्पत्यनुकूलव्यापाररूपो याचनार्थः। यथा वलिं याचते वसुधामित्यत्र। अथवा; स्वीकारानुकूलव्यापारोऽपि याचना; यथा अविनीतं विनयं याचते। ततश्च स्वशिष्यान् योगविज्ञानकर्मादिकल्याणैकतान-नानाविधोपायसाद्गुण्यादेशं स्वीकारयतीत्यर्थेन नाथ इति आचार्याऽपरपर्यायः।

किं च अविद्यास्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः, शुक्लमशुक्लम-शुक्लाशुक्लमिति त्रिविधं कर्म। एतद् विपाको जात्यायुर्भोगरूपः। तत्तद्दुःख-सुखाद्यनुभवनजवासनाराशिः।

एतेषां संसारबन्धनानामुपतापकः स्वेन सह सम्बन्धस्य विच्छेदको नाथपदार्थः। अपरञ्च १ **अणिमा** अणुभावः, येन शिलामन्तःप्रविशति। २ **लघिमा** लघुत्वं, येन तरुणकिरणमवलम्ब्य रविलोकं प्रयाति। ३ **गरिमा** गुरुत्वं, येन गुरुर्भवति। ४ **महिमा** महत्त्वं यतो महान् भवति। ५ **प्राप्तिः** यतः पाणिपल्लवेन शशिनमपि स्पृशति। ६ **प्राकाम्यम्**, इच्छाविघातविरहो येनेलायामुन्मज्जति निमज्जति च; यथा पाथसि। ७ **वशित्वं** येन भूतभौतिकं

सकलं स्ववश्यं भवति। ८ **ईशित्वं** यतः सकलोत्पत्तिस्थितिलयेशो भवति। एतदष्टविधैश्वर्यसम्पन्नो नाथपदाभिधेयः। इतरञ्च स्वकीयाशीर्वचसा श्रद्धालुलोकान् स्वस्वाभीष्टफलप्रदानेन सन्तोषयतीत्यर्थको नाथः *"अयमत्र निर्गलितोऽर्थ"* आदित्वकथनेनास्य जनको नान्यः। अयं च निखिलविरंचि-प्रपञ्चप्रवर्तको नाथपदाभिधेय एव सच्चिदानन्द इति, *'सकारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप'* इति श्रुतिशिरसा प्रमीयते। ननु कथमद्वितीयो निरञ्जनो विचित्रमिमं विश्वप्रपञ्चमनन्तभेदभिन्नं विरचयितुं प्रभविष्णुरित्याशङ्कामपनोदयितुमाह शक्तिसहितमिति शक्ति-भिर्वक्ष्यमाणपञ्चावयवात्मकपञ्चशक्तिभिः सहितं समन्वितम्, साहित्यञ्च विश्वरचनात्मकैककार्यकारित्वम्। अत्र मायापदं विहाय शक्तिपदं प्रयुज्य स्वाभिमतशक्तेर्मायापदशक्तिपदयोः पर्यायतां मन्वानस्य विवर्तवादिनो मते स्वीकृततुच्छत्वं नाङ्गीकरोति, किन्तु चिदभिन्नापि नित्यसंशिलष्टावयववत् कार्यगतभेदकारकतया भिन्नत्वेन निचनार्हा अतएव व्यवहारे सर्वैरेव अस्य शक्तिरित्येव निगद्यते न तु अयं पुरुषः शक्तिरिति। अत एव वेदेऽपि *'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'* इति मन्त्रे षष्ठया भेदः प्रदर्शितः। ननु अस्तु भेदो व्यवहारे परमार्थदशायान्तु अभेद एव, तदा को विशेषो वेदान्तिमतादिति चेच्छृणु रहस्यं सावधानमनसा सङ्कोचविकाशशालिचिद्रूपशक्तिवादिनां मते चिद्रूपत्वमेव विशेषः शिवोऽपि कूटस्थचिद्रूपः। तथा च सङ्कोचविकाशशालित्वेन भेदेऽपि चित्त्वेनाभेदः। अत एव विदेहकैवल्यमाप्तवतोऽद्वैतमनुभवतो योगबलेन भेदाभेदोभयानुभवो भवत्येवेति योगिनां दृष्टिचरो न शक्यो विकल्पबलेन निरसितुमित्यतो भवदीयाऽद्वैतात् मदीयाऽद्वैतो विलक्षण एवेत्यादिविस्तरेण प्रतिपादयिष्यते परस्तात्। शक्तिस्वरूपे यत्किञ्चिद् विवदमानोऽपि वेदान्ती तत्सद्भावन्तु न निरस्यतीत्यतो मदनुयायितया चिरञ्जीव्यात्। परमत्र कुतर्कप्रपञ्चपाशाऽवसिता नैयायिका न क्वापि पदार्थे स्वरूपाति-रिक्ता शक्तिरस्ति; प्रतिबन्धकाभावविशिष्टं वस्तुस्वरूपमेव तत्तत्कार्यं प्रति कारणं, यथा वह्निस्वरूपमेव प्रतिबन्धकमण्यभावसहितं सद् दाहं जनयति। अतो यत्र चन्द्रकान्तमणिसहितो वह्निस्तत्र न दाहः। न च सत्यपि चन्द्रकान्तमणौ उत्तेजकसद्भावे कथं दाह इति वाच्यम्; उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य हेतुत्वेन तत्र विशेषणाऽभावप्रयुक्तविशिष्टाभावस्य सद्भावात् तथा हि उत्तेजकाभावो विशेषणं मणिर्विशेष्यः, यत्र केवलोऽनलस्तत्रोत्तेजकाभावरूपविशेषणस्य

सद्भावेऽपि विशेष्यभूतमणेरभावाद्दाहः। यत्रोत्तेजकः चन्द्रकान्तश्च तत्र विशेषणाऽभावात्, यत्र च उत्तेजकसहितो वह्निस्तत्रोभयाऽभावात् विशिष्टाभावः। अनेनैव सर्वत्र कार्यनिर्वाहे अनन्तशक्तितत्प्रागभावध्वंसादिकल्पने गौरवात्, स्वरूपसहकारिसमवधानातिरिक्तां शक्तिमेव न जानीम इत्याहुः। अत्राभिदध्महे- परपक्षप्रतिक्षेपात् प्रथमं स्वपक्षस्थापनस्यैवाऽभ्यर्हितता इति प्रथमतः शक्तिसद्भावेऽविकलप्रमाणान्युपन्यस्य पराभिमतं व्युदसिष्यते,

न तस्य कार्यं करणञ्च दृश्यते
न तत्समञ्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्न्।
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निरूढाम्॥ श्वे० उ०

इत्यादिप्रमाणराजवेदः स्वरूपातिरिक्तामेव शक्तिं ब्रूते। अन्यथा अस्य शक्तिरित्यत्र षष्ठी नोपपद्येत। विविधैवेति कथनेन एकैव प्रकृतिरिति सांख्योक्तमपि पराणुद्यते, स्वाभाविकीतिपदेन नित्यसिद्धत्वोक्त्या वेदान्ति-कल्पिततुच्छत्वमपि निरसितम्। अतोऽनाद्यनन्तचिद्रूपा चिदाश्रिता समस्त-संसारप्रसर्विनी सकलवस्त्वन्तर्हिता जगज्जन्मादिनियन्त्री जगदम्बा विविधभेदान् जनयतीति सिद्धम्। ध्यानयोगमन्तरायं न दृष्टिपथे पथिकायत इति स्पष्टमेवोपदिशति ते ध्यानयोगेतिपदेन परमेश्वरसाक्षात्कारे योग एव गरीयान् मार्गो नान्य इति निगदमेव ख्यायते। एतेन शारीरकग्रन्थादिभिरयं ग्रन्थो गतार्थ इत्यपि शंका दूरोत्सारिता, शक्तिभेदतत्तत्कार्यभेदतत्प्रापकयोगविधि-भेदानां तत्राऽनुक्तेः। अत एव शक्तिपदार्थे योगिजनप्रत्यक्षमपि प्रमाणतयो-पस्थापयितुं शक्यते। तदुक्तं विष्णुपुराणे। *'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञान-गोचराः। यतोऽतो ब्रह्मणस्तासु सर्गाद्या भावशक्तयः॥ सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः। अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य इति'* स्मृतिरपि तामेवानुवदति। न चैतानि वचनानि सहकारिमात्र-बोधनानि कार्यकारणादिरूपसहकारिनिरसनपूर्वकं तस्या व्यवस्थापनात्।

किं च *'व्रीहीन् प्रोक्षति'* इति वेदेन व्रीहीणां प्रोक्षणसंस्कारो विधीयते यदि नाम यज्ञे तण्डुलसम्पादनमेव तेषां प्रयोजनं तदा प्रोक्षणं विनापि तत्सिद्धेः

तद्विधानं वैयर्थ्यमीयात्। अतः संस्कारकर्मणा ब्रीहिषु स्वर्गप्रदपुण्यजनन-सामर्थ्यापरपर्य्यायशक्तिराविष्क्रियते इत्यवश्यं कल्पनीयम्; अन्यथा लक्षणादि-जघन्यवृत्त्याऽर्थान्तरकल्पने वेदस्य व्यवस्थापकत्वमेव भज्येत। अनुमानमपि। एनां साधयति, तथा हि-प्रथमं प्रत्यक्षं वस्तुनि शक्तिमनुमाय तद्दृष्टान्तबलेन अदृश्येष्वप्यनुमांस्यते, अक्षि लक्ष्यीभूतवह्निः, द्विष्ठस्थितिस्थापकेत-रातीन्द्रियाऽयुतसिद्धभावसम्बन्धी, गुणाश्रयत्वात् घटवत्। द्व्यणुकगत-रूपमादायाऽर्थान्तरवारणाय प्रत्यक्षेति पक्षविशेषणम्, एवञ्च प्रत्यक्षं त्र्यणुकादिकमेव पक्षः, तत्र द्व्यणुकगतरूपविरहादेव न तेनार्थान्तरं सिद्धसाधनं वा। साध्यदले द्विष्ठेतरनिवेशात् वह्नौ इन्धनादृष्टवदात्मवाय्वाकाशसंयोगं स्थितिस्थापकेतरनिवेशात् न्यायशास्त्रोक्तसंस्कारविशेषस्थितिस्थापकम् अतीन्द्रियविशेषणेन स्थूलरूपादिगुणम्। अयुतसिद्धपददानेन परमाणुञ्चादाय भावत्वकथनेन प्रतिबन्धकाभावमादाय च नार्थान्तरसिद्धसाधने समवायीत्य-निवेश्य सम्बन्धिपदनिवेशेन समवायमनङ्गीकुर्वतां मते नाऽप्रसिद्धविशेषणता घटे नैयायिकमते गुरुत्वमादाय स्वमते शक्तिमादायाऽपि साध्यप्रसिद्धिः, तथा चोभयमतप्रसिद्धदृष्टान्तभूतघटे व्याप्तिग्रहस्य निर्वाधतया पक्षीभूते वह्नौ विवक्षितशक्तिसिद्धिः।

न चात्र नैयायिका गुरुत्वमादाय साध्यं विधातुमीशते। गुरुणी द्वे रसवतीत्यादिना जलेतरस्मिन् तेजःस्वरूपाऽनले तैस्तदनङ्गीकारात्, अन्यस्य च तादृशस्य विरहेण गले पादुकान्यायेन शक्तिजनन्याः पदं पद्मावलम्बादृते नान्यच्च शरणं व्रजेदिमम्। ननु प्राभाकराः कर्मणोऽप्रत्यक्षत्वं मन्वते, तथा च तेषां मते अतीन्द्रियं कर्म गृहीत्वाऽर्थान्तरता स्यादिति तु देवानां प्रिय प्रत्येव परं शोभते। चक्षुषा सह क्रियायां संयुक्तसमवायस्य (तादात्म्य) प्रत्यक्षकारणस्य सम्बन्धस्य विद्यमानत्वे प्रत्यक्षं न भवतीति प्रमाणशून्यं वचनं साहसमात्रमेव, अन्यथा घटपटादावपि प्रत्यक्षताऽपलप्येत। अत एव लोके भवद्गमनं पश्यामि गच्छन्तं पचमानं च देवदत्तं साक्षात्करोमीति प्रतीतिर्विश्वजनीना। व्याकरणमहाभाष्ये *'क्रिया नामेयमत्यन्ताऽपरदृष्टा'* इत्यनेन क्रियाया अप्रत्यक्षतोपपादिता तस्याऽयमभिसन्धिः—शाब्दिकमते धात्वर्थो व्यापारकलापः क्रिया इति पारिभाषिकं तल्लक्षणम्। आद्यव्यापारमारभ्य चरमव्यापारपर्यन्तो यः समुदायः स एव धातुवाच्यः, तस्य च कश्चिद् व्यापारात्मकाऽवयवो नष्टो भावी वा कश्चन विद्यमानः, अतस्तादृशसमुदायस्य

युगपत् पिण्डीकृत्य द्रष्टुमशक्यता। एकदा सर्वेषामवयवानां सहाऽवस्थाना-ऽसम्भवेन वस्तुतः समुदायस्यैवाऽभावात् तस्मात् कल्पित एव समुदायो धातुवाच्यतया क्रियापदेन परिभाषित इति योगिराजश्रीभर्तृपादाः– *'बुद्ध्याप्रकल्पिताऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते'* इत्यनेन स्पष्टमेव जगदुः। अत एव क्रिया नामेत्यस्याऽग्रे पूर्वापरीभूताऽवयवा न शक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम्, इति कण्ठत एवोपरितनाशयं स्पष्टयाञ्चक्रुर्भगवन्तो भाष्यकाराः। तथा च व्यापारात्मिकाया लौकिक्याः क्रियायाः प्रत्यक्षत्वे न तेषां विप्रतिपत्तिलेशः। अतो लौकिकपरीक्षकानुभवविरुद्धं केवलवैतण्डिकप्रभाकरोहितं कर्मणोऽ-तीन्द्रियत्वं गगनकुसुमायमानं कथमर्थान्तरतामावहेत कर्मणामिति कलयन्तु कल्पनाकल्पवासिनः सुधियः। नन्वस्तु वह्नौ शक्तिः चिदानन्दघने निरञ्जने श्रीमदादिनाथे किमायातमनयाऽनुमया निभालयोन्मील्य विलीनविज्ञाननयनं तद् यदायातं विमतः शक्तिसहितो भावरूपकारणत्वात् वह्निवत् इत्यनेन सर्वत्र तत्सद्भावसिद्धिः, प्रपञ्चरचनाचणेन विरञ्चिनाप्यशक्य निरसना, एवं दाहादिकार्यान्यथानुपपत्तिरपि शक्तिसद्भावे मानम्, अन्यथा चन्द्रकान्तमणि-समवधानेपि वह्निस्वरूपस्य पूर्ववत्सद्भावेन सहकारिकारणान्तराऽनपेक्षत्वे तत एव दाहेन पूर्ववद् भवितव्यमेव। ननु प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रं प्रति कारणत्वेन तमादायैवान्यथोपपत्तिः। तथा हि– दाहस्य प्रतिबन्धकश्चन्द्र-कान्तोऽतस्तस्य विद्यमानत्वे प्रतिबन्धकाऽभावरूपसहकारिविरहादेव न दाह इति चेच्छृणु रहस्यम्–अभावस्य क्वापि जनकतानास्ति। इतरथा शशशृङ्गा-दप्युत्पद्येतनाम कार्यम्, अभावत्वाऽविशेषात् को निवारयितुमीष्टे तथा सति अभावाद्भावोत्पत्तिवादिनां सौगतानामपि दत्तावसरता प्रसज्येत। न च काचन क्वचन लौकिकी युक्तिरपि चेटी अभावस्य कारणतां कलयति। श्रुतिरपि भगवती *'कथमसतः सज्जायेत'* इति शून्यस्य, कारणतामाक्षिपति। किञ्च इतरेतराश्रयदोषदूषितत्वेन, न; प्रतिबन्धकाभावस्य, कारणकोटौ, समावेशः, समुत्प्रेक्ष्यः प्रेक्षावताम्। तथा हि–कारणसमुदायस्वरूपसामग्रीत्वज्ञानं समुदायान्त-भूतप्रतिबन्धकाभावज्ञानं विना न स्यात्, प्रतिबन्धकाभावघटक-प्रतिबन्धकत्व-ज्ञानं च प्रतिबन्धो विसामग्रीति लक्षणाऽनुसारेण सामग्र्यभाव-सम्पादकत्वरूप-प्रतिबन्धकत्वघटकसामग्रीत्वबोधादृते न सम्भवति। अतः सामग्रीत्वप्रति-बन्धकत्वबोधयोः परस्परापेक्षत्वं, वज्रलेपायितं न च वाच्यम् यथा वह्निस्वरूप-स्याऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव कारणता निश्चीयते, तथैव प्रतिबन्धकाभावस्यापि

प्रतिबन्धकत्वज्ञानमन्तरापि ताभ्यामेव लोके पञ्चषस्थले दाहतदभावावलोक्य-निर्णेया, तदा क्वान्योन्याश्रयता इति प्रत्येकं मण्याद्यभावस्य प्रत्यक्षेण कारणताग्रहे भव्यभावानामनन्तत्वे नाऽनुगतस्वरूपप्रतिबन्धकरूपोपसंग्राहकधर्मं विना पुरुषायुषेणापि साक्षात्कृत्यनिश्चेतुम शक्यतयाप्रतिबन्धकत्वात्मकसंग्राहक-धर्मस्याऽवश्यज्ञेयतया सामग्रीत्वज्ञाने प्रतिबन्धकत्वज्ञानसापेक्षत्वेनाऽन्योन्या-श्रयस्य तादवस्थ्यात्। ननु कार्यौदासीन्यमेवप्रतिबन्धस्तत्प्रयोजकः प्रतिबन्धकस्तदा प्रतिबन्धकपदार्थाङ्गतया, सामग्रीत्वस्या-प्रवेशेन, नाऽन्योन्याश्रय, इति चेन्मैवं चन्द्रकान्तसहिते एवाऽनले कार्यौदासीन्यं न तु तद्रहिते इत्यत्र किं बीजमिति जिज्ञासायां मौनमवलम्बमानः स्वभाव एव शरणमित्युत्तरं प्रब्रुवाणो वा भवान्नूनं तार्किककुलादपसार्य देवानां प्रिय संघे एव संस्थाप्येत। अतो महत्ते बुद्धिकौशलम्, एकं सन्धित्सतोऽपरं प्रच्यवते; मम तु सर्वत्रोत्साहजननी शक्तिरेवेति राद्धान्तः। अत एव यस्य ह्रासोन्मुखा शक्तिर्भवति तस्यालस्यं प्रसमेधितुमुपक्रमते तन्निरासाय शक्त्युत्तम्भकौषधाद्युपचारः प्रवृह्यते वृद्धभिषग्वरैः, तस्या अत्यन्तोच्छेदे जीवनादेवाऽपैतिमृत इति व्यवह्रियते। क्वचिच्च यन्त्रादिना यावत् कालं शक्तिस्तिरोधीयते, तावत्कालं स्वरूपस्य सद्भावेऽपि कार्यकरणाक्षमताऽऽयाति मृतवदेव व्यवह्रियते। यन्त्रादिनिःसारणे पुनरपि साऽऽविर्भवति पूर्ववदेव कार्यं कर्तुमुद्युङ्क्ते, तस्माच्चन्द्रकान्तमणिवह्नौ शक्तिं तिरोधाप्य औदासीन्यं सम्पादयति; न तु स्वरूपं विना स्वत एव समुन्मिषति। अत औदासीन्यस्य प्रयोजकः प्रतिबन्धको न तु साक्षादुत्पादकः, अभावस्य कार्यत्वाभावात् तथा च भावस्यैव कारणता कार्यता नत्वभावस्य कारणता कार्यता वा इति सार्वलौकिको दार्शनिकदृष्टिपथिकपरिरक्षितः पन्थाः नावगाहित उत्पथगामितार्किकवरैः? अत एव सांख्ययोगयोर्मतेऽभावो नातिरिक्तः, पदार्थः कार्यकारणोभयबहिर्भूतस्य तस्य संकलने केवलबुद्धि-कन्थाकदर्थनात् फलान्तरस्य कस्याप्युत्प्रेक्षयितुमशक्यत्वात्। मीमांसका अपि भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया अर्थात् घट एव पटापेक्षया अभावो व्यवह्रियते न तु अभावो नाम कश्चित् पदार्थः, लोकेऽपि दण्डचक्रचीवरादि-भावभूत एव भावभूतघटादिं प्रति कारणं कुलालादिगतेच्छाप्रयत्नादि-भावविघटनद्वारा कार्याभावप्रयोजको राजाज्ञादिः प्रतिबन्धकः, तदभावश्च कार्यविरोधकनिरासार्थमेवाऽपेक्ष्यते न तु कार्योत्पत्तौ। अत उत्पत्तौ यानि अपेक्ष्यन्ते तानि कारणानि विरोधिनिरासार्थं यदपेक्ष्यते, तत् प्रयोजकमिति

द्वैविध्यम्। अत एव लोके इदमस्य कारणम्, इदञ्च प्रतिबन्धकम्, इतिद्विविधं व्यवह्रियते। दण्डविरहदशायां घटः प्रतिबद्धोजात इति न केनचित्कथ्यते। तत्कस्य हेतोः कारणाऽभावस्य प्रतिबन्धकत्वाऽनङ्गीकारात्। अन्यथा सकलकारणं प्रतिबन्धकाभावस्वरूपमेव भवेत् यदि च दाहस्य जनने किमपि वैकल्यमविदधानो मणिः प्रतिबन्धक 'उत्पत्तौ च किञ्चनोपकार-मनाचरतस्तदभावस्य कारणता चोररीक्रियते तदा किमपराद्धं खपुष्पेण यत्तस्य प्रतिबन्धकता कारणता वा नाङ्गीकृता, तन्नूनं ते चेतसि द्वेषदोषप्रकोपावधीरिता विवेकशक्तिर्यत आसकलात् स्थितसत्ताकामपि भगवतीं शक्तिमपह्नोतुमुद्यतोऽसि। अतः संत्यज्य विग्रहाग्रहं युक्त्यैकशरणो भवान् भवदूहितयैव युक्त्या व्यवस्थाप्यमानाया शक्तेः कथं नाम सद्भावं नोररीकरोति, वयं तु बाह्यलौकिकप्रमाणमनपेक्षमाणः परं केवलमृतंभरां प्रज्ञामवलम्बमानाः स्वानुभवैकशरणायोगनयनविहीनैर्नरैरगम्यां निजां शक्तिं तद्भेदाँश्च साक्षात्कृत्य लवमपि नेह सन्दिहामहे इत्याशयवन्तो भगवन्त आचार्यपादा विशिषन्ति स्म *'शक्तियुक्तमित्यनेन'* आदिनाथम्, अवशिष्टविवेकस्त्वग्रे वक्ष्यते।

नन्वस्तु नाम स्वेमहिम्नि निरतिशयाऽखण्डानन्दकन्दमनुभवन् शक्तिसहितः शिवः किमस्माकं साधकानां प्रयोजनम्, औदासीन्यपथपथिकेन तेनेति संशीति- मुच्छेत्तुमाह जगद्गुरुमिति जगतां निखिलप्राणिनां गुरुः; अज्ञाननिवारको ज्ञानप्रद इति यावत् गुरुशब्दार्थमाह—अद्वयतारकोपनिषदि।

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते॥

तस्य माहात्म्यमपि तत्रैव ब्रूते—

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परागतिः।
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम्॥
गुरुरेव पराकाष्ठा गुरुरेव परंधनम्।
यस्मात्तदुपदेष्टाऽसौ तस्माद् गुरुतरोगुरुः॥

ज्ञानवत्त्वे सति, अज्ञानविनाशकत्वं गुरोर्लक्षणम्। अत्र विशेषणाऽनुपादाने दीपकादावतिव्याप्तिः स्यात्, तद्वारणाय तदुपादानम्। न च कालिकसम्बन्धेन विषयतासम्बन्धेन वा दीपकादौ ज्ञानसद्भावादतिप्रसङ्गस्तदवस्थ एवेति वाच्यम्

समवायसम्बन्धेन विवक्षायामदोषात्। यत्तु समवायमनङ्गीकुर्वतां मतेऽप्रसिद्ध-विशेषणता स्यादिति चेन्न तादात्म्यसमवायान्यतरसम्बन्धेन ज्ञानवत्वमिति निवेशे सकलारिष्टविनाशात्। विशेष्यानुपादाने उदासीनपुरुषेऽतिव्याप्तिरतस्तन्निरसितुं तदुपादानम् न च वाच्यम्, सकलधर्मातीते ब्रह्मणि कथमुक्तलक्षणमिति; शक्तियुक्तमिति विशेषणेनैवान्यदोषस्य शक्तिमत्त्वाङ्गीकारेण पराहतत्वात्, व्यवहारकाले कल्पिततादृशधर्मस्वीकारे बाधकाभावेन लक्षणसंगमनाच्च। मुक्तिदशायान्तु लक्षणकरणस्यैव प्रयोजनविरहतया, असंगमनेऽपि क्षतिविरहः; अथवा ज्ञानवत्त्वविशिष्टाज्ञानविनाशकत्वात्यन्ताभावाऽनधिकरणत्वमिति निकृष्टलक्षणे दोषगन्धोऽपि न प्रसरति। तथा हि-यथा गन्धवत्त्वलक्षणस्य उत्पत्ति कालाऽवच्छेदेन पृथिव्यां गन्धाभावेनाव्याप्तिपरिहाराय नैयायिका गन्धात्यन्ताभावा-नधिकरणत्वलक्षणं स्वीकृत्य कदाचिदपि तस्यां गन्धसद्भावे तदत्यन्ताभावाऽधि-करणत्वस्याभावेनानधिकरणत्वघटितोक्तलक्षणस्य समन्वयं विधायाऽव्याप्तिं वारयन्ति, तथैवाऽस्माकमपि व्यवहारकाले कल्पितोक्तधर्मस्वीकारे तदत्यन्ताभावस्यानधिकरणत्वे न लक्षणसमन्वयो न विरोधलेशमप्यावहति इति सुधियः कलयन्तु। अत्रेदमवधेयम् यत्किञ्चिज्ज्ञानप्रदानेन एकमप्यज्ञानं यो निरस्यति सोऽपि गुरुः, अत एवापेक्षिकगुरुत्वं सर्वेषां किन्त्वध्यात्म-विद्याप्रकाशकमहामंत्रोपदेशको मंत्रगुरुः। तदर्थदार्ढ्यकारकोऽध्यात्म-शास्त्रोपदेष्टोपाध्यायगुरुश्च परमोत्कृष्टः, यो हि मानवजन्मलक्ष्यमोक्षमधिरोहयति विच्छेद्याऽविद्यातिमिरबन्धम्। निरतिशयगुरुत्वं चादिनाथे परमेश्वरे एव तस्य सर्ववित्त्वेन निखिलविषयकाऽज्ञाननिरासकत्वात्। अत एवोक्तं योगसूत्रे-

'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्' १ पा २६

इति एतेन संसारपाशावसितान् निखिलान् ब्रह्माण्डभाण्डोदरवर्तिनः स्वोपदेशामृतेन मोचयिष्यामीति संकल्प्य गुरुपदमध्यासीनः श्रीमदादिनाथः सकलैर्नमस्य इति व्यज्यते। ननु तस्य प्रयोजनवत्त्वेऽनाप्तकामतयाऽस्मदादिवद् ईशत्वमेव भज्येत। प्रयोजनाऽभावे च कथं प्रवृत्तिरिति शङ्का तु व्यासपादैरेव योगसूत्रभाष्ये तस्य स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनमित्यनेन दूरोत्सारिता। अयमाशयः- परमकारुणिको हि भगवान् स्वप्रयोजनविरहेऽपि प्राणिनां बन्धविमोचनेन नित्यनिरतिशयानन्दप्रापणमेव प्रयोजनं मन्वानो भक्तानुपदेष्टुं समुज्जृम्भते। यदि सर्वज्ञः सर्वसामर्थ्यवान् तदा युगपदेव

कथन्न विमोक्षयति नानाविधशोकोपप्लुतान् निखिलान् जीवानिति प्रष्टारं प्रति ब्रूवेत्प्रश्नपटुर्भवान् ममोपरि कथं कथमिति प्रश्नशरं निरस्यन् वैतण्डिकतया प्रचोदने, ऋते मतिकर्दमात् नान्यां काञ्चन विवेकपद्धतिमध्यास्य निश्चितफलं विचिनुयात्। अतः समाश्रयतु विचारपद्धतिं तदैव नूनं गहनतरमिमं पारयिष्यति विवेकम्। तथा हि– आदौ स्वानुभवेन स्वस्वरूपं विनिश्चित्य संसारसद्भावं निर्णयति, तत्र द्विविधं वस्तु एकं चिरस्थायिस्वस्वरूपम्। अपरञ्चागन्तुकं शोकमोहादिविच्छिद्य वर्तमानम् दृष्टैव तद्द्वयं संदिग्धे यत् कुत आयातं कदापर्यन्तं स्थास्यति किञ्चास्य निदानं तदुपशमस्य च कः प्रतीकारः कोऽप्यस्य संचालको न वा इत्यादि। तत्र विहितविचारः स्वस्वरूपस्य तत्रागन्तुकदुःखसुखादिनिदानस्य चाऽनादितामुपश्रुत्य तत्सञ्चालकतया सर्वज्ञं सर्वशक्तिसम्पन्नं कञ्चनाधिकृत्य पृच्छति। तदुत्तरे सरलसरणिरियं यत् स्वतो निरपेक्षोऽपि सन् प्राणिकृतकर्माण्यपेक्ष्य विचित्रचित्रमिव संसारं विरचय्य तद्व्यक्षतामनुभवति। इदमेवानुवदति श्रुतिः– *"कर्माध्यक्षः कर्मलोकाधिवासः"* इति तदा सूक्ष्मतमस्यापि कर्मणः फलेन, यथा समयं प्राणिनः संयोजयन् कथं न सर्वज्ञतां वहेत्; कस्याप्यवसरविपर्य्यासं चिकीर्षतः प्रतिरोधमाचरन् कथं न सर्वशक्तिमत्तां प्राप्नुयात्। अतोऽध्यक्षपदमध्यारूढो जानन्नपि प्राणिनां दुःखबहुलं, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्तोऽपि सन् कर्मानुरूपमेव करोति अध्यक्षेण कर्तव्यस्य स्वतो निरपेक्षत्वस्य निर्वाहाय। अन्यथा स्वस्य निरपेक्षत्वभङ्गेनाऽध्यक्षत्वं भज्येत। तत्रेदमेव कारुणिकत्वं यत्प्राणिकृतस्य स्वल्पस्यापि प्रयत्नस्य फलव्यतिरेकतां व्यर्थतां वा न विदधाति। तस्माद् युगपदनुद्धरन्नपि, उचितकारितया कारुणिकः प्रशस्यतरश्चेति सिद्धम्। लोकेऽपि समुचितकारी एवाध्यक्षः सर्वजनप्रशस्यो दयालुश्च निगद्यत इति दिक्।

[नमस्कृत्येति] परनिष्ठोत्कृष्टत्वप्रकारकबोधानुकूलव्यापारो नमस्कारः स्तथा च परमाचार्यो भवान् मत्त उत्कृष्ट इत्याकारस्याऽऽदिनाथगतंस्य बोधस्य जनकं मानसिकरमरणात्मकव्यापारं कृत्वा इत्यर्थः।

[अहम्] भक्तजनोपकाराय कृतावतारः **[गोरक्षनाथः]** गाः इन्द्रियाणि पृथ्वीं वाणीं च योगमत्रानुष्ठानेन तदुपदेशेन च रक्षति स चासौ नाथः शिवरूपः **[सिद्धानां]** ऋतंभरां प्रज्ञामध्यारूढानां सिद्धान्तः **[सिद्धः]** निश्चितो न तु केनचित् प्रमाणेन साधनीयः **[अन्तः]** चरमो यदनु कापि कक्षा केनापि प्रमाणेन केनचिदपि विचारकेण नानेतुं शक्या, यत् पश्चात्

न कोप्यन्यः निर्णेय इति यावत्; तस्य [**पद्धतिम्**] सरणिं [**वक्ष्ये**] व्याख्यास्ये।

ननु एतदुपदेशजफलस्य शिष्यगतत्वेन परगामिक्रियाफलत्वात् कथमात्मनेपदमिति न शक्यम्, स्वशिष्यान् स्वाभिन्नान् मत्वैतद्गतफलं ममैवेति मन्यमानः स्वशिष्येषु करुणातिशयं दर्शयन् आत्मने पदमभिदधावित्याशयात्। अत्र सिद्धपदेनेदं व्यज्यते यदत्रत्याः सिद्धान्ता योगजप्रत्यक्षात्मिकया ऋतम्भरप्रज्ञया प्रमिता, न केवलानुमानेन। अतोऽनुमानेनाप्रमिता अपि विषया इहोच्यन्ते। यथा पञ्चपञ्चगुणात्मकपञ्चविधशक्त्यादयः, तावताऽस्य ग्रन्थस्य स्वतः प्रामाण्यं प्रस्थानान्तरैरगतार्थत्वञ्च ध्वनितम्। किञ्च प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिः। तथा च प्रमाणान्यनुपन्यस्य प्रमेयमात्रवर्णने न्यूनता स्यादिति विवादोऽपि दूरोत्सारितः। प्रमाणराजऋतंभरप्रज्ञासमुल्लेखेन प्रमाणान्तरे निरपेक्षत्वात्, यदि चेत्तदनुकूलतयाऽनुमानमपि उपन्यस्येत न तदपि वारयामः। ननु सर्वासां स्मृतीनामागममूलकत्वे प्रामाण्यमस्यापि स्मृतित्वेनागम- मूलकत्वं मन्तव्यम्। अन्यथावेदाननुयायिनामनादेयता स्यादिति प्रच्छकाः प्रष्टव्याः कथमस्य वेदमूलविरहितत्वमवधारितं वा वेदविरुद्धत्वम्, वेदेऽपि *"सदेव सौम्येदमग्र आसीत् तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत, आत्मन आकाशः संजातः"* *'तत्त्वमसि'* इत्यादिनाऽद्वितीयब्रह्मतः सृष्टिप्रतिपादनं तत्र द्वितीयसहायमन्तरा सृष्ट्यनुपपत्त्या अनाद्यविद्यात्मकमाया सहायेति केचिद् वर्णयन्ति। अत्र तु अनेकावस्था विशिष्टा चिद्रूपशक्तिरेव विद्यास्वरूपिणी सृष्टिकर्त्री तस्या एवाऽवस्थाभेदेन निजादिसंज्ञा इति। *'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निरूढाम्'* इतिवेदमार्गेण समाधिना प्रत्यक्षीकृत्य वर्णितम्, वेदे सूक्ष्मरूपेण वर्णनम्, अत्र तु तस्यैव विस्तरेण वर्णने महानुपकारोऽकारिवेदस्य। वस्तुतो वेदतात्पर्यमत्रैवोद्घाटितम्, स्मृत्यन्तरेऽविद्याद्युपवर्णनं केवलतर्कबलेनाऽभ्युपगमवादेन वा अतस्तादृशव्याख्यानस्य दुर्बलत्वम्। अत्र समाधिबलेन व्याख्यानस्यास्य प्रबलत्वमिति बालेनापि सुज्ञेयम्। अत्रैव वेदतात्पर्योट्टङ्कनेनोभयोस्तात्पर्यभेदाभावाद् विरोधस्य च गन्धोऽपि नाऽऽयातीति स्पष्टतरं मर्मविदाम्। आगमोक्तार्थरक्षाऽपि योगनिकषकृतपरीक्षणेनैवेति विदां कुर्वन्तु विचक्षणाः।

भा० टी० मंगल

यस्य निःश्वसितं वेदा
यतो जातं जगत्त्रयम्।
तं भवानीयुतं देवम्
प्रणमामि सदाशिवम्॥१॥

अथ हिन्दी टीका

श्रीजगदम्बा भवानी सहित जगन्नियन्ता श्रीआदिनाथ महेश्वर को प्रणामकर मैं– गोरक्षनाथ श्रीमत्स्येन्द्रनाथ तथा ज्वालेन्द्रनाथादि समस्त सिद्धों के सिद्धान्तभूत तात्पर्य का निरूपण करने वाली इस "सिद्धसिद्धान्त-पद्धति" को बनाता हूँ।

शंका– श्रीगोरक्षनाथजी तो साक्षात् शिवरूप हैं, इसलिये अपने आपको प्रणाम करना परम असंगत है। श्रीगोरक्षनाथजी शिवरूप हैं, ऐसा महाकाल योगशास्त्र में भी कहा है –

अहमेवास्मि गोरक्षो मद्रूपं तन्निबोधत।
योगमार्गप्रचाराय मया रूपमिदं धृतम्॥

अर्थ– श्रीगोरक्षनाथजी के अद्भुत योगबल को देखकर चकित हुए देवताओं ने श्रीमहादेव के पास जाकर विनयपूर्वक पूछा कि हे प्रभो! आपके समान शक्तिशाली गोरक्षनाथ नामक यह सिद्ध कौन है; जिसकी समस्त संसार में प्रसिद्धि हो रही है?

यह सुन श्रीमहादेव ने कहा : हे देवताओ! मैं ही गोरक्षनाथ हूँ। लोगों के कल्याण के लिये योगमार्ग का प्रचार करूँ- इसलिये मैंने ही यह दूसरा रूप धारण किया है। अतः सिद्धराज श्रीगोरक्षनाथ को मेरा ही स्वरूप समझो। इसी कारण श्रीगोरक्षनाथजी को बाल और वृद्ध- सभी पुरुष शिवस्वरूप मानते हैं। इतना ही नहीं अपितु योग-सम्प्रदाय में योगी भी श्रीगोरक्षनाथजी को "शम्भुयति" कहते हैं। ओं शिवगोरक्ष" इस पंचाक्षर मंत्र का योगीलोग अपने शिष्यों के लिये उपदेश देते हैं तथा *"खड़े हुए सो सिद्ध भये बैठे सो पाषाण, भेष में आये श्री शम्भुयति गरु गोरक्षनाथ निर्वाण"* इत्यादि कहावतें भी प्राचीन समय से योगियों में

प्रसिद्ध हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि साक्षात् शिव ही गोरक्षनाथ हैं।

उत्तर–श्रीगोरक्षनाथजी शिवस्वरूप हैं– यह कथन सत्य है किन्तु मार्ग का प्रचार करने के लिये रूपान्तर धारण करके अपने आपको ही दूसरे रूप से प्रणाम किया है। इसलिये यहाँ पर 'अपने आपको ही प्रणाम किया'– ऐसा दोष नहीं आता।

शंका–मंगलाचरण का मुख्य प्रयोजन विघ्नों के नाशपूर्वक निर्विघ्न ग्रन्थ समाप्ति है। परन्तु योगसिद्ध श्रीगोरक्षनाथ जी के विषय में तो स्वप्न में भी विघ्नों की सम्भावना नहीं हो सकती। कारण कि सिद्धों के तो दर्शनमात्र से ही अन्य पुरुषों के भी पाप नष्ट हो जाते हैं; अपनों का तो कहना ही क्या है? फिर श्रीनाथजी को नमस्कारात्मक मंगल क्यों किया।

उत्तर–*"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः"* इस प्राचीन रीति के अनुसार, योगाचार्य श्रीगोरक्षनाथजी के भी अनादिकाल से प्रचलित प्रणामादि शिष्टाचार को शिष्यशिक्षार्थ दिखलाते हुए आचार्यत्व की मर्यादा का परिपालनमात्र किया है। गोरक्ष शब्द का अर्थ है : गो-पद से गौ-पृथिवी-स्वर्ग-इन्द्रीय-वेद तथा वेदप्रतिपादित धर्म- इन सबका संग्रह होता है। और इनकी रक्षा करने वाले का नाम 'गोरक्ष' है। कहा भी है कि :

स्थापयित्वा च यो धर्मान् सज्जनानभिरक्षति।
स्वात्मस्वरूपबोधेन गोरक्षोऽसौ निगद्यते॥

अर्थ–प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्मों के स्थापक, सज्जन-साधु-महात्मा गो-ब्राह्मण-आदि की रक्षा करने वाले तथा अन्त में आत्मस्वरूप का बोध कराने वाले एवं संसार-सागर से पारकर मोक्ष देने वाले को गोरक्ष कहते हैं।

नाथ-शब्द के चार अर्थ हैं- याचक, उपतापक, ईश्वर और आशीर्वाददाता। यह चारों अर्थ नाथजी में अच्छी प्रकार घटते हैं।

याचक–नाथजी स्वयं महेश्वर होते हुए भी लोककल्याणार्थ लीलामय शरीर को धारण कर श्रद्धालु तथा आस्तिक भक्तों की भक्ति से प्रेरित होकर उनके घरों पर *'जय अलख निरंजन'* कहकर भिक्षा मांगते हुए याचक के रूप में दिखाई पड़ते हैं; अर्थात् भिक्षुक के बहाने

अपने धार्मिक भक्तों में आतिथ्य सत्कार की भावना को जगाकर उनकी समस्त कामनाओं को सफल करते हुए उनके हृदय से याचक भाव को समूल नष्ट कर देते हैं। जैसे पिता धूली धूसर अपने प्रिय पुत्र को धूली में से उठाकर अपने दयार्द्र हाथ से उसके शरीर से समस्त धूली को झाड़ देता है और अपने हाथ के मैला होने की कुछ भी परवाह नहीं करता। इसी प्रकार; नाथजी भी अपने प्रिय श्रद्धालु भक्तों के याचकत्वरूप मलिन भाव को स्वयं धारण करके उनकी इष्ट कामनाओं को पूरणकर अन्त में मोक्षरूप परमपद को देते हैं।

उपतापक–अविद्यादि पाँच क्लेशों को दूर करने वाले को नाथ कहते हैं। अविद्यादि पाँच क्लेश योगदर्शन में निम्नलिखित प्रकार से कहे हैं–

अविद्या–अविद्या नाम अज्ञान का है; अर्थात् वस्तु के सच्चे स्वरूप को न जानना ही अविद्या है।

अस्मिता–आत्मा और बुद्धि के परस्पर एकीभाव अर्थात् एक हो जाने को अस्मिता नामक क्लेश कहते हैं।

राग–पूर्वकाल में सुख का अनुभव करने वाले पुरुष को जग अनुभूत सुख का स्मरण होता है, तब उस सुख को प्राप्त करने की इच्छा से सुख और उस के साधनों में जो तृष्णा व लोभ होता है; उसी को राग नाम का क्लेश कहते हैं।

द्वेष–दु:ख का अनुभव किये हुए पुरुष को जब अनुभूत दु:ख का स्मरण होता है; तब उस दु:ख और दु:ख के साधनों में जो द्वेष होता है; वही द्वेष नाम का क्लेश है।

अभिनिवेश–भूमण्डल के समस्त प्राणियों को सदा ही यह इच्छा बनी रहती है कि मैं हमेशा ही रहूँ, मेरा नाश कभी न हो यह अभिनिवेश नाम का क्लेश है। इन उपर्युक्त पाँच क्लेशों को जिसने निज योगबल से समूल नष्ट कर दिया हो; वही नाथ कहा जा सता है।

ईश्वर–अणिमादि अष्ट सिद्धि सम्पन्न ईश्वर भी नाथ शब्द का अर्थ है।

आशीर्वाद दाता—अनेक दीन दु:खियों तथा भक्तजनों का अपने शुभाशीर्वाद से कल्याण करने वाले को आशीर्वाद देने वाला कहते हैं यह अर्थ भी नाथ शब्द का होता है और श्रीनाथजी में तो यह अर्थ मुख्यरूप से घटता है।

शंका—यद्यपि इस ग्रन्थ का निर्माण नाथजी ने किया है, इसलिये यह ग्रन्थ अत्यन्त आदरणीय और उपादेय है। तथापि प्रमाण के बिना ज्ञेय वस्तु की सिद्धि होना असम्भव है; प्रमाण के निरूपण बिना इस ग्रन्थ में न्यूनता दोष है।

उत्तर—'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' इस पद के कहने से ही उपर्युक्त शंका का निराकरण हो जाता है; क्योंकि सिद्धसिद्धान्तपद्धति इतना समस्त पद अतिगम्भीर आशय का द्योतक है।

सिद्ध—इस पद से त्रिकालदर्शी योगिराजों का बोध होता है।

सिद्धान्त—उन सिद्धों की दिव्य योगदृष्टि के द्वारा अच्छी प्रकार से निश्चित पदार्थ का नाम यहाँ सिद्धान्त है।

पद्धति—सिद्धयोगिराजों की दिव्य योगदृष्टि से निश्चित पदार्थ को बतलाने के मार्ग का नाम पद्धति है; अर्थात् महासिद्ध योगिराजों की ऋतंभरा प्रज्ञा के द्वारा अच्छी प्रकार से निर्णीत और विश्वस्त पदार्थ को बताने के लिये यह ग्रन्थ मार्ग स्वरूप है। अत: महासिद्ध योगिराजों का सर्वप्रमाण शिरोमणि ऋतंभरा नाम का योगज धर्म ही यहाँ प्रमाण है। इस ग्रन्थ में मुख्यतया प्रतिपाद्य समरस कारण ही विषय है, समरसकरण का व्याख्यान पंचम उपदेश में स्वयं श्रीगोरक्षनाथजी करेंगे। अत: पाठक वहीं देखें।

आदिनाथ—आदि-शब्द का अर्थ कारण है और नाथ-शब्द का अर्थ पहले कहा जा चुका है। आदिनाथ शब्द से श्रीमहेश्वर का ही बोध होता है; क्योंकि यह सिद्धों का सांकेतिक शब्द है। सिद्ध-सम्प्रदाय में हठयोगादि विद्याओं के आदि परमाचार्य श्रीआदिनाथ शिवजी हैं। पीछे श्रीमहेश्वर की कृपा से यह विद्या श्रीमत्स्येन्द्रनाथ और ज्वालेन्द्रनाथ (जलन्धरनाथ) आदि सिद्धों में आई। वह सर्वेश्वर आदिनाथ सबके कारण हैं। परन्तु उनका कोई कारण नहीं है और न उन पर किसी का

प्रभुत्व ही है।

वह शिव संसार का कारण कैसे हो सकता है? क्योंकि वह असंग है, संसार के रचने की कोई सामग्री उसके पास नहीं है। इसी शंका को दूर करने के लिये "शक्तियुक्त" विशेषण दिया गया है, जब परमेश्वर अपनी अचिन्त्य और अनन्त शक्ति से परिपूर्ण है, तो वह सत्य संकल्प होने के कारण चराचर समस्त विश्व को लीलापूर्वक क्षणभर में रच सकता है। परमेश्वर भी यदि शक्ति रहित है, तो वह कुछ नहीं कर सकता– ऐसा श्री नाथ जी ने कहा है *"शिवोऽपि शक्तिरहितः कर्तुं शक्तो न किंचन"* यहाँ पर यह जान लेना जरूरी है कि शक्ति और शक्ति वाले का नित्य अभेद सम्बन्ध है। जैसे हाथ-पैर-आदि अङ्ग अपने समुदाय अंगी (शरीर) से भिन्न नहीं रह सकता, उसी प्रकार शरीर भी अपने अवयव हस्त-पदादिकों से अलग नहीं रहता। यदि ये दोनों भिन्न भिन्न रहें, तो इनका स्वरूप ही बनना असम्भव हो जाय। इसी प्रकार शक्ति और शक्तिमान् का भी नित्य सम्बन्ध है। इसलिये शिव से उसकी शक्ति कभी भी अलग नहीं हो सकती। इसी कारण श्रीगोरक्षनाथजी ने मंगल श्लोक में 'शक्तियुक्त' ऐसा विशेषण दिया है। शक्ति क्या पदार्थ है? नीचे इसी का उल्लेख किया जाता है–

जैसे गहरे तेज का पुंज चन्द्रमा और उसके चारो तरफ फैला हुआ मन्द प्रकाश चांदनी कहलाती है। उसी प्रकार शुद्ध बुद्ध असंग नित्य और चित् शिव कहलाते हैं और संकोच-विकास-वाली चित्स्वरूप शक्ति कहलाती है। अर्थात् चाँद और उसकी चांदनी की तरह क्रमशः शिव और उसकी शक्ति को समझना चाहिये।

शंका–शक्ति को चिद्रूप कहना महा असंगत है; क्योंकि शक्ति-माया-प्रकृति-तुच्छ-अविद्या-तम इत्यादि पर्याय शब्द हैं। ये सब जड रूप माया के बोधक हैं। और ज्ञान से माया की निवृत्ति होती है- ऐसा श्रुति में भी कहा है : *तम आसीत्, भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः।* इत्यादि। इस प्रकरण के देखने से तो तम-माया-अविद्या इत्यादि नामों से बोधित जो जड़ माया है, उसी का पर्याय यह शक्ति- शब्द है और वह भी जड रूप है। जडरूप शक्ति को चिद्रूप कहना तो आकाश पुष्प के सदृश है तथा वेदादि प्रमाणों से भी विरुद्ध है?

उत्तर—महेश्वर की वह निजशक्ति चिद्रूप है, इसकी पुष्टि तो स्पष्ट रूप से पहले ही चन्द्र-चन्द्रिका- दृष्टान्त से हो चुकी है और आगे भी ग्रन्थकार श्रीगोरक्षनाथजी मूल में स्वयं व्यक्त करेंगे। जब महेश्वर स्वयं चिद्रूप हैं, तो उससे अभिन्न शक्ति को जड़ कहना स्वयं अपनी बुद्धि की ही जड़ता को प्रसिद्ध करना है।

वास्तव में चिद्रूप शक्ति का ज्ञान तो महासिद्ध योगिराजों की ऋतंभरा प्रज्ञा से ही गम्य है, लौकिक प्रमाणों की वहाँ गति नहीं है। इस सिद्धान्त का अनुमोदन समस्त श्रुति और स्मृतियों में भी किया गया है और अन्तिम पंचम अवस्था को प्राप्त हुई; जो चिद्रूप महा कुंडलिनी शक्ति है। उसी के मध्य में छिपी हुई जड महामाया है; जिसको सांख्य और पातञ्जल मतानुयायी जड प्रकृति और प्रधान कहते हैं और वेदान्ती उसको जड माया, तम और अविद्या कहते हैं। यह जडात्मिका त्रिगुण माया असंग शिव की चिद्रूप शक्ति से अधिष्ठित होकर सकल ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करती है। इसी उपर्युक्त भाव का वेद भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करते हैं—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

इत्यादि

जगद्गुरुम्—श्रीआदिनाथजी जगत् अर्थात् समस्त विश्व के गुरु हैं। कारण यह है कि सकल विद्याओं का विस्तार श्रीआदिनाथ महेश्वर से हुआ है और तो क्या जगन्नियन्ता ब्रह्मा-विष्णु-आदि देवताओं को भी सबसे पहले श्रीमहेश्वर ने ही उपदेश दिया था। इसके उपरान्त यह वेदादि विद्या सिद्धों, ऋषियों और मुनियों के द्वारा जगत् में फैली, अतः श्रीआदिनाथजी ही उपर्युक्त परम्परा के द्वारा सब जगत् के गुरु अर्थात् उपदेष्टा हैं। इसीलिये योगाचार्य श्रीगोरक्षनाथजी ने "जगद्गुरु"— ऐसा

मंगल श्लोक में विशेषण दिया है।

गुरु शब्द में दो वर्ण हैं– 'गु' और 'रु', इनका भी अलग अलग अर्थ पाठकों के लिये दिखाते हैं–

सर्व प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित अज्ञान का नाम 'गु' है उस अज्ञान को समूल, नाश करना "रु" का अर्थ है अर्थात् अज्ञाननिवारक और ज्ञान का उपदेश देने वाला सर्वोत्कृष्ट गुरु है।

इस मूल मंगल श्लोक का सारभूत भाव यह है कि जिस श्रीआदिनाथ महेश्वर की महिमा यथार्थ रूप से वेदों में गाई गई है, उसी जगद्गुरु श्रीआदिनाथ ने गोरक्षरूप से प्रकट होकर योग-सम्प्रदाय में अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ और लोककल्याण के लिये इस सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति नामक ग्रन्थ को प्रकाशित किया।

मू०– नास्ति सत्यविचारेऽस्मिन्नुत्पत्तिश्चाण्डपिण्डयोः।
तथापि लोकवृत्त्यर्थं वक्ष्ये सत्सम्प्रदायतः॥२॥

सं०टी० नास्तीति–

[**अस्मिन्**] विवेकमार्गे [**सत्य विचारे**] सत्यंश्चासौ विचारः, तस्मिन् सति यथार्थविचारणायां सत्यां [**अण्डपिण्डयोः**] अण्डपदेन ब्रह्माण्डः गृह्यते पिण्डपदेन, अस्मदादिव्यष्टिशरीरम्। तथा च भूतभौतिक-निखिलविरञ्चिप्रपञ्चस्य [**उत्पत्तिः**] जन्म [**नास्ति**] प्रमाणेन न सिद्ध्यति, तथा च अजातवादपक्ष एव महतां माननीयः, उत्तरमाधिकारिणां कृते च तस्यैवोपदेशः। अत एव अस्यैव वादस्याभ्यर्हितत्त्वं परैरपि विस्तरेण व्युत्पादितं स्वस्वग्रन्थे। न च तदीयमेव मतमत्र स्वग्रन्थेऽनुद्यते इति वाच्यम्–तदीय ग्रन्थेभ्योऽस्य प्राचीनत्वेन; तदीयानुवादकत्वस्यासंभवेन एतदनुवादकत्वस्यैव तत्र कल्पने सामञ्जस्यात्। अन्यथा वेदस्यापि अनुवादकत्वं कथं न ब्रूषे येन वेदादपि गरीयान् भवेत्। यदि च समस्तजनप्रसिद्धं वेदस्य प्राचीनत्वं ते निर्गलतुण्डं तोडयति, तदा एतद्ग्रन्थकर्त्तुराचार्यपादस्य अवतरतः, श्रीदत्तात्रेयसमकालीनत्वं स्वीकुर्वद्भिः श्रीशाङ्करमतानुयायिभिरेव चपेटा न प्रदीयेतेति का प्रत्याशा इत्यलं तैः सह निरर्गलप्रलापेन। ये हि खमपि मुष्टिना जिघृक्षन्ति। वस्तुतस्तु सिद्धान्तस्यानादितया तत्प्रवर्त्तका एव तत्तदाचार्याः

तत्र केचित् पूर्वम् अपरे परं स्वस्वसमये ह्रसतोंऽशस्य विस्तरेण व्याख्यानं चक्रुः शेषस्य च सूक्ष्मेण न तावता कस्यापि वैमत्यम्। यन्मतं मानवकपोल-कल्पितं तत्तदाधुनिकोत्प्रेक्षिततया हेयमेव। अथाजातवादसिद्धिप्रकारः। तथा हि उत्पत्तेः प्राग् घटः स्वोपादाने वर्त्तमानो न वेति विप्रतिपत्ता आद्यकोटिः सांख्यानां द्वितीयकोटिर्नैयायिकानाम्। तत्र प्रथम पक्षे दोषः। यदि सन्नेव घटो मृदि, तदा तदुत्पत्त्यर्थं दण्डचक्रादीनां व्यापारो व्यर्थ एव।

न च आविर्भावार्थमेव तस्य साफल्यम्, यथा वटधानायां सूक्ष्मरूपेण विद्यमान एव वटः क्षितिसलिलपवनादिना प्राकाश्यं नियते, रूपान्तरेणाच्छादि-तस्य वस्तुनः आवरणापनयद्वारा कारकव्यापारतः प्रकटकरणमेवाविर्भावः। अयमेव परिणामवाद इति वाच्यम्—दण्डव्यापारात्प्रागाविर्भावो विद्यमानो न वेति विकल्पे विद्यमानत्वे तस्याप्याविर्भावः इत्येवं कल्पनेऽनवस्थापातात्, न वा पक्षावलम्बने असत्या अपि आविर्भावक्रियाया उत्पत्तिस्वीकारे। अन्ते रण्डाविवाहः स्यादादावेव कुतो न हीति न्यायेन असत एव घटस्योत्पत्तिस्वीकारे बाधकाभावाच्च, वटधानादृष्टान्तस्य च साध्यकोटिनिक्षिप्ततया उभयसम्मत-त्वाभावेन दृष्टान्तस्यैवासंप्रतिपन्नत्वात्।

तथा च असन्नेव घट उत्पत्तिमान् अदृष्टत्वे सति दृष्टिगोचरत्वात्, आविर्भाववत् सन् घटः; नोत्पद्यते सत्त्वात् आत्मवत् इत्यनुमाने निर्बाधप्रसरे।

अतएव नैयायिकाः असद्वादमेवावलम्बन्ते, किन्तु निपुणतरविवेचने तदपि निःसारतरम्। तथा हि यदि उत्पत्तेः प्रागसतो घटस्य कारणकलापेन सम्बन्धविरहेऽपि समुत्पत्तिः, तदा गगनकुसुमस्यापि कथं नोत्पत्तिरिति प्रश्ने तद्व्यवस्थायै प्रागभाव एव कारणं भवति न तु तदरिक्तोऽभावः इत्यादि नियमस्य यस्य कस्यचिदवलम्बने प्रागभावस्यात्यन्ताभावादितः येन वैलक्षण्यं तेनैव रूपेण तत्र कार्यस्य तद्भावापत्तौ सद्वादपादावलम्बनस्यैव शरणी-कर्त्तव्यत्वपातः कष्टतरं लज्जास्पदं तेषाम्। तथा च असन् घटः नोत्पद्यते, असत्वात्, शशशृङ्गवत् इत्यनुमानानुचरचपेटावारकः कः। इत्थं तयोर्विवादं विलोक्य धीराः महान्त उभयतो विनिसृत्य स्वतः सिद्धे सदात्मनि शिवे भारमवलम्ब्य कृतार्थतां मन्वते। यदा कथं संसृतेः प्रतीतिः किञ्चास्य निदानमिति केनचित् बहुकृत्वः पृष्टस्तदा विवर्तरूपेणेयं प्रतीतिरिति-पराभिमत्योत्तरं ब्रूते न तु तात्पर्येण। अतः परमविरक्तोत्तमाधिकारिणां

स्वदृष्ट्या अजातिवादः। उपदेशसमये विवर्त्तवाद इति स्वरसतः प्रतीयते।

ननु वेदान्तिमतादस्य को भेदः? अन्यथा तेनैव गतार्थतया नास्य प्रस्थानान्तरत्वम् इति चेत्– शृणु रहस्यम्। तत्र चिन्मात्रस्यैवाधिष्ठानत्व-मुररीकृत्य प्रपञ्चवर्णनम्। अत्र तु कूटस्थचित् शिवः तस्य संकोच-विकाशावस्था शक्तिः सा चिद्रूपा न तु जडात्मिका उभौ अधिष्ठानकोटौ समावेश्य प्रपञ्चवर्णनमिति भेदोऽनुपदं विवेचिष्यते स्वयमेव ग्रन्थकृत्पादैः। किञ्च व्यवहारदशामवलम्ब्य सृष्टिवर्णनप्रक्रियाऽपि सुसूक्ष्मतमेत्यनुपद-स्फुटीभविष्यति। किञ्च उपनिषदा सह समानार्थत्वे प्रामाण्यमेवास्य प्रमाणान्तरेण विरोधाभावात्। अथवा सत्यस्य शक्तिसहितस्य सदाशिवस्य **[सत्य विचारे]** विवेके सति यतः कस्याप्यन्यस्य पार्थक्येन सत्ताविरहतया **[अण्डपिण्डयोः उत्पत्तिः]** असतः सद्भावात्मकं जन्म **[नास्तिः]** किन्तु शक्तिसहितः श्रीसदाशिवः सूक्ष्मरूपेण स्वात्मनि स्थितानेव पदार्थान् परिणामरूपेण सृष्टिसमये विकाशयति, लये सङ्कोचयति। अतः अवस्थाया आगमापायित्वेऽपि नासद्वादपक्षः। अतएव–

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"

इति सद्वादपक्षस्यैवाभ्यर्हितत्वं स्वीकृतं गीतायां भगवतापि एवं च अवस्थाया आगन्तुकतया पदार्थकोटौ न गणना। अवस्थावतां सदासद्भावेन पदार्थत्वं व्यवह्रियते, अतः पदार्थो नासन् इति सिद्धान्ते न कोऽपि बाधः। यदप्यनुमानमुपन्यस्तम् असन्नेव घट उत्पत्तिमान् इत्यादि तदपि उत्पत्तेः प्राग् घटस्यैव शशशृङ्गायमानतया आश्रयासिद्धिः, पश्चाच्चोत्पन्नत्वेनोत्पत्तिसाधने सिद्धिसाधनम्। हेतुरस्तु, साध्यं मास्त्वित्यनुयोगे विपक्षबाधकतर्काभावः पटावृत-घटस्यावरणापनयने व्यभिचारः इत्यादि दोषग्राहनिकरकवलग्रस्तम् द्वितीयानुमाने उत्पत्तिपदार्थस्यैवाद्यावधि, अनिर्णीतत्वेन साध्या प्रसिद्धिः; तस्मात्परिणाम-पक्ष एवाचार्य्यसम्मतः। न च साङ्ख्येन गतार्थता, तैः शक्तेः अचिद्रूपत्वेन, आत्मनश्च शक्तिशून्यचिद्रूपासङ्गत्वेन स्वीकारे सदा शक्तिसम्बद्धचिद्रूप-सदाशिवस्यावर्णानात्। एवञ्च परिणामपक्ष एवाचार्य्याभिमतः, अनयोः कतरत् युक्ततरमिति स्वयमेव सुधियो विवेचयन्तु। लक्ष्यसिद्धिस्तूभयोः समैव। तथापि **लोकवृत्त्यर्थं** लोके व्यापारसाफल्यप्रदर्शनार्थं मन्दबुद्धिमनुसृत्य **वक्ष्ये सत्** इति मूले असत् इतिच्छेदः असत् सम्प्रदायतः। असद्वादरूपेणाप्युत्पत्तिं वक्ष्ये इत्यन्वयः–मन्दानाम् ऋजुरीत्या बोधायैवाऽसद्वादपक्षो न तु स्वच्छः,

वलक्षपक्षश्च सत्सम्प्रदाय एवाचार्य्यपादस्वरसकबलीकृत इति ध्वनिरिति दिक्।

हिन्दी टीका

नास्तीति–

यद्यपि यथार्थ विचार करने पर ब्रह्माण्ड और अस्मदादि शरीर वर्ग की उत्पत्ति किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि कूटस्थ, असंग, चित आदिनाथ की सत्ता से पृथक् जगत् की सत्ता नहीं है और इससे अजातिवाद सिद्ध होता है। तथापि लोक में व्यवहार के लिये सत्कार्यवाद की रीति से अंड और पिंड की उत्पत्ति को आगे कही प्रणाली के द्वारा कहूँगा। इससे परिणामवाद सिद्ध हुआ। अर्थात् श्लोक के पूर्वार्ध से अजातिवाद और उत्तरार्ध से परिणामवाद निकलता है। परिणामवाद का दूसरा नाम सत्कार्यवाद भी है तथा अजातिवाद का ही रूपान्तर विवर्तवाद है। अजातिवाद-शब्द का अर्थ उत्पत्ति प्रमाणसिद्ध नहीं, किन्तु माया का विलासरूप पदार्थ स्वप्न के पदार्थ की तरह झूठा है। इस प्रकार से जहाँ उत्पत्ति का निषेध होता है उसी को अजातिवाद कहते हैं। अंड पिण्ड की उत्पत्ति प्रमाणों के द्वारा क्यों नहीं सिद्ध होती, इसका उत्तर यह है कि नाथ तत्त्व की सत्ता से पृथक् भूत भौतिक जगत् की सत्ता ही नहीं; जिसका प्रमाणों से निरूपण किया जाय। किन्तु अविद्या का स्वभाव है कि कुछ का कुछ दिखला देना, जैसे स्वप्न में अनेक हाथी, घोड़े, रथ, पर्वत, सागर, आकाश, पाताल, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि विचित्र भूत भौतिक दृश्यमान प्रपंच केवल अविद्या के प्रभाव से दिखाई देता है; क्योंकि जिसका आदि अन्त नहीं वह वर्तमान में भी नहीं के बराबर है। स्वप्न के जगत् से व्यवहारिक जगत् का फर्क केवल इतना ही है कि स्वप्न का भ्रम नींद टूट जाने पर बाधित हो जाता है और जाग्रत् प्रपंच चिरकाल में ब्रह्मज्ञान से बाधित होता है; अर्थात् श्रीआदिनाथजी की कृपा का फलरूप जो तत्त्वज्ञान है, उसके बिना जन्म मरणरूप दारुण दुःखमय संसार का उच्छेद नहीं होता। आत्मसाक्षात्कार से ही इसकी निवृति होती है; क्योंकि ज्ञान सूर्य के उदय हो जाने पर

अन्धकाररूप अविद्या नहीं रह सकती देखने में भी आता हैं कि जहाँ अविद्या का प्रभाव नहीं है, वहाँ संसार का भी भान नहीं होता। जैसे समाधि अवस्था में आत्मा ज्योति के अतिरिक्त अन्य वस्तु का भान नहीं होता और तो क्या अहंभाव भी नहीं रहता। केवल कूटस्थ सच्चिदानन्द स्वयं ज्योति आत्मा का ही भान होता है। इससे साफ मालूम होता है कि यहाँ तक जितनी अधिक अविद्या की गति है, वहाँ उतना ही अधिक मोह, माया, राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार आदि का पसारा है। केवल एक अखण्ड आत्मा ही सच्चा है। यह उपर्युक्त अजातिवाद की शैली है। इसी रीति को लेकर आचार्य उत्तम अधिकारी के लिये उपदेश किया करते हैं; क्योंकि इस प्रणाली से उत्तम अधिकारी को शीघ्र आत्मबोध हो जाता है। अत एव आचार्य से सुशिक्षित शिष्य आत्मा से भिन्न सबको मिथ्या जानकर सांसारिक विषयों में राग-द्वेषादि न करता हुआ निरन्तर आत्मचिन्तन में लगा रहता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह अजातिवाद प्राचीन सिद्धों का माना हुआ सर्वोच्च आदरणीय सिद्धान्त है। इस अजातिवाद की प्रणाली से ही मत्स्येन्द्रनाथादि सिद्धों ने असंख्य उत्तमाधिकारियों को ब्रह्मज्ञान के उपदेश द्वारा मोक्षधाम को पहुँचा कर कृतार्थ किया। श्रीमत्स्येन्द्रनाथ और जलन्धरनाथादि सिद्धों से लेकर श्रीगोरक्षनाथ और दत्तात्रेय आदि सिद्धों ने इस सिद्धान्त को माना है। इसी मत का श्रीव्यासजी ने पुराणों तथा वेदान्तदर्शन में अनुवाद किया है। इसके उपरान्त सिद्ध विचारनाथ भर्तृहरि ने भी स्वनिर्मित वाक्यपदीय आदि बहुत से ग्रन्थों में अजातिवाद का जो रूपान्तर विवर्त है, उसी का वर्णन किया है –

"अनादि निधनं ब्रह्म" इत्यादि।

वाक्यपदीय के मंगलाचरण श्लोक में ही विवर्त-पद का प्रयोग करने से सिद्ध विचारनाथ भर्तृहरि जी का भी विवर्तवाद अत्यन्त अभिप्रेत सिद्धान्त है। इसके बाद वेदान्तभाष्यकर्ताओं ने अपने ग्रन्थों में इसी सिद्धान्त को अपनाकर समर्थन किया है। वास्तव में वस्तु का स्वरूप तो जैसा का तैसा ही रहता है, पर अविद्या के बल से वह वस्तु विपरीत आकार में दिखाई देती है। जैसे रज्जु आदि का विवर्त सर्प होता है। जहाँ पर रज्जु मन्द अन्धकार में पड़ी हुई है, उस समय उसका ठीक ज्ञान

न होकर लम्वायमान कुछ है। इस प्रकार; सामान्य अंश का ज्ञान और विशेष अंश का अज्ञान होने से उसी समय पूर्वदृष्ट सर्प-विषयक संस्कारों का उद्‌बोध होता है। उस उद्‌बुद्ध संस्कार और अविद्या के बल से तत्काल वह रज्जु सर्प रूप दिखाई देने लगती है। इसी प्रकार यह संसार ब्रह्म का विवर्त है ब्रह्म तो अपने स्वरूप में जैसा का तैसा अखण्ड ही है, परन्तु पूर्व २ देखे गये संसार-विषयक संस्कार और अविद्या के बल से शुद्ध चित् कूटस्थ, असङ्ग आदिनाथ ही मिथ्या संसाररूप से लोगों को प्रतीयमान हो रहे हैं। परन्तु जब तक परमनाथतत्व का ज्ञान नहीं होता तब तक रागद्वेष, शीतोष्ण और सुखदुःखादि का द्वन्द्वरूप संसार बना ही रहता है। केवल स्वानुभववेद्य आदिनाथ के विशेष ज्ञान से ही इस मिथ्या जगत् की निवृत्ति होती है।

उत्तमाधिकारी के लिये अजातिवाद का उपदेश देकर मध्यम अधिकारी के लिये परिणामवाद की रीति को कहते हैं। पूर्वोक्त प्रकार से यद्यपि अण्ड-पिण्ड की उत्पत्ति प्रमाण सिद्ध है, तथापि लोक व्यवहार के लिये सत्कार्यवाद की रीति से सबके लिये हिंतकारी अण्ड पिण्ड की उत्पत्ति कहता हूँ; क्योंकि अण्ड-पिण्ड के ज्ञानपूर्वक आत्मज्ञान सबको सुगमता से होगा।

दूसरे आकार में बदल जाने को परिणाम कहते हैं, जैसे दूध का दही परिणाम होता है। इसी प्रकार प्रकृति का परिणामरूप यह संसार है। जैसी त्रिगुणस्वरूप जड़ माया है, वैसा ही उसका कार्यभूत शीतोष्ण सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोहात्मक संसार है। इस संसार में शुभाशुभ कर्मरूपी पाश में बँधा हुआ यह प्राणी जन्म मरणादि दुःखों की परम्परा को पराधीन होकर सहन करता है। अतः जन्म मरणरूप अगाध संसार-सागर से पार होने के लिये तत्त्वज्ञानी महात्मा की शरण में पहुँचकर आत्मा पर को विचार करे।

यद्यपि नैयायिक कार्य को उत्पत्ति से पहले असत् कहते हैं, और कारक व्यापार द्वारा उत्पत्ति के बाद सत् कहते हैं। जैसे सृष्टि से पहले महाप्रलय में ये पृथिवी आदि समस्त भूत भौतिक कार्य असत् थे। किन्तु केवल परमाणु आदि नित्य पदार्थ ही विद्यमान थे। पीछे सृष्टि के आरम्भकाल में उन परमाणुओं के संयोग द्वारा द्व्यणुक, त्र्यणुक इत्यादि

क्रम से जब समस्त कार्य उत्पन्न हुआ, तब पीछे वह सत्स्वरूप हुआ। इसी का नाम आरम्भवाद है। तथापि यह मत आचार्य को रुचिकर न होने से दूसरे श्लोक के पूर्वार्ध में इसका खंडन किया गया है। आरम्भवाद के खंडन में प्रधान युक्ति नीचे दी जाती है–

यदि कारण में अविद्यमान कार्य कारक के व्यापार से उत्पन्न हो जाय, तो शशशृंग–आकाशपुष्प–आदि भी उत्पन्न हो जायेंगे और तैल आदि कार्य की अभिव्यक्ति करने के लिये नियत रूप से उत्पत्ति से पूर्व तिल आदि कारण का भी ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि उत्पत्ति से पहले यदि तैल असत् है, तो बालु से भी कारक व्यापार द्वारा तेल की उत्पत्ति हो जानी चाहिए। और कार्य असत्स्वरूप हो, तो उसका सम्बन्ध भी कारण के साथ कभी नहीं हो सकता; कारण कि दोनों सम्बन्धियों के विद्यमान होने पर ही सम्बन्ध होता है। अतः यह आरम्भवाद समस्त युक्ति और प्रमाणों से विरुद्ध है। वेद ने भी सत्कार्यवाद का ही समर्थन किया है : *"सदेवसौम्येदमग्र आसीत्"* तथा गीता मे भी– *"नासतो विद्यते भावः"* इत्यादि।

मू०– सा पिण्डोत्पत्त्यादिः सिद्धमते सम्यक् प्रसिद्धा पिण्डोत्पत्तिः १ पिण्डविचारः २ पिण्डसंवित्तिः ३ पिण्डाधारः ४ पिण्डपदसमरसभावः ५ श्रीनित्यपिण्डावधूतः ६

संस्कृत टीका

[**पिण्डोत्पत्त्यादिः**] पिण्डोत्पत्तिः आदिर्यस्याम् [**सा**] पद्धतिः [**सिद्धमते**] सिद्धानां ऋतम्भरप्रज्ञामधिष्ठितानाम् "मते" अनुभवे [**सम्यक्**] संशयविभ्रमानाक्रान्ततया [**प्रसिद्धा**] विषयीभूता इत्यर्थः। अयंभावः, ये हि सिद्धास्तेषां स्वानुभवगोचरीभूता एवैते पदार्थाः– अतस्तेषां सन्देहलेशोऽपि नोदेति ये च केवलतार्किकाः पदे पदे सन्दिहानास्तर्कैस्तत्त्वं विनिश्चेतुमिच्छन्ति ते भ्राम्यन्ति भ्रमन्तु नाम तेषां नात्राधिकारः, तर्कागम्य पदार्थस्यात्र वर्णनेन समानविषयत्वाभावात्। अनेन समरसकरणद्वारा परमपुरुषार्थसिद्धिः फलम्, तत्प्रेप्सुरधिकारी समरसकरणादयो विषयाः प्रतिपाद्यप्रतिपादकाभावः सम्बन्ध इति प्रेक्षावत्प्रवृत्त्युपयोग्यनुबन्धचतुष्टयं प्रदर्शितम् समरस पदार्थस्त्वग्रे वक्ष्यते।

अनुबन्धत्वञ्च प्रवृत्तिजनकज्ञानत्वम्। प्रवृत्तिजनकज्ञानन्तु, अयं मां प्रेरयतीति ज्ञानानन्तरप्रवृतिदर्शनात्, भावनाज्ञानमेवेति भाट्टाः। इदं मम कार्यमिति ज्ञानादेव प्रवृत्तिर्लोकानामतः कार्यत्वज्ञानमेवेति प्राभाकाराः। इदं मत्कृतिसाध्यं मदिष्टसाधनं बलवदनर्थाज्ञानत्रयादेव प्रवृत्तिर्नत्वेकैकज्ञानात्। तथाहि प्रथमज्ञानमात्रात् जलताडने द्वितीयज्ञानमात्रात् चन्द्रानयने तृतीयास्वीकारे मधु, विषसम्पृक्तान्नभोजने प्रवृत्तिरापद्यते। अतो ज्ञानत्रयमेवेति नैयायिकाः इष्टसाधनत्वज्ञानमेवेति शाब्दिकोदयनाचार्य्यवेदान्तिनः इत्येवमस्तु परस्परं स्वरूपवर्णने वैमत्यं किन्तूक्तज्ञानविषयता अधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धेषु सकलैः सम्मता इति। चतुर्ष्वपि अनुबन्धत्वं निर्विवादमिति दिक्। प्रस्थानेऽस्मिन् षडुपदेशाः सन्ति तत्र प्रत्येकं वर्णनीयविषयानां प्रथमतः समासेन नामानि निर्दिशति पिण्डोत्पत्त्यादिरिति संक्षेपविस्ताराभ्यां हि व्याख्यानं झटिति श्रोतुश्चित्ते समाविशति स्पष्टत्वात् प्रतिपदवर्णनं नापेक्ष्यते पिण्डपदेन शरीरेन्द्रियादीनां ग्रहणं ज्ञेयम्।

अथ हिन्दी टीका

इस ग्रन्थ में निम्नलिखित छः उपदेश हैं और यह ग्रन्थ सिद्धों के मत में अत्यन्त आदरणीय है। अतः इसको प्रकाशित करता हूँ।

१. विशेषरूप से पिण्ड की उत्पत्ति तथा गौणरूप से अन्य विषय का भी निरूपण करने वाले प्रकरण को इस पद्धति का प्रथम उपदेश कहते हैं।

२. पिण्ड के विचार को अच्छी प्रकार बताने वाला इस पद्धति का द्वितीय उपदेश है।

३. विशेषरूप से पिण्ड के ज्ञान का निरूपण करने वाला इस पद्धति का तृतीय उपदेश है।

४. शरीरस्थ चक्र तथा आधारादि का प्रधानरूप से वर्णन करने वाला भाग इस ग्रन्थ का चौथा उपदेश है।

५. पिण्डपद की सिद्धि के लिये समरस भाव को कहने वाला इसका पंचम उपदेश है। पिण्डपद समरस भाव का अर्थ पंचम उपदेश में स्वयं योगाचार्य श्रीगोरक्षनाथजी मूल ग्रन्थ में समझायेंगे।

६. कार्यसिद्ध और परम पूज्य अवधूत योगियों के लक्षण का वर्णन करने वाला इसका छठा उपदेश है।

ग्रन्थ के पढ़ने में लोगों की प्रवृति तब होती है, जब उसका विषय तथा प्रयोजन का ज्ञान हो जाय। अतः इस ग्रन्थ में प्रवृति के लिये शक्ति सहित आदिनाथरूप विषय और उसके ज्ञान द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष– इन चारों पदार्थों की प्राप्तिरूप प्रयोजन आचार्य ने दिखाया है।

मू०–यदा नास्ति स्वयंकर्ता कारणं न कुलाकुलम्।
अव्यक्तञ्च परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा॥४॥

संस्कृतटीका

[यदा] दृश्यमानसृष्ट्युत्पत्तेः पूर्वसृष्टेरासन्नसमये आसन्नत्वबोधनायैव अस्तीत्यत्र वर्तमानसामीप्ये लट् **[स्वयं]** ब्रह्म **[कर्ता नास्ति]** कर्तृत्वरहितः आसीत् यद्यपि तस्यासंगतयाकर्तृत्वराहित्यम्- सदैव तथापि सृष्टिसमये कृत्या आध्यासिकसम्बन्धसद्भावः, इतरथा तत्कर्त्तृत्वमेव न संघटेत; किन्तु तस्यापि तत्समये अभाव इति ध्वनितम् **[न कुलाकुलम्]** कुलेन भूतभौतिकसृष्टिसमूहेन आकुलं, व्याप्तम् कारणम् उपादानसामग्रीसहितं नासीत् भूतभौतिककार्यं तदुपादानं प्रबुद्धशक्तिरूपं च नासीत् इति ध्वन्यते प्रलीनं सूक्ष्मतया आसीत् इति तु न विस्मर्त्तव्यं सद्वादिभिः। अथवा कुलाकुलमिति स्वतन्त्रम् विशेषणम् ब्रह्मणि। तथा च कुलं सर्वेषां कारणस्वरूपयोग्यम् "अकुलम्" कुलं कारणं न विद्यते यस्येति बहुव्रीहिः स्वस्य कारणं नान्यत् इति यावत् मूलतत्त्वमिदमितिध्वनितम्। अथवा कुलं शाक्तक्रमः, अकुलं योगक्रमश्च नासीदित्यर्थस्तान्त्रिकः **[अव्यक्तम्]** रूपरहितम् **[अनाम]** नामरहितं तदा द्वैताभावे व्यवहाराभावात् ब्रह्मसंज्ञाऽपि नासीत् **[परम्]** अपरिच्छिन्नम् सजातीयविजातीयस्वगतभेदत्रयशून्यम्। अत एव **[ब्रह्म]** व्यापकम् **[आविद्यते]** स्वप्रकाशरूपः भावपदार्थः कश्चित् आसीत् न तु शून्यरूप इति शून्यवादबौद्धमतं निरसितम् वेदेऽपि सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् इत्युपवर्णितम्। **[असदेवसोम्येदम्]** इति पूर्वपक्षमुपदर्श्य कथमसतः संजायेतेत्यादिना क्षिप्यान्ते **[सदेव सौम्य]** इत्येव निर्धारितम्- अयं भावः अभावात् भावोत्पत्तिस्वीकारे शशशृङ्गादपि

शस्यमुत्पद्येत। तथा च सर्वत्रैव कार्यकारणभावव्यवस्थोच्छेदे कार्यार्थिनां कारणविशेषोपादाननियमस्याना श्वास एव स्यात् इत्यादि युक्त्या शून्यवादबौद्धमतखण्डनप्रकारो ब्रह्ममीमांसादौ विस्तरेण प्रपञ्चितः विस्तार-भयान्नेह इति वाद एव गरीयानिति। इदमत्र निर्गलितम्– तदा सर्वेषां सूक्ष्मरूपेणावस्थानेऽपि ब्रह्मणः स्वानुभवात् पार्थक्येनानुभवविषयत्वाभावात् किञ्चिदपि नासीत् ब्रह्म तु स्वसाक्षिकतया आसीत्। यथा समाधिमाधाय स्थितः कश्चित् द्वैतजातमपश्यन्नपि स्वसाक्षितया स्वात्मानं न निषेधति नाहमिति अहमाकारवृत्तिविरहतयाहमस्मीति बोधविरहेऽपि स्वरूपमनुभूयत एव। अत एव उत्थानसमये संजाताहंकारविशेषणेन विशिष्य तमेव स्मरति अहमासमिति। यदि स्वरूपानुभवो नासीत् तदा नाहमासम् इत्यपि स्मर्त्तव्यम्, न च कदापि तथा स्मरति। तस्मात् सिद्धं सर्वेषामभावेऽपि स्वस्वरूपानुभवो न जातु व्यभिचरतीति दिक्।

हिन्दी टीका

सृष्टि की उत्पत्ति से पहले आदिनाथ कर्तृत्वधर्म सहित नहीं था; क्योंकि जब कर्म की ही सत्ता नहीं, तो कर्ता किसका कहलावे। इसीलिये उस महाप्रलय में वह किसी का कारण भी नहीं हो सकता; क्योंकि किसी कार्य के प्रति ही कारण में कारणता आती है। जब उस अव्यक्त अवस्था में कोई कार्य ही नहीं था, तो उस समय किसी का कारण भी कैसे कहला सकता है। तथा उस महाप्रलय में कुल और अकुल का व्यवहार भी नहीं था। यहाँ 'कुल'- पद से शक्तिक्रम और 'अकुल' से योगक्रम जानना चाहिए। 'कुल' अर्थात् सृष्टि अवस्था-विशिष्ट चेतन की उपासना। इसी का तान्त्रिक नाम 'श्रीकुल' है तथा प्रलयावस्थाविशिष्ट चेतन की उपासना भी 'कुल' कहलाती है, इसका तान्त्रिक संकेत 'कालीकुल' है। इस दोनों (श्रीकुल और कालीकुल) का व्यवहार कुलपद से होता है। इन दोनों में जब किसी एक की सिद्धि हो जाती है, तब वह अधिकारी 'अकुल' पद को प्राप्त होता है, उसी का 'पूर्णाभिषेकी'- ऐसा तांत्रिक नाम है। अभिप्रायः कुलावस्था में निष्काम कर्म में निष्ठा रहती है और अकुलावस्था में परिपक्व योग में निष्ठा हो जाती है। अतः निष्काम कर्म निष्ठा का नाम 'शक्तिक्रम'

जानना, उसी का दूसरा नाम कुल है और परिपक्व योगनिष्ठा का नाम 'योगक्रम' है। उसी का दूसरा नाम 'अकुल' भी है। कुल-पद बोधित शक्तिक्रम में पूज्य-पूजक-भाव रहता है और अकुल-पद-वाच्य योगक्रम में योज्य-योजक-भाव रहता है। जब उस महाप्रलय में कुल और अकुल- इन दोनों का भी विलय हो जाता है, तब उस अखण्ड कूटस्थ असङ्ग चित्स्वरूप श्रीआदिनाथ में कुलाकुल का व्यवहार भी नहीं रहता। अथवा शुद्ध अखंड ब्रह्म में कुल (व्यक्तावस्था) और अकुल (अव्यक्तावस्था)– इन दोनों का भी महाप्रलय में अभाव रहता है। अतः उस समय वह परमेश्वर कुलाकुलभाव से भी रहित है और उस समय परब्रह्म में कारणता भी नहीं थी। कुलाकुल शब्द के प्रथम अर्थ के पक्ष में 'अव्यक्त' इस मूल पद से ब्रह्म में कारणता का निषेध जानना और तृतीय पक्ष में अव्यक्त यह पद ब्रह्म का विशेषण जानना चाहिए।

शंका–तब तो बौद्ध मत से अभिमत शून्यता का ही यहाँ परिचय हुआ।

उत्तर–उस समय नाम से रहित तथा सजातीय विजातीय स्वगत-इन तीन भेदों से शून्य केवल एक परब्रह्म था। उससे अतिरिक्त कुछ नहीं था। ऐसा सिद्ध योगिराजों का सिद्धान्त है।

इसी भाव को स्पष्ट करते हुये पूज्यपाद योगाचार्य श्रीमत्स्येन्द्रनाथ जी ने वर्णन किया है कि–

न ब्रह्मा विष्णु रुद्रौ न सुरपतिसुरा
नै व पृथ्वी न चापो।
नैवाग्निर्नापि वायुर्न च
गगनतलं नो दिशो नैव कालः॥
नो वेदा नैव यज्ञा न च रवि
शशिनौ नो विधिर्नैव कल्पाः।
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति
तव पदं सच्चिदानन्दमूर्ते॥

मू०–अनामेति स्वयमनादिसिद्धम् एकमेवानादिनिधनं सिद्धसिद्धान्तप्रसिद्धं तस्येच्छामात्रधर्माधर्मिणी निजा शक्तिः प्रसिद्धा॥५॥

संस्कृतटीका

अस्मिन् ग्रन्थे गद्यप्रधानात्मकता क्वचिच्च पद्येनापि वर्णनं पद्यते। इयं शैली वेदस्य ब्राह्मणभागेऽपि प्राप्यते। इमामेव शैलीमनुसृत्य वाचस्पति-प्रभृतयोऽपि गद्येन व्याख्याने प्रस्तुते क्वचिदादौ क्वचिदन्ते श्लोकरूपेणोपव-बन्धुरिति प्राचीनग्रन्थावलोकनतत्पराणां नाविदितम्। गद्येन व्याख्यानं प्रस्तुवन् तमेव कूटस्थं स्मारयति [**अनामेत्यादि**]। अतः पुनरुक्तदोषोद्भावक-मुखं शैल्यनवबोधपङ्ककलङ्केन मलिनीकृतम्।

[**स्वयमनादिसिद्धम्**] स्वस्य कारणं नान्यदित्यर्थः [**एकम्**] सजातीयद्वितीयरहितम् [**एवेत्यनेन विजातीयभेदशून्यम्**] [**अनादि-निधनम्**] प्रागभावध्वंसाभावाप्रतियोगि। अन्योन्याभावनिषेधेनात्यन्ताभावोऽपि निरस्तः। तथा च; निखिलाभावप्रतियोगितानवच्छेदकभावत्वविशिष्टः शिव एव कूटस्थः सर्वेषां मूलकारणम् [**सिद्धसिद्धान्तप्रसिद्धम्**] सिद्धसम्मतम्। ननु भावत्वधर्मं शक्तिं चादाय भेद इति चेन्न धर्मधर्मिणोः शक्तिशक्तिमतोश्च तादात्म्यमिति सिद्धान्तेनादोषात् तस्य सङ्कोचविकाशावस्था शक्तिः सापि चिद्रूपा शिवेन सह नित्यसंसृष्टा, न तु सांख्यमतवत् जडा वा वेदान्तिमतवद् अनिर्वचनीया विनाशशीला। अत एव स्वयमेवाग्रे वक्ष्यते– [**अन्तरं नैवं जानीयाच् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव शैवागमेप्युक्तम्**] [**न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः**] इति अस्याः सृष्टिसम्पादने या याऽवस्थोपजायते तस्याः प्रत्येकं पृथङ्नामनिर्देशेन पञ्चविधत्वमुपपादयति [**निजेत्यादि**]। अत्र सर्वत्रैव पञ्चप्रकारतयैवोपर्वणने किं प्रयोजनमिति ब्रुवन्तं प्रतिब्रुवीत पञ्चभूतात्मिकैव सृष्टिरितिसकलैरेव दार्शनिकैरङ्गीकृतम् तान् प्रत्यपि प्रष्टव्यं यत् कुत एतत् भूतद्वयात्मकमेव कथं नेति। यदि च ते समादधते।

सृष्टौ पञ्चानामपि स्वरूपाणि फलानि च पृथक् पृथगुपलभ्य समेषां सद्भावोऽकामेनापि बलादङ्गीकरणीय इति तदा तैरेव भवतप्रश्नस्याप्युत्तरं प्रदत्तम्। किन्तु स्थूलदर्शित्वान्नावधारयसि किञ्च तैरपि भवत्स्थूलदृष्टि-मनुसरद्भिरपलप्य सत् सम्प्रदायपद्धतिं यथेच्छ प्रातिकूल्येनोपवर्णिताः पदार्थाः स्वस्वदर्शने। अतोऽद्धा विप्रलब्धोऽसि तैर्यत एवं भाषसे; सूक्ष्मदृष्ट्या तु सर्वत्रैव पञ्चविधत्वम् ऋते कूटस्थात्। अतस्तामेव वास्तविकीं स्थितिमादाय

निरुप्यते पञ्चविधत्वम्। न तु श्रोतृबुद्धिप्ररोचनाय स्वेच्छया व्युत्क्रम्य कृता व्याख्या। किञ्च कार्ये पञ्चविधत्वं दृष्ट्वा कारणेऽपि तदनुमातव्यमिति सरलसरणिः। विमतं कारणं पञ्चविधम्; पञ्चविधकार्योपादानत्वात्। यत्रैवं तत्रैवं घटवदिति सामान्यतो व्याप्तिग्रहः। अनन्तरं पक्षधर्मताविशेषवलाद् विशेषसाध्यसिद्धिः।

ननु वेदे न क्वापीत्थमभिहितमिति चेत् शृणु। *'पाङ्क्तं वा इदं सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पांक्तं स्पृणोति'* इति (तै०७ अनुवाकं) तस्यार्थः सर्वो हि संसारः पंचावयवात्मकोऽतः

"पंचपदा पङ्क्तिः" इति पङ्क्तच्छन्दसः लक्षणानुसारेण पञ्चावयवात्मकपङ्क्तच्छन्दोदृष्ट्या उपास्यः, तदुपासनेन पंचाक्यवात्मकं प्रजापतिं प्राप्नोतीत्यर्थः। अनेन स्पष्टमेवोक्तम् यत् कार्यरूपसंसारस्य कारणरूपप्रजापतेश्च पञ्चावयवात्मकत्वमस्तीति– भगवद्व्यासपादेनापि गरुडपुराणे पञ्चपञ्चप्रकारेणैव संसृतिस्वरूपवर्णनं कृतम् इत्यलम् प्रसङ्गागतेन प्रकृतमनुसरामः **[तस्य]** पूर्वोक्तलक्षणलक्षितस्य महेश्वरस्य या नित्यसंसृष्टा अनपायिनी चिदात्मिका शक्तिः, निखिलप्राणिनां सुखदुःखान्यतरात्मक–भोगप्रदयावत्कर्मो परमे सति महाप्रलये प्रसुप्ता सती पृथक्। व्यवहाराभाव–भाजिनी एकत्वमापन्नासीत् सैवेदानीम् प्राणिनां भोगप्रदकर्मवशात् सृष्ट्युत्पादनाय इच्छाधर्मविशिष्टा सञ्जाता शिवस्य अन्यथा असङ्गत्वात् अद्वितीयत्वाच्च, तन्नोपपद्यते। अस्या एव अनुग्रहशक्तिशब्देनापि कथ्यते निगमे, यया भक्तान् मोचयति निगडबन्धनात्। श्रीमदादिनाथेच्छां विना जीवस्य स्वप्रयत्नमात्रेण मोक्षलाभम्

प्रत्याशा सिकताभ्यस्तैलनिष्पीडनाशयैव समा, वन्ध्यातः सुतोत्पत्ति–प्रयासवच्चेतिशैवराद्धान्तरहस्यम् ऋते शिवादियं नान्यत्र कुत्रापि जीवे गच्छति, किन्तु सर्वदा तदनुगामिनी सत्येव तिष्ठति। अतोऽस्या निजेति नाम नानर्थकम्। महाप्रलयसमयेऽस्मिन् निखिलसंसारसंसारणिं सूक्ष्मरूपतां सम्पाद्य स्वकुक्षौ समाविश्य चिद्रूपा महाशक्तिरन्तर्मुखासती शिवेनाभेदमनुभवन्ती सृष्टिमकुर्वाणा शिवाश्रिता तिष्ठति इयमेव श्मशानवासिनी महाकाली महाबिन्दुश्च व्यवह्रियते। तदधिष्ठानम् आदिनाथः श्मशानवासी महाकालशब्देन बोध्यते। अयमेव अर्द्धाङ्गो गौरीश्वरः, अयं हि त्रैकालिकबाधविधुरतया पारमार्थिकः शक्ति–

मिमामादाय नाद्वैतभङ्गः। किञ्चास्या अविनाशित्वेऽपि न मोक्षानुपपत्तिः, न वा केनापि दर्शनान्तरेण विरोध इत्यादि विस्तरेणाग्रे विवेचिष्यते प्रतिपदार्थस्तु। इच्छैवेति, इच्छामात्रम् मयूरव्यंसकादित्वात् मात्रशब्देन नित्यसमासः स धर्मो यस्या इति बहुव्रीहिसमासे टापि [**इच्छामात्रधर्मा**] ननु धर्मादनिच् केवलादित्यनिच् कथं नेति चेन्न; समासान्तविधिरनित्य इति परिभाषाबलात्, अथवा इच्छामात्रश्चासौ धर्म इतिकर्मधारये ततो मत्वर्थीयेऽचि साधु। अतएव **धर्मिणीति** भूमिनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेति शायने *"इति प्राचीनोक्ति-बलेन प्रशस्तो धर्मोऽस्याः सा, प्राशस्त्यमस्या विषयवाधबैधूर्य्यं या तु लौकिकीच्छा सा कदाचित् काचित् विफलापि भवति इयं तु न जातुवैफल्यमनुभवति। इच्छा धर्मे एतद्वैलक्षण्यबोधनान्न पुनरुक्तिदोषः।"*

हिन्दी टीका

उपर्युक्त पद्य में कहे हुये 'अनाम' पद का स्वयं श्रीनाथजी गद्य के द्वारा व्याख्यान करते हैं– यदि वास्तव में विचार किया जाए, तो वह परमेश्वर नामरूप से भी रहित है और वह स्वयंज्योति अनादिसिद्ध है। उसका न कोई पिता, न माता, न बन्धु, न पुत्र कलत्रादि और न कोई उसका कारण है; वह केवल एक ही है। भाव यह है कि सजातीय, विजातीय तथा स्वगत-इस रीति से तीन प्रकार का भेद लोक में ही देखने में आता है। जैसे आम-आदि वृक्ष का जामुन-नीम आदि अन्य वृक्षों से जो भेद है, वह सजायीय भेद कहलाता है। यद्यपि यहाँ वृक्षत्वरूप जातिकृत भेद नहीं, तथापि आमत्व-आदि अवान्तर-जातिकृतभेद अवश्य है और वृक्ष में विजातीय भेद पत्थर-आदि से तथा स्वगत-भेद शाखा-पत्र आदि से जानना। इस प्रकार, उस पर ब्रह्म में तीनों ही प्रकार का भेद नहीं है; क्योंकि वह एक है। इसीलिये उसका सजातीय दूसरा नहीं है।

तथा एव शब्द का प्रयोग करने से सिद्ध हुआ कि वह ब्रह्म स्वगत भेद से भी रहित है और स्वयं-आदि पदों से यह भाव निकलता है कि उस ब्रह्म का विजातीय भी को नहीं है। इतना ही नहीं, अपितु वह ब्रह्म उत्पत्ति और मरण से रहित है; अर्थात् न उसकी स्वतः उत्पत्ति होती है और न उसकी मृत्यु होती है। वस्तुतः वह परमेश्वर ही अपनी चिद्रूप शक्तिद्वारा सबकी उत्पत्ति और संहार करता है। यह परम रहस्य सिद्धों

के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है।

सकल लोक के कल्याणार्थ इच्छामात्र धर्म को धारण करने वाली और जीवों के सुख दुःख आदि भोगों के निमित्त सृष्टि और प्रलय में संकोचविकास धर्म वाली उस श्रीआदिनाथ की चिद्रूप से प्रसिद्ध निजा नाम की शक्ति थी। सृष्टि के आरम्भ काल में जाग्रत हुई। इसी निजा शक्ति का धर्म इच्छा है, उसी को परमेश्वर का सत्य संकल्प जानना। इसी के बल से परमेश्वर क्षणमात्र में असम्भव वस्तु का भी निर्माण कर सकता हैं। अतएव इसी का दूसरा नाम निग्रहानुग्रह शक्ति भी है; क्योंकि प्राणियों के कर्मानुसार भोग देना निग्रह शक्ति का कार्य है और मोक्ष देना अनुग्रह शक्ति का काम है। यह शक्ति महेश्वर को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहती, इसलिये इसको निजा नाम सार्थक है।॥५॥

मू०–तस्योन्मुखत्वमात्रेण पराशक्तिरुत्थिता॥६॥

सं० टी०–[तस्येति] तस्य निजशक्तिसम्पन्नस्य आदिनाथस्य **[उन्मुखत्वमात्रेण]** उत्साहगुणेन **[पराशक्तिरुत्थिता]** सैव जननी समुद्गता अयं भावः। तस्या एव शक्तेः यदा सृष्टिरचनायै किञ्चिदुच्छून्नता जाता सैवोत्साहः शिवस्य यथाऽस्माकं कार्यारम्भे मानसोल्लासे समुत्साह इति निगद्यते, तथैव शिवस्य शक्तिरेव मनः तस्या उद्रेक एव तस्योत्साहः उन्मूखत्वापरपर्यायो निरुच्यतेऽतः; तदवस्थाविशिष्टा सैव शक्तिः पराशक्तिः प्रबुद्धेति व्यवह्रियते। अत्रोत्थिता-शब्देन ध्वन्यते यत्पूर्वमपि इयमासीदेव न तु नवीनेयं जाता एतावानेव विशेषः, यत् पूर्वं विरलावस्था सुप्तासीत् साम्प्रतं घनीभूततया प्रबुद्धेति। अनयैव सृष्टिकर्तृत्वम् इयमेव निग्रहशक्तिशब्देन क्वचित् प्रदर्श्यते। यदि शक्तावुच्छून्नत्वस्वभावो न विद्यते, तदा निष्प्रपञ्चा-संगस्यास्य कथं प्रपञ्चवर्धकता घटेत? इयमपि शिवं विहाय नान्यत्र गच्छति। अत एव परा इति सार्थिका संज्ञा क्वचिदुभयोः इच्छाशक्तित्व-मेकीकृत्य एकेनैवेच्छाशक्तिशब्देन प्रतिपादनम्, तस्या एवोपासनाकाले ध्यानाय स्त्रीरूपेण गौरीति नाम्ना निर्देशः। तथा चोक्तम् रवेनैव गोरक्षसंहितायाम्– *"इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं गौरी ब्राह्मी तु वैष्णवी, त्रिधाशक्ति स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोम्"* इति अनेन स्पष्टमेवोक्तम्– एकैव मूलशक्तिः। तत्सहित आदिनाथश्चैक एव शक्त्यवस्थाभेदप्रयुक्ततत्तदवस्थाविशिष्टः सन्

गौरीपतिः सरस्वतीशः लक्ष्मीरमणश्च निगद्यते नास्ति, तेषु भेदलेशः किन्तूपासनायां भेदमाधाय चिन्तने अवस्थासु पूर्वस्या अभ्यर्हितत्वेन मदीयो गौरीरमण एव वरीयानिति समस्तशैवाननसम्मुल्लासावसरः। नाथानुयायिनान्तु कथैव का स्वादिनाथं कूटस्थमुप श्रृण्वताम्। तथा च; शैवागमे क्वचित् समासेन इच्छाक्रियाज्ञानात्मकशक्तित्रयवर्णनम् क्वचिच्च व्यासेन पञ्चभेद-निर्वचनम्। अतो न परस्परविरोधस्तयोः, उपसंहारन्यायात्॥२॥

भा० टी०– पूर्वोक्त निजा नाम की शक्ति सहित श्रीआदिनाथजी के उत्साहमात्र से ज्ञान प्रधानजगज्जननी सर्वोत्कृष्ट परा नाम की शक्ति जाग्रत् हुई। तात्पर्य यह हे कि जैसे हम लोगों का जब कोई कार्य आरम्भ होता है, उस समय कार्य-सम्पादन के लिये "मैं इसे करूँ"– इस रीति से जो मन में उल्लास होता है, उसी का नाम उत्साह है। पराशक्ति का मुख्य धर्म ज्ञान है, अतः इसका ज्ञानशक्ति भी दूसरा नाम है। इसी ज्ञान प्रधान पराशक्ति के प्रभाव से महेश्वर को परमाणु से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म सकल पदार्थों के स्वरूप का हस्तामलक की तरह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यहाँ उत्थित अर्थात् जाग्रत्– आदि शब्दों से सर्वत्र यह भाव निकलता है कि शक्ति स्वकार्यारम्भ से प्रथम निज कारण में सोई हुई थी और वही शक्ति सृष्टि के आरम्भ में सकल प्राणियों के कर्म से प्रेरित होकर जाग्रत् होती है। अन्तर केवल इतना है कि महाप्रलय में वह शक्ति अतिसूक्ष्म रूप से रहती है और जब प्राणियों के कर्मानुसार सृष्टि का समय आता है, तब उस शक्ति के जाग्रत् होने से प्रबुद्धावस्था अर्थात् स्थूलावस्था हो जाती है। यहाँ पर शक्ति को ही महेश्वर का मनः स्थानीय साधन जानना और उस शक्ति का बढ़ना ही उन्मुखत्व का पर्याय शब्द है और पूर्व-अवस्था-विशिष्ट परमेश्वर की ही वह 'पराशक्ति' कहलाती है। यह पराशक्ति भी परमेश्वर को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाती।

मू०– तस्य स्पन्दनमात्रेण अपराशक्तिरुत्थिता॥७॥

सं० टी० [तस्य] पूर्वावस्थस्य **[स्पन्दनमात्रेण]** अत्र प्रकृत्यादिभ्य इत्यनेन अभेदे तृतीया। तथा च केवलस्पन्दनरूपा क्रिया रूपेति यावत् **[अपरा शक्तिः उत्थिता]** पूर्ववदर्थः इयं हि पृथगपि भवति, अत एवास्या नामापरा। एतद्विशिष्टः सृष्टिसमये ब्रह्मेति व्यवह्रियते अनयैव

तस्य सृष्टिकर्तृत्वम् इदमत्रावधेयम् उत्तरस्याविर्भावे पूर्वस्य विनाशो जात इति न भ्रमितव्यम् पूर्वस्य तदवस्थस्य यथावद् विद्यमानत्व एव उत्तरावस्थाऽपरो विशेषः सञ्जातः। अन्यथा एकस्यैव स्वरूपस्य सद्भावे सृष्टिरेव न सम्भवेत्। तथा च; सर्वतः प्रथमम् अनयैवादिनाथस्य अनन्तब्रह्माण्डकर्तृत्वम्, पश्चात् प्रत्येकब्रह्माण्डे एकैकं ब्रह्माणं विरचय्य तस्मै इमां शक्तिं प्रदाय स्वयं स्वस्थो भविष्यन्ति। ततः प्रभृति ते एव ब्रह्माणः प्रत्येकब्रह्माण्डे सृष्टिं रचयिष्यति। अत एवोक्तम्– इयमन्यत्रापि गच्छति।

भा० टी० आदिनाथ से अधिष्ठित जो परा शक्ति है, उसके कुछ चलनेमात्र से उसमें सोई हुई 'अपरा' नाम की शक्ति जाग्रत हुई। यह शक्ति क्रियाप्रधान है और महेश्वर से अलग भी हो सकती है।

इसी कारण इसका नाम अपरा शक्ति है। इस शक्ति विशिष्ट को हिरण्यगर्भ-ब्रह्म-इत्यादि नामों से कहते हैं। इसी शक्ति के द्वारा परमेश्वर जगत् की रचना करने में समर्थ होता है। यहाँ पिछली शक्ति के जाग्रत होने पर पूर्व शक्ति का नाश नहीं होता। किन्तु पूर्व-२ अवस्था-विशिष्ट आदिनाथ के रहते हुए ही उत्तर २ शक्ति का प्रादुर्भाव होता है; क्योंकि एक अवस्था विशिष्ट होने से तो सृष्टि का होना ही असम्भव है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वह परमेश्वर समस्त सूक्ष्म सृष्टि के कार्य को समाप्त करके बाद में इसी क्रियाप्रधान शक्ति के द्वारा अनन्त ब्रह्माण्ड और असंख्य ब्रह्माओं की रचना करता है। तथा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में एक-२ ब्रह्मा को अध्यक्षरूप से नियुक्त करता है और उन सब ब्रह्माओं को भी इस क्रियाप्रधान शक्ति से सम्पन्न बनाकर अपने अपने ब्रह्माण्ड में स्थूल सृष्टि का कार्यभार देकर स्वयं स्वस्थ हो जाता है। बाद में ये सब ब्रह्मा अपने अपने ब्रह्माण्ड में स्थूल जगत् की रचना के व्यापार में लग जाते हैं।

मू०– ततोऽहंतार्थमात्रेण सूक्ष्मशक्तिरुत्पन्ना ८

सं० टी०–[ततः] पूर्वावस्थोदयानन्तरम्। अहन्तार्थमात्रेण सूक्ष्मशक्तिरुत्पन्ना। अभेदे एव तृतीया तथा च अहंता, अहं भावश्चासौ अर्थः, प्रयोजनं तद्रूपा कर्मधारयेण अहंभावरूपैव न तु तज्जनिका इत्यर्थः फलितः। अथवा बहुव्रीहिः, तदा अहमाकारसाधनीभूता विमर्शापरपर्य्यायाशक्ति-

रुत्पन्ना प्रबुद्धा इति सिद्धान्ताथ मन्दानां दृष्ट्या। उत्पत्तिपदमभिहितम् इति तु वक्ष्येऽसत्सम्प्रदायेत्यत्रैवोक्तं मया मात्रपदेन तदानीम् अयमिति प्रथमपुरुष-व्यवहारकारणस्येदमाकारस्य वृत्तिविशेषस्य। त्वमिति मध्यमपुषव्यवहृते निदानस्य त्वमाकारस्य च व्यावृत्तिः प्रतिपाद्यते; अर्थात् निखिलसंसार-द्वैतजातस्य तदानीं तद्गर्भप्रविष्टतया पार्थक्येनाननुभूयमानतया भेदकाभावात् अहमित्याकारक एव विमर्शशक्तेर्वृत्तिविशेषः प्रादुरासीत्। स एव सूक्ष्मा शक्तिः सर्वसृष्टिसामग्री अत्रैव सूक्ष्मतया निहिता। अनन्तरं प्राणिभोगप्रदकर्मसंक्षोभवशेन बहिर्निः सरिष्यति विरंचिः प्रपञ्चो, यथा प्रावृषि मृद्भावापन्नाः भेकाः मृदः निःसृत्य भकभकायन्ते। इयमेव शुद्धा विद्या ज्ञानशक्तिरिति च निगद्यते अनयैव पालकत्वम्॥ इयमपि अन्यत्र गच्छतीति पूर्ववज्ज्ञेयम्। अयमत्र विशेषः एतच्छक्तिसमन्वितो विष्णुर्विराट् इति निगद्यते। इदमेव स्वरूपं सच्चिदानन्दकन्दो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रः स्वभक्तमर्जुनं प्रदर्शयांश्चकार यत्प्रतिपादितम् श्रीव्यासपादेन भगवद्गीतायाम्। वेदेऽपि *'तदैक्षत बहुस्याम् प्रजायेय'*, *'सोऽकामयत बहुस्याम् प्रजायेय'*, इत्यादौ अहमाकारेणैकाभिलाषः। ननु इयं शुद्धविद्या इत्यत्र किं मूलमिति चेत्? शृणु। *'अहम् ब्रह्मास्मी'* इत्यादि महावाक्यजज्ञानस्यैव विद्यात्वं सर्वत्र प्रतिपादितम् उपपद्यते चापीदमेव यथा परमेश्वरस्य अहमाकारेणैव निखिलसंसारस्य भाने न भेदप्रयुक्तदोषादि-मालिन्यप्रसङ्गः, तथैव तं विना भेदप्रयुक्तदोषमालिन्यनिरासस्य न कोऽप्यन्यः प्रतिकारो भवितुमर्हः। भेदभाने अशुद्धत्वम् तस्मिंश्च सति कथमन्यत्र शक्यम् शुद्धविद्यात्वं वक्तुमतः सैव शुद्धविद्या।

अत एव विद्यया मोक्षप्रेप्सवः तदधिष्ठातारं ब्रह्मविष्णुरुद्रसमष्टीभूत-मादिनाथं महाकालं महाकालीरूपनिजशक्तिसहितम् वा महाकालसहित-महाकालीं समुपासते वस्तुतस्तु एतासां शक्तीनामविनाभावतया सर्वत्र सर्वासां सद्भावः, ताभीः रुद्रो ब्रह्माविष्णुर्वा सर्वं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः। भेद-व्यवहारस्तु तत्तद्गुणबाहुल्याभिप्रायेण वस्तुतस्तु एक एव तत्तत्कार्यावसरे तत्तत्स्वरूपं प्रधार्य्य तत्तत्सञ्ज्ञया प्रख्यायते, इत्थमभेदभवनयैव स्वीयध्येय-स्वरूपोपासनेन निजध्येयरूपम्, साक्षात्कृत्य अन्यदपि रूपं साक्षात्करोऽत्येव तेनैव बलेनेति निष्कण्टकः पन्थाः। अनयैव जगत्कर्तृत्वं शिवस्य। अयमेव शब्दार्थो भयात्मकसृष्टिकारणं बिन्दुरूपं शब्दब्रह्मेति व्यवह्रियते—इममेव मनसि निधायाह श्रीभर्तृहरियोगीन्द्रः वाक्यपदीय *'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वम्'*

इत्यादि। अस्यार्थो विस्तृतरहस्यपिपासूनां मत्कृततदीयटीकायां द्रष्टव्यः।

हिन्दी टीका–उसके बाद आदिनाथ से अधिष्ठित अपरा शक्ति के अहंकार के अभिमानमात्र से सूक्ष्मा नाम की शक्ति और प्रकट हुई। इसी शक्ति के बल से परमेश्वर को सर्वप्रथम 'मैं'– ऐसा अभिमान होता है। उस सृष्टि के आरम्भ समय में अन्य की अभिव्यक्ति न रहने से केवल एक परमेश्वर का ही अहंकार था और उस अहंकार को कुक्षि में समस्त चराचर जगत् सूक्ष्मरूप से विलीन था। इसीलिये उस समय 'अयम्' (यह)– इस प्रकार प्रथम पुरुष का और 'त्वम्' (तू)– इस मध्यम पुरुष का व्यवहार नहीं था; किन्तु 'अहम्' (मैं)– यही व्यवहार था। अतएव 'अहं'– यह उत्तम पुरुष कहा जाता है। इसी का दूसरा नाम विमर्श शक्ति भी है और यही शुद्धविद्या (ब्रह्मविद्या कहलाती है); क्योंकि इसमें किसी द्वैत प्रपंच का भान नहीं रहता और साधारण जनों की अहं-बुद्धि द्वैत-विशिष्ट रहने से अविद्या कहलाती हैं। इसीलिये यह बन्धन का हेतु होती है और शुद्धविद्या मोक्ष का हेतु होती है। इसी शुद्धविद्या ने हिमालय की पुत्री उमा का रूप धारणकर इन्द्रादि देवताओं को दर्शन दिया। यह कथा केनोपनिषद् में प्रसिद्ध है। अतएव उपनिषदों में भी *'अहं ब्रह्मास्मि'* इत्यादि महावाक्यों से उत्पन्न होने वाली अभेदभावना को ही ब्रह्मविद्या, महाविद्या, शुद्धविद्या राजविद्या इत्यादि नामों से कहते हैं॥८॥

मू०– ततो वेदनशीला कुण्डलिनी शक्तिरुद्गता।९

सं० टी०– ततो वेदनेति [**ततः**] अनन्तरम् [**वेदनशीला**] विद्यते अनयेति करणसाधनेन ज्ञानसाधनीभूतशब्दा वेदनपदार्थाः विद्यन्ते ये ते वेदना इति कर्म व्युत्पत्त्याऽर्थभूताः घटपटादिस्वरूपाः वेदनपदार्थाः भावसाधनेन चिद्रूपोऽर्थः। तथा च परिणामरूपेण शब्दार्थोभयकारणरूपा स्वयमचिदंशबीजवासनान्तर्निहितसत्त्वसमाविष्टा चित् [**कुण्डलिनी शक्तिरुद्गता**] तन्नाम्नीशक्तिरुदिता अयमत्र सङ्ग्रहेण सूक्ष्मतमसारतरोऽर्थः॥ उपभोगप्रदयावत्कर्मोपरमे विरञ्चिप्रपञ्चे प्रचलितानवरतव्यापारजनितश्रम-नितान्तश्रान्ताखिलनिजसन्तान-प्राणिनिकरीयस्वास्थ्यं प्रदातुं निखिलब्रह्माण्डं स्वोदरभाण्डे प्रविलाप्य जगदम्बा निजा शक्तिर्महामाया प्रकाशमात्रस्वरूपमाधाय

सच्चिदानन्दघनशिवेनात्यन्ताभिन्नभूत्वा तिष्ठति अयमेव महाप्रलयकालः। तस्मिन् समये सकलकार्य्यकरणदक्षोऽपि शिवः, अशक्तः सन् किमपि कृत्यं कर्त्तुमलं न भवति। इयमेव विश्रमणावस्याशिवस्य यथा व्यष्टौ प्रत्यहं जीवानां सुषुप्त्यवस्था इदमत्र वैलक्षण्यं यज्जीवस्य सुषुप्तौ प्रकाशात्मकान्तःकरणस्य तमोरूपात्मकाविद्यायां लीनतयाऽन्धकारस्यैवानुभवः, निजज्ञानानन्दस्यानाविर्भावेऽपि द्वैतप्रपञ्चविरचितशोकसमुहाननुभवनिमित्तक-सुखानुभवश्च भवति। अत एव तदनन्तरं प्रबोधे सुखमस्वाप्सम् नाहं किञ्चिदवेदिषम् मूढोऽहमासमित्यादि स्मृतिर्जायतेऽन्यथा विनानुभवं स्मृतेरभाव एव भवेत् लोके कालान्तरेऽनुभूतस्यैव समयान्तरे स्मृतिनियमात्। तदानीन्तु तमोऽपि नासीत् प्रकाशमात्रातिरिक्तस्य सर्वस्यैव विरहोऽत एव तदनन्तरं सृष्टिसिसृक्षासमये, अज्ञोऽहमासमिति न परामर्शः शिवस्य द्वैतप्रपञ्चानुभव-विरहितत्वेनोभयोः साम्यादुपमानोपमेयभावो वेद्यः। इयमेवावस्था आचार्य्यपादैः सूचिता प्रारम्भे अनामेत्यादिना, वेदेऽपि *'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्'* इत्यादि। एतत्कालिकमहाशक्ति- स्वरूपवर्णनं राजतन्त्रेऽपि कृतम्। अचिन्त्या मिताकारशक्तिस्वरूपा, प्रतिव्यक्त्यधिष्ठानसत्तैकमूर्त्तिः। गुणतीतनिर्द्वन्द्वबोधैकगम्या त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा। अस्मिन् समये विश्वाधारनिजमहाशक्तेः प्रसुप्ततया ज्ञानघनोऽपि शिवः सत्सम्प्रदायमतेन तत्रैव निखिलपदार्थस्य सूक्ष्मरूपसद्भावेऽपि नैव वेत्ति न वा किञ्चिदपि करोति। अतः स्पष्टतः सिद्धं यत् शक्तिरहितः शिवो न किञ्चदपि वेदितुं वा विधातुं पारयति। अयमेव महानुभव आचार्य्यपादेन मादृग्भ्य शिक्षयितुमुदगारि *"शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन"* इति एतदेवानुमोदितमन्यैः *"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि"* इति। लोकेऽप्यनुभूयते- कोऽपि श्रान्तो विश्रान्त्यै एकान्ते सुखशय्यामध्यासीनः, तत्र तदीय शक्तिः प्रसुप्ता सती तदभिन्नाभूत्। अतो महालस्येन व्याप्तः शान्तिसुखमनुभवति तदानीमन्येन केन च न पृष्टो जानन्नपि अज्ञ इव न किञ्चिद्वेत्ति न वा किञ्चित्करोतीति सार्वजनीनोऽनुभवो जागर्ति इयं निजाऽपि न व्यवह्रियते; यतो साऽपि कूटस्था शिवोऽपि कूटस्थः। अनया एतर्हि किमपि न करोति, किन्तु सर्वेषां शून्यतया शिवः श्मशानवासी महाकालशब्देन शक्तिश्च महागौरी महाकाली शब्देन व्यवह्रियते। *"उमा कात्यायनी गौरी काली हैमवतीश्वरी"*

इत्यमरः। इयं भक्तानुग्रहायावरतीति देवराजाय स्वभक्ताय सर्वतः प्रथमं दर्शनं ददाविति केनोपनिषदि (३ खं०) *"स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीमि।"* इति सोऽपि व्यवहार इदानीमेव स्वीयलक्ष्यपरिचयाय साधकाः कुर्वन्ति न तदानीमासीत्। अत एव केनचित् बिन्दुशब्देन व्यवहारोऽकारि तन्त्रे परब्रह्मपदेन वेदान्ते, अन्येऽपि तत्त्वज्ञाः साधका एतत्स्वरूपमेव लक्ष्यीकृत्य स्वस्वाभीष्टशब्देन व्यवहरन्ति व्यवहरन्तु। आचार्यकरुणाकटाक्ष-प्रदर्शितमार्गे वस्तुतोऽन्वर्थतासङ्घटनान्महाकालशब्देन शिवशब्देन च व्यवहार एव समुचितः सफलश्च। कालयति, क्षेपयति अन्त्यभावं नयतीतिकालः। तस्यापि अन्त्यभावप्रापकः महाकालः शेते जगदस्मिन्निति शिवः। एतत्स्वरूपप्राप्तिरेव मोक्षः। अयं हि स्वभोगार्थं न किमपि करोति आप्तकामत्वात् प्राणिनां कर्मानुसारफलदानायैव तटस्थः सन्, सकलं कृत्यं करोति वटुरूपमपि धारयति महारूपमपि देवमनुष्यविग्रहं वराहरूपं वा स्त्रीरूपं पुरुषं सर्वशक्तिमतोऽस्य कृते किन्तद् विचित्रं यन्न चित्रयेत्। वेदोऽप्याह त्वं स्त्री– *त्वम्पुमासंत्व, त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डे न वञ्चसि* इत्यादि (श्वे ३) किन्तु मन्दो बालः तत्त्वज्ञभाषां श्रुत्वा हसंत्येव यो हि स्वनगरं हीत्वा नगरान्तरं जानात्येव न हि तम्प्रति देशान्तरीयमहानगरस्थ नाना पदार्थवर्णनं हास्यायैव नूनं तथा स्वभुवनं विहाय यो लोकान्तरं स्वीकरोत्येव; न हि तम्प्रति अनन्त शक्तिमतो गुणानां गानम् खपुष्पायमाणमेव तावता तत्त्वज्ञा न जातूदासते स्वकृत्यं मत्वा वर्णयन्त्येव सम्भवेत्कदाचिद् ईश्वरानुग्रहेण तस्यापि तोषः। अवतारवादे इयमत्र सुरगुरुणाप्यशक्यनिरसना युक्तिः। भक्ताः स्वभावनानुसारेणाऽल्पमपि फलमनल्पं मन्यमानाः प्रार्थयन्ते। यदि चात्र सर्वज्ञः स्वभावनानुसारेण सर्वोत्कृष्टं मोक्षमेव फलं कर्मोद्देश्यविपरीतवितरेत्, तदा सर्वेषां विनैव ज्ञानं कथन्नैक पदेमोक्षं विदधाति। तथा सति नेदानीं विश्वमिदं नयनपथमधिगच्छेत्। किञ्च कस्मैचिन् मोक्षं परस्मै नेति स्वेच्छया विदधद्रागादिदोषवत्तयेश्वरत्वादेव प्रच्यवेतेत्यपरञ्च गण्डोपरिस्फोटसमं दूषणं यद्नभिलषितं वितरणे उन्मत्ततापत्तिः; रसालफलं प्रलिप्सवेद्राक्षाफलं प्रदानवत्। दरिद्रजनवच्च याचकभावनानन्-रूपवितरणे सर्वशक्तिमत्त्वभङ्गप्रसंगो वज्रलेपायितः।

अत ईश्वरसिद्धिलोभाद् भक्तसङ्कल्पानुकूलमेव फलं ददातीति स्वीकरणीयम्। तथा च भक्ता; यद्यत् सङ्कल्पयन्ते, तत्तत् सम्पादयितुं

नटवत् नृत्यतीति किमिति चित्रं सर्वज्ञस्य सर्वशक्तिमतश्चकृत इति। एवमेव मुक्ता अपि योगिनः स्वप्रयोजनाभावेऽपि अनया शक्त्या स्वभक्तानां सङ्कल्पसिद्धयेऽवतरन्ति। पुनरुपदिश्य योगधर्मान् स्वमहिम्न्यवतिष्ठन्ते यथा आचार्यपादा इति विशेषजिज्ञासुनाऽस्य चरित्रवर्णने द्रष्टव्यम्। यदान्तर्निहित-प्राणिकर्मवासनासङ्क्षोभवशान्महाशक्तौ संसारसिसृक्षा जायते, तयैवेच्छया शिवोऽपि संसारं सिसृक्षुः, तदेयम् निजा १ व्यवह्रियतेऽनन्तरं निविडा भूत्वा शिवस्य साम्मुख्यमाधत्ते सापरा २ तत्र शिवस्य प्रतिबिम्बो जायते शिवे च तस्याः प्रतिबिम्बः; तदा शिवशक्त्योः सम्पुटीभावः। इदमेव स्पन्दनम् इयमपराशक्तिः ३ अत्रात्मदर्शनं यथा स्वमुखदर्शनेच्छा जायते, तदा आदर्शमानीय स्वसन्निधौ संस्थाप्य तत्र प्रतिबिम्बे सति स्वमुखम्पश्यति। अनन्तरं विमर्शशक्तिश्चतुर्थी ४। अहमाकारानुभवकारणम् सूक्ष्माशक्तिरायाति अहमनुभवविशिष्टः शिवो वासनारूपेण शक्तिकुक्षिनिक्षिप्तानखिलान् संसारान्स्वाभिन्नतयैवानुभवति, अत इयं शुद्धविद्या व्यवह्रियते। एतस्या बलेनैव दुःखानुभवस्यात्यन्तविरहः। अस्या जगत्कारणत्वेऽपि ईदृश्या एवावस्थायाः सद्भावे सृष्टिरेवासम्भविनी। अतोऽस्या अवस्थान्तरः परिणामः। शब्दार्थोभयरूपा कुण्डलिनी शक्तिः ५ समष्टौ ब्रह्माण्डस्य व्यष्टौ पिण्डाण्डस्य च जननी। इयमेव बिन्दुपदेन व्यवह्रियते। अचिदंशसत्वनिविष्टा चिद्रूपा तत्राप्यर्थसृष्टेः पूर्वमेव शब्दसृष्टिर्भवति श्रुतिरप्याह भूरिति व्याहरन् भूमिमसृजतेत्यादि। अतः प्रभवः प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। "वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः" इत्यादि स्मृतिः। लोकेऽपि प्रथमं शब्द एव बुद्धौ निपतति पश्चात्तदनुकूलमर्थं विरचयन्दृष्टः। अथोऽविद्यमानं शब्दं नोपस्थापयितुमलम्। शब्दस्त्वविद्यमानमप्यर्थं समुपस्थापयति। अतएव योगसूत्रे *"शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्यो विकल्पः"* इति। शब्दवशात् बाह्यसत्ताविहीनोऽपि बौद्धोऽर्थो व्यवहृति- गोचरतामुपैतीत्यतो विपर्ययातिरिक्त इति सिद्धान्तितम्। तेन परावागित्यपि सैव यत एतस्या एव परिणामः। अर्थात् बहिर्मुखावस्था विद्या शब्दसृष्टौ पश्यन्ती मध्यमा वैखरीरूपार्थसृष्टौ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थारूपा वा इच्छाक्रियाज्ञानरूपा गौरी ब्राह्मी वैष्णवीरूपा रौद्री ज्येष्ठा वामारूपा वा त्रिकोणरूपचक्रं जायते; तदेव शक्तिचक्रम्। शक्तिचक्रक्रमेणैवेत्यत्र वक्ष्यन्ते आचार्यपादा विस्तरेण। अस्या एव ज्ञाने समुत्थापने च मोक्षोऽणिमादिसिद्धिश्च पद्यते। अस्याः सर्वत्र सद्भावेऽपि सास्नादिमति गोत्ववत् लिङ्गगुदयोरन्तराले

गुह्यदेशे मूलाधारे विशेषेणाभिव्यक्तिः सर्वेषान्तदेवोक्तम् स्वेनैव हठयोगप्रदीपे– *"कन्दोद्ध्वंकुण्डलिनीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्। बन्धाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्।"* इयं न सर्वजनवेद्या नाड़ीरन्ध्रस्य सम्वृततया तत्र बुद्धेर्वा मनसो योगाभावेन निश्चयस्य विकल्पस्य वा विषयो न भवितुमर्हः। किन्तु योगक्रियया निर्विकल्पकसमाधिप्रज्ञावेद्या, यदेयं चिद्रूपा प्रयत्नपवन-प्रेरितेन संस्कारीभूता नाभिदेशं गच्छति। तत्र सैव पश्यन्ती संज्ञां लभते। तदा मनसः संयोगेन विकल्पविषयो भवति, ततोप्यूद्ध्वं गच्छन्ती हृद्देशे पदरूपा सती तत्र बौद्धार्थेन तादात्म्यापन्ना भूत्वाऽर्थबोधं जनयन्ती तत्र बुद्ध्या संयोगे च निश्चितिगोचरो जायते। ततोप्यूद्ध्वम्प्रयान्ती मुर्द्धानमाहत्य परावृत्य तत्तत्स्थानेषु वाय्वभिघातेन वैखरी पदवाक्यरूपमाधाय परश्रवणविषयो भवतीति शिक्षायामुक्तम् आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया, मन:कायाग्निमाहन्ति सप्रेरयति मारुतमिति अवशिष्टन्तत्स्वरूपवर्णने व्याख्यास्यते। एतावनर्थ एतावत्प्रघट्टकस्येति दिक्।"

भा० टी० उसके अनन्तर वेदनशीला तत्त्वज्ञान की साधनभूत चित्स्वरूप पुरावाक् शब्द ब्रह्मस्वरूप सर्वत्र व्यापक सकल चराचर जगत् की जननी "महाकुण्डलिनी" शक्ति प्रबुद्ध हुई। वही कुण्डलिनी आत्मविमूढ़ पुरुषों के बन्धन का हेतु होती है। जो योगाभ्यास द्वारा इसको जाग्रत् कर लेते हैं, उनके लिये सकल सिद्धियों को देती हुई मोक्षद्वार के कपाट खोल देती है। इसी भाव को स्पष्टरूप से आगे चलकर कुण्डलिनी प्रकरण में कहेंगे। इस कुण्डलिनी शक्ति में दो अंश हैं– चिंदश और जडांश। जब जडांश की प्रधानता होती है और चिदंश गौण होता है, तब उस चिदंश का दृश्य होकर वह जडांश अपने परिणाम द्वारा शब्दसृष्टि का तथा सकल भूत-भौतिक ब्रह्माण्ड-आदि अर्थ सृष्टि का कारण होती है। इसी कुण्डलिनी महाशक्ति का जो अचिदश है, उसी को अनिर्वचनीय माया भी कहते हैं। लोग कितने ही उसको 'प्रकृति' और 'प्रधान' पद से भी कहते हैं।

अर्थसृष्टि और शब्दसृष्टि– इन दोनों में भी पहले शब्दसृष्टि होती है। सबसे पहले श्रीमहेश्वर आदिनाथजी की कृपा से हिरण्यगर्भ ब्रह्मा की बुद्धि में सकल विद्याओं के भंडार 'वेद' स्वतः अभिव्यक्त हुए। फिर ब्रह्माजी ने उन वेदों में जो-जो शब्द देखा, उसी के अनुसार समस्त जगत्

की रचना की। इसी भाव को श्रुति कहती है : "भूरिति व्याहरन् स भूमिमसृजत"

स्मृति में भी कहा है–

अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वा प्रवृत्तयः॥

यद्यपि शुद्ध ब्रह्म से सृष्टि होना असम्भव है। तथापि यहाँ सन्देह का अवकाश नहीं है; क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में भी परम्परा से निजा शक्ति द्वारा बीजरूप से यह समस्त विश्व विलीन था। उसी विलीन जगत् का सृष्टि के आरम्भ में प्रादुर्भाव हुआ। ब्रह्मगत असंगत्व की हानि भी नहीं हो सकती। अज्ञान के बल से रस्सी में देखा सर्प रस्सी की कुछ भी हानि नहीं कर सकता। वास्तव में ब्रह्म तो जैसा-का-तैसा ही है, परन्तु अज्ञानी को संसाररूप से भासमान दिखाई देता है। यह उपर्युक्त प्रक्रिया वेद में भी सूक्ष्म रूप से वर्णित है। उसी का यहाँ स्फुट रूप से व्याख्यान किया गया है : *"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"* ९

मू०– नित्यता १ निरञ्जनता २ निष्पन्दता ३ निराभासता ४ निरुत्थानता ५ इतिपञ्चगुणा निजा शक्तिः १०

टी० मूलशक्तेः पञ्चावस्थाः। अवस्थैव गुणो धर्मो वा व्यवहर्तुं युज्यते; तदाश्रितत्वात्। तथा च साऽपि समष्टिरूपिणी पञ्चगुणा, अतःरतस्याः प्रत्येकावस्थास्वपि पञ्चगुणकत्वस्य सामञ्जस्यम्। तयोरभेदात् तत्र के के गुणा इति जिज्ञासां शमयति तन्नामोल्लेखेन भगवान्मूलकारः। निजशक्तौ पञ्चगुणाः सन्ति प्रथमः [**नित्यता**] ध्वंसप्रागभावरहितत्वम्। इदानीं नास्ति, किन्तु भविष्यतीति प्रतीतिसाक्षिकः प्रागभाव, इदानीं नास्ति किन्त्वासीदिति प्रतीतिसाक्षिको ध्वंसश्चेत्युभयं निजशक्तौ न जातु केनापि प्रेक्षावता व्यवहर्तुं शक्यते; तस्याः परिणामेऽपि सेयमिति बुद्धिविघाताभावात्। यथा मृदो घटावस्थायामपि मृन्नेतिबुद्ध्यभावः। द्वितीयः। [**निरञ्जनता**] रागद्वेषादि दोषनिकरोञ्जनं द्रहितत्वम् तृतीयः [**निष्पन्दता**] चलनरहितत्वम् व्यापकत्वात् अथवा तत्त्वान्तरदशाशून्यत्वम् नित्यत्वात् वयमुत्पश्यामः स्पन्दनं पूर्वदेशं विहायोत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापारः तदभावो निष्पन्दता। इयं हि परमशिवं कूटस्थं विहाय नान्यमाश्रयते। अतः स्पन्दनशून्यत्वमस्याः स्वभावसिद्धो

धर्म इति। चतुर्थः **[निराभासता]** आभासः प्रतिबिम्बः तद्विरहत्वम् अस्यां न शिवस्य प्रतिबिम्बो भवति स्वतोभेदभानाभावे तदानीमुपाधित्वाभावात् पञ्चमः **[निरुत्थानता]** उत्थानं संसाररूपेण परिणामः, तद्विधुरत्वं तदानीं सृष्ट्यभावात्। ननु द्वयोश्चिद्रूपत्वेऽपि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव आश्रयाश्रितत्वस्वीकारेण शिवो जगतो विवर्तोपादानम्, शक्तिश्च परिणामोपादानम् इति विशेषो बलादङ्गीकार्यः। अन्यथा सर्वसाम्ये शक्तिरेव न सिद्ध्येत् एकत्वापत्तेः। तथा च; साङ्ख्ये या प्रकृतिः वेदान्ते च माया सैव भवतां शक्तिनामान्तरेण व्यवह्रियते, तदा तन्मतात्को विशेषोऽत्रेतिचेन्न; जगदुपादानभूता साङ्ख्यीया प्रकृतिः मदीयचिद्रूपशक्तौ प्रलये लीयते, सृष्टौ तत एवाविर्भवतीति स्वीकारेण तस्याः स्वातन्त्र्यभङ्गः केवलजडत्वभंगश्च शक्तिः चिज्जडोभयात्मिकाः। तत्र चिंदशः प्रधानमाविर्भावतिरोभावरहितो जडांशस्त्वप्रधानम् आविर्भावति-रोभाववती प्रकृतिपदवाच्या मायापदाभिधेया च भवतीति महान् विशेषः। शक्तिः स्वीयजडांशप्रकृतिरूपेण जगतः परिणामोपादानम् इति शिवशक्तयोर्भेदः। एतेन सर्वसाम्ये निर्भेदैकत्वमापद्यतेति परास्तम्। तस्याधिष्ठानत्वेनास्या अधिश्रितत्वेन भेदाच्च। इदमेवोक्तम्– *'ते ध्यानयोगानुगता'* इति पूर्वोक्तश्रुतौ *'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्'* इतिपदेन। देवस्य शिवस्यात्मभूता शक्तिः। अत्रात्मपदस्वारस्येन चितो देवस्य चिद्रूपैव शक्तिः सा स्वगुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः प्रलयकाले साम्येन सूक्ष्मरूपैः निगूढाम्, अन्तर्हितनामाच्छन्नां सृष्टौ वैषम्येण कार्यात्मकस्थूलरूपैराच्छादितामिति भङ्गमकृत्वैव स्वारसिकोऽर्थः सहृदयैराकलनीयः। अत्रस्वपदेन जडप्रकृतौ चिद्रूपपराशक्तेरात्मीयत्वबोधनेन तदंशत्वं सूचयति। एवञ्चोभयात्मिका शक्तिरिति स्पष्टम्। अतो जडांशस्यागमापायित्वेऽपि चिद्रूपाया निजशक्तेर्नित्यत्वम् युक्तमुक्तं भगवता योगिराजेन मूले।

ननु वेदान्ते चिद्रूपशक्तिं ब्रह्मण्यन्तर्भाव्यजडोपादान- भूतमायाया अनिर्वाच्यत्वमास्थिषत, तथाहि– न सत् सर्वथाऽबाध्यत्वाभावात् नाप्यसद् असत्त्वेनाप्रतीयमानत्वाभावात् शशशृङ्गवत्; नाप्युभयरूपम् अबाध्यत्वरूपसत्वस्य तद्विपरीतबाध्यत्वरूपासत्त्वस्य चोभयोरेकत्र क्वाप्य; दर्शनेन च परस्परविरोधात्। अतोऽनिर्वाच्यत्वम्, अयञ्चालंकार एवेति। अस्यास्तत्त्वज्ञानेनात्यन्तोच्छेदे मोक्षो भवतीति **[भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति श्रुत्या]** प्रमीयते। एवञ्च कथं शक्तेर्नित्यत्वम्प्रतिष्ठाप्यतेऽन्यथा तवापि मोक्षदशायां संसारादविशेषः

प्रसज्येत इतिचेच्छृणु रहस्यम्! निवृत्तिपदार्थः स्थूलावस्थाविरहविशिष्टसूक्ष्म-रूपेणावस्थितिः कार्यस्य। यथा घटावस्थाविरहविशिष्टमृद्रूपम् न तु निरन्वयविनाशः सद्वादिभते प्रमाणपद्धतिमध्यास्त इति बौद्धमतखण्डनावसरे वेदान्तिभिरपि बहुशः समुद्घुष्यते। तदिह कथं विस्मृतमिति त एव प्रष्टव्याः। वयन्तु ब्रूमोऽचिद्रूपा परा शक्तिरेव भोगप्रदसञ्चितकर्मभिः क्षुभिता जडांशतः संसाररूपेण परिणमिति तत्र शिवस्य मायायां प्रतिबिम्बः। अवच्छेदो वेश्वरः। अन्तःकरणेषु प्रतिबिम्बा अवच्छिन्ना वा जीवाः। प्रथमः प्रेरयिताऽन्तर्यामी, द्वितीया भोक्तारो जीवाः, पञ्चभूताद्यात्मक- परिणामश्च भोग्यम् इति त्रिविधव्यवहारः सृष्टौ तदाह– *(भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा) (जीवेशो वा भासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीति)* अनया जीवेश्वरकर्तृत्वम् शक्ताविति स्पष्टमेवोक्तम्। तत्त्वज्ञानेन शुद्धविद्यया यदा कर्मणां बीजभावः प्रदह्यति, तदा सहकारिकारणविरहात् संसारं न रचयति। अचिदंशस्य चिद्रूपे लयात् केवलचिद्रूपा तिष्ठति सैव शक्तिरन्तर्मुखा व्यपदिश्यत इयमेव मोक्षावस्था संसाराद्विशेषः, शक्तेश्च दग्धबीजवदत्यन्-तोच्छेदोऽपि न भवतीत्युभयं सिद्धम् शक्तिर्नित्या मोक्षश्चेति महत्कौशल-मायातम्। ये हि परमेश्वरस्वरूपप्राप्तिरेव मोक्ष इति स्वीकुर्वन्ति ब्राह्मेण जैमिनिरिति, तेषां मते सत्त्वकामत्वादिधर्माणां तत्रापि विद्यमानतया तत्कारणशक्तेरपि सद्भावेन मोक्षेऽपि शक्तेर्विनाशाभावान्नानित्यत्वम्। किञ्च *"पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवी"* इतिमन्त्रेण सृष्टेरेकदेशतया तत्रत्यशक्तेर्विनाशेऽपि मोक्षे ब्रह्मसमव्याप्तशक्तेस्त्रिदेशे विद्यमानतया न नित्यत्वस्वीकारे काचित् क्षतिः। किञ्च ये हि, अविद्या तत्कार्याविषयक-स्वोपहितशुद्धचिद्विषयिण्या विद्यावृत्तेरविद्याविनाशकत्वं स्वीकृत्य स्वस्या अपि स्वयं विनाशं वदन्ति। एतन्मते शुद्धब्रह्मरूपावस्थानं मोक्षः। तत्र विचारणीयम्– एकस्यैव विनाश्यविनाशकभावो न क्वापि लोके दृष्टचरः। एवं चेयमुत्प्रेक्षा स्वशिष्यान् जडभक्तान् प्रत्येव परं शोभते, यत्तु कतकरजं दृष्टान्ततया समुपन्यस्यते तदपि न प्रेक्षावतां मनःसंतोषमाधातुमलम् तथा हि– कतकं न स्वस्य विनाशकमपि तु सलिलमनावितविदधत् स्वयन्तदधस्तिष्ठति न जातु विनश्यतीति प्रत्यक्षे क्षणेनैव परीक्षणीयम्?

ननु विद्यावृत्तेर्विनाशकारणमन्यदेव भवत्विति चेद् वद किं तत्। वृत्यन्तरं तत्सजातीयमिति चेत् तस्या अप्यन्यद्विना शकं तस्याप्यन्यदिति

निरवधिकवृत्तिस्वीकारऽनवस्थाप्रसङ्गादन्ते कस्या अपि नित्यत्वमवश्यमङ्गीकरणीयम्। ततोऽवरं यदादावेव तदभ्युपेयम् अविद्याध्वंस एव विद्यावृत्तेर्विनाशक इत्यपि न युक्ततरम् अभावस्य कारणत्वानभ्युपगमात्। अन्यथाऽभावकारणावादिनां सौगतानां साम्राज्ये गगनसुमनात् प्रसृमरममन्दमामोदं ब्रुवाणोऽशक्यनिरसनः स्यात्। न च भावं प्रत्यभावस्य कारणत्वानभ्युपगमेऽप्यभावप्रत्यभावस्य कारणत्वस्वीकारे का क्षतिरिति वाच्यम् विद्यावृत्तेर्ध्वंसस्य ब्रह्मरूपत्वपक्षे जन्यत्वस्यैव विरहात् तदतिरेकोररीकरणे तस्यापि ध्वंसस्य ध्वंस इत्यादि निरवधिकस्वीकारेऽनवस्था च ध्वंसस्यानन्तत्वमनंगीकारपराहतं क्रियारूपत्वात्। अभावस्वरूपस्वीकारे तत्र जन्यत्वमेव बाधग्रस्तम्। किञ्च निरन्वयविनाशः सद्वादिमते निषिद्ध इत्यपि पूर्वोक्तं न विस्मर्तव्यम्। यदि च सुन्दोपसुन्दन्यायेनाविद्याया विनाशिका विद्या तस्याश्च विनाशिकाऽविद्येति व्यवस्थाप्येत; तदा प्रमया अविद्यया प्रमात्मकविद्याया बाधकथनं विरुद्धम्। तस्मात् कारणविरहात् शक्तेर्न सर्वात्मना समुच्छेदः। अतो नित्यत्वं सुष्ठूक्तं योगिराजपादेन। न च शक्तेर्नित्यत्वे द्वैतापत्तिः, तथा च भवतापि कथमद्वैतं स्थाप्येत इति वाच्यमेकैव सत्ता पर्याप्त्या शिवशक्तयोर्न पृथगित्यङ्गीकारे सत्तापर्याप्त्यधिकरणनिष्ठसत्तापर्याप्त्यधिकरणप्रतियोगिकभेदशून्यत्वरूपस्याद्वैतस्य भवन्मतवदक्षतेः। अन्यथा भवन्मतेऽपि संसारमादाय कथं न द्वैतम्। यदि च संसारस्य पृथक् सत्ताभावान्न द्वैतं, तदा ममापि सैव गतिः सत्तामादाय न विवदनीयम् तस्याः स्वरूपानतिरेकत्वस्योभयमतसम्मतत्वात्; अतिरिक्तस्वीकर्तृणां मतेऽनवस्याभिया सत्तायां सत्तान्तराभावे उक्तलणाभावाञ्च किञ्चैतन्मते द्वैताद्वैतविवर्जितमिति वक्ष्यमाणत्वात्। अद्वैतमपि भवद्भाषयैव ब्रूमहे न तु तत्स्थापनाग्रहोऽस्माकमिति दिक्॥१०॥

भा० टी०—पूज्यपाद श्रीगोरक्षनाथजी ने प्रथम पाँच शक्तियों का निरूपण किया। अब उन शक्तियों के जो स्वाभाविक पाँच-२ गुण हैं, उनके क्रम से निरूपण करते हैं। उनमें भी सबसे पहले क्रम प्राप्त महेश्वर की मुख्य निजा शक्ति के गुणों का वर्णन किया जाता है।

नित्यता १ — भूत, भविष्यत् और वर्तमान— इन तीनों कालों में नाश न होना; अर्थात् सदा रहना।

निरञ्जनता २ — निर्दोषता। यहाँ पर राग-द्वेष-काम-क्रोध-लोभ

मोह-आदि दोषों का नाम अञ्जन जानना और इस अञ्जन (दोष) का न होना ही निर्दोषपन है।

निष्पन्दता ३ – चलन आदि क्रिया का न होना; अर्थात् स्थिर स्वभाव का नाम निष्पन्दता है।

निराभासता ४ – आभास नाम प्रतिबिम्ब का है, उससे रहित का नाम ही निराभासना है; क्योंकि जहाँ दो वस्तुओं का भेद रहता है, वहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव होता है। जैसे दर्पण में मुख का और जल में चन्द्र सूर्यादि का। यहाँ शिव के साथ इस शक्ति का भेद भान न रहने से प्रतिबिम्ब का अभाव कहा गया है। अतः प्रतिबिम्बाभावरूप निराभासता नाम का निजा शक्ति का चौथा गुण है।

निरुत्थानता ५ – संसाररूप से परिणाम का न होना। इस निजा शक्ति में सृष्टि का भान नहीं रहता। ये पूर्वोक्त पाँच गुण निजाशक्ति में सदा रहते हैं॥१०॥

मू०– अस्तिता १ अप्रमेयता २ अभिन्नता ३ अनन्तता ४ अव्यक्तता ५ इति पञ्चगुणा पराशक्तिः॥११॥

सं० टी०– सृष्ट्यादौ यस्यां प्रतिबिम्बः शिवस्य, सा पराशक्तिरित्-युक्तमधस्मात्। इतः पूर्वं शक्तेरन्तर्लीनतयाऽस्ति व्यवहारो नासीत्। अस्याः अस्तीति व्यवहारविषयता जाताऽत उच्यतेऽस्तिता अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपक-मव्ययं ततस्तलिरूपमेतेनाऽस्तीति तिङन्तात् कथं तल् इति शङ्कापि निरस्ता। नन्वेवं यदा शिवेन शक्तिरस्तीति ज्ञानं, तदा तस्या परिच्छेदोऽपि ज्ञातो न वेति विप्रतिपत्तौ द्वितीयकोटिमवलम्बते **[अप्रमेयता]** परिच्छेदशून्यत्वम्। एतेन शक्तिः, अनित्या परिच्छिन्नत्वात् इत्यनुमानमपि स्वरूपासिद्ध्या आभासीकृतम्। नन्वस्तु दैशिकपरिच्छेदविरहः, वस्तुकृतभेदावभासेन भवितव्यम्; तदा तन्निषेधति, अभिन्नताऽनन्ततेति पदद्वयेन **[अभिन्नता]** मत्तो भिन्न इत्याकारक स्वप्रतियोगिकभेदस्याभाव इत्यर्थः। अस्तु तर्हि जगत् प्रतियोगिकभेदः। अत आहज– **[अनन्तता]** तदानीं जगतोऽभावेन तत्प्रतियोगिकस्यापि भेदस्याभाव इत्यर्थः। नन्वेवं तर्हि जनिष्यमाणजगतोऽ-सत्त्वेऽसद्वादमतापत्तिरत आह **[अव्यक्तता]** कार्य्याणां सूक्ष्मावस्थाविशिष्टता यत्कार्यं यस्मिन्कारणे सूक्ष्मावस्थयाऽवतिष्ठते, तत्कार्यं प्रति तत्कारणम्

अव्यक्तमिति कथ्यते। यथा घटस्य अव्यक्तम् मृद्रूपम् इति साङ्ख्यादिदर्शनाभिज्ञैर्नाविदितमतो नासद्वादः॥११॥

भा०टी०– अस्तिता १– विद्यमानता; 'है' इत्यादि पद से व्यवहार होने की योग्यता।

अप्रमेयता २– व्यापकता; जिसका अत्यन्ताभाव किसी देश में न हो वह धर्मी व्यापक कहलाता है। जैसे आकाश। अतः इस पराशक्ति में व्यापकता गुण का कथन करने से यह सूचित होता है कि इसका अत्यन्ताभाव कहीं नहीं है।

अभिन्नता ३– एकता। भाव यह है कि दो वस्तुओं का परस्पर अन्योन्याभाव होता है। इसी का दूसरा नाम भेद है। जैसे कि यह घट पट नहीं और यह पट घटस्वरूप नहीं; इस प्रकार पराशक्ति में जगत् का भेद नहीं है क्योंकि पराशक्ति के प्रादुर्भाव के समय जगत् का अस्तित्व ही नहीं था। अतः जगत् का भेद शक्ति में वा शक्ति का भेद जगत् में होना असम्भव है। यही उपर्युक्त भाव 'अभिन्नता' पद से प्रकट किया गया है।

अनन्तता ४– अविनाशिता; ध्वंस और प्रागभाव का न होना। तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का उत्पत्ति के बाद ध्वंस होता है और उत्पत्ति के पहले प्रागभाव रहता है, वह घट-पटादि वस्तु अन्त सत्तावाली कहलाती है। जिसका ध्वंस और प्रागभाव– ये दोनों ही न हो, वह वस्तु अनन्त कहलाती है। परमेश्वर की पराशक्ति नित्य और व्यापक होने से प्रागभाव और विनाशरूप ध्वंस से रहित है। अतः अनन्ततारूप चौथा गुण पराशक्ति का जानना।

अव्यक्तता ५– कार्य की सूक्ष्म अवस्था। जैसे दूध में घी सूक्ष्मरूप से रहता है। घृतकार्य के प्रति दूध-अव्यक्त कारण कहलाता है तथा तेल के प्रति तिल और सरसों-आदि अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म कारण कहलाते हैं। इसी प्रकार, जगत् कार्य के प्रति पराशक्ति अव्यक्त कारण कहलाती है; क्योंकि अपनी उत्पत्ति के पूर्व यह जगत् उसी अव्यक्त पराशक्ति में लीन था। इसीलिये पराशक्ति का स्वाभाविक अव्यक्ततारूप पंचम गुण जानना॥११॥

मू०– स्फुरता स्फुटता स्फारता स्फोटता स्फूर्तितेति पञ्चगुणाऽपरा शक्तिः॥१२॥

सं० टी०– क्रियारूपेति पूर्वमुक्तं तत्र [**स्फुरता**] सञ्चलनम् [**स्फुटता**] विकाशता, प्रकाशः शिवस्याहमित्यनुभवविषयतया ज्वलनमिति यावत् [**स्फारता**] सञ्चालनम् ण्यन्तस्फुरधातोः, चिस्फुटोर्णा वित्यात्वे अचि निष्पन्नात् स्फारशब्दात्तलिरूपम्। [**स्फोटता**] विकासकता; यथा सूर्य्यः कमलं विकासयति, तथेदं जगत्। अथवा; बोधकता व्याकरणे स्फोटशब्देन क्वचित् शब्दब्रह्मपदेन। [**शब्द ब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः**] इतिव्याजह्नुः। वाक्यपदीयेऽनादिनिधनेत्यादि यत् प्रतिपाद्यते, तस्यात्रैवन्तर्भावः कृतो नाथपादेनेति बोध्यम् [**स्फूर्तिता**] उत्साह उच्छ्वनता; क्रियात्वरतेतियावत्। १२

भा० टी०– स्फुरता १- चलन-आदि क्रिया।

स्फुटता २- खिलना; जैसे पुष्प गुल्मादि खिलते हैं।

स्फारता ३- अपने शासन में चलाना जैसे राजा अपने मंत्रों द्वारा प्रजा को अपने शासन में चलाता है और सारथी घोड़ों के द्वारा रथ को चलाता है।

स्फोटता ४- खिलाना; जैसे सूर्य कमलों को खिलाता है।

स्फूर्तिता ५- गमनादि क्रिया की शीघ्रता; जैसे जल्दी चलना, जल्दी खाना इत्यादि। ये उपर्युक्त स्फुटता आदि स्वाभाविक पाँच गुण अपरा शक्ति में रहते हैं। १२

मू०– निरंशता निरन्तरता निश्चलता निश्चयता निर्विकल्पतेति पञ्चगुणा, सूक्ष्मा शक्तिः॥१३॥

सं० टी०– अहमाकारानुभवकारणं विमर्शशक्तिरित्युक्त- मधस्तात् तस्या धर्मान्नाह- [**निरंशतेति**]। तदानीमहमहमित्येकरूप एवानुभव आसीन्नतु त्वं वायवेति खण्डव्यवहारः। अत आह– [**निरंशता**] अंशो नाम, अवयव इदमादिपदवाच्यः, तद्रहितत्वं निरंशत्वम् [**निरन्तरता**] अन्तरा व्यवधानम्। तद्द्विविधं भवति कालकृतं देशकृतञ्च। तत्र सङ्कोचे कारणाभाद् द्विविधस्यापि व्यवधानस्य विरहो निरन्तरत्वम्। एतेन किञ्चित् क्षणमह-

मित्यनुभूयमध्ये विश्रम्य पुनरनुभव इति व्यावृत्तः; अत एव निश्चलत्वम्। चलनं स्वरूपात् प्रच्युतिः, तद्रहितत्वम्, [**निश्चयता**] विद्यारूपतां एतेन संशयविभ्रमविपर्य्ययात्मकत्वम् व्यावृत्तम् [**निर्विकल्पतः**] एकरूपता विशेषणरहितेति यावत्॥१३॥

भा० टी०– यह सूक्ष्म शक्तिविद्या रूप विमर्श शक्ति है– यह भाव पहले दिखला चुके हैं। उस सूक्ष्म शक्ति के पाँच गुणों का यहाँ वर्णन किया जाता है-

निरंशता १- अवयव विभाग का अभाव; अर्थात् 'अयं'– यह प्रथम पुरुष तथा 'त्वम्' (तूं)– यह मध्यम पुरुष– ये दोनों भिन्न अंश कहलाते हैं। सृष्टि के आदि में इन दोनों का व्यवहार नहीं था, केवल 'अहम्' (मैं)– यही अखण्ड व्यवहार था।

निरन्तरता २- दो वस्तुओं के बीच में अन्य का व्यवधान न रहना। भाव यह है कि लोक में व्यवधान का व्यवहार दो प्रकार से होता हैं : कालकृत और देशकृत। कालकृत जैसे प्रतिपद और तृतीया के बीच में द्वितीया का तथा वसंत और वर्षा के मध्य में ग्रीष्म ऋतु का व्यवधान होता है। देशकृत व्यवधान जैसे हरिद्वार और ज्वालापुर के बीच में "श्री पूर्णनाथ संस्कृत कालेज योगाश्रम"। परन्तु सूक्ष्म शक्ति में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं है।

निश्चलता ३- जिसमें चंचलता दोष न हो; अर्थात् स्वस्वरूप विचलित न होना ही निश्चलता कहलाती है।

निश्चयता ४- विद्यारूपता। सारांश यह है कि संशय-भ्रम-विपरीत ज्ञान-आदि दोषों से रहित यथार्थ ज्ञान का होना ही निश्चयता कही जाती है।

निर्विकल्पता ५- एकरूपता अर्थात् विशेषण विशेष्य भाव का न रहना। जैसे 'नील घट, यही नील' विशेषण और घटविशेष्य है। अत एव इन दोनों का विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध कहलाता है। पर इस सूक्ष्मा शक्ति में उपर्युक्त सम्बन्ध नहीं रहता। यद्यपि विशेष्यभूत शक्ति तो है भी, तथापि विशेषण के न रहने से केवल शक्ति में विशेषणविशेष्यभाव का संकलन नहीं हो सकता। उपर्युक्त पाँच गुण सूक्ष्मा शक्ति के जानना।॥१३॥

मू०– पूर्णता प्रतिबिम्बता प्रबलता प्रोच्चलता प्रत्यङ्मुखतेति पञ्चगुण कुण्डलिनी शक्तिः॥१४॥

सं० टी०– इयं शब्दार्थोभयकारणरूपेति पूर्वं निगदितम्; तदुपयोगिगुणान् वर्णयति। इयं शब्दसृष्ट्यपेक्षया परावागुच्यते, अथ सृष्ट्यपेक्षया प्रकृतिरिति कथ्यते क्वचिद्विन्दुः [**पूर्णता**] व्यापकता अनेन परिछिन्नतया केनचिदुत्प्रेक्षितम् अनित्यत्वम् दूरोत्सारितम्। किञ्च संसारं प्रति व्यापकत्वे-नोपादानकारणत्वं समुचितम्। लोकेऽपि घटशरावादयः स्वोपादानमृदादे-र्व्याप्या दृश्यन्ते–एतेन परमाणुभ्य, एव सृष्टिः।

यथा सूक्ष्मतमघटधानादितो महावटवृक्षादयो जायन्ते। इति स्थूलदृष्ट्या व्यवस्थापयन्तस्तार्किकवराक्वाऽपि तुच्छीकृताः। सूक्ष्मदृष्ट्या विवेचने वटधानादयोऽपि सूक्ष्मैः स्वावयवैः समस्तान्वृक्षान् व्याप्नुवन्त्येव। अन्यथा तूपादानमनाश्रित्य वृक्षस्थितिरेवासम्भविनी न जातु लोके मृत्तिकामनाश्रित्य अधस्थितां वा मृत्तिकामनवलम्ब्य मृत्तिकावयवरहितः केवलो घटो वियति दोलायमानो दृष्टिचरः। यदि भवन्मतग्रहावेशनिविष्ठा विचित्रमिदं चित्रं प्रदर्शयेयुस्तदा स्युर्लोके श्रद्धेयवचनाः। वयन्तु पश्यामः! उन्मत्तप्रलाप एव; यन्न स्वोपादानावयवदेशाद् भिन्नदेशेऽपि कार्यस्थितिः कार्य्यञ्च महदिति। किञ्च समवायिकारणदेश एव कार्य्यदेश इति वृद्धनैयायिकमतरक्षालोभेनापि स्वोपादानावयवानुस्यूतान्येव कार्य्याणीति मन्तव्यम्। तथा च; परिणामवादस्यैव परमाणुवादपदेन कथनेन नो हानिः। अतः सुष्ठु कथितम् व्यापकत्वमिति **प्रतिबिम्बता २** पश्यन्तीमध्यमादिवर्णपदात्मकशब्दरूपेण महत्तत्त्वा-हङ्काराद्यर्थरूपेण च परिणामस्वभाव एव प्रतिबिम्बता। अथवा निखिपदार्थाना-मङ्कुरभावेन प्रतिबिम्बनम्। **प्रबलता ३** उच्चावचनानाविधप्रपञ्चरचना-चातुर्य्यात्मकोत्कृष्टसामर्थ्यम्। **प्रोच्चलता ४** वर्धमानता स्थूलादिरूपेण परिणमनशीलत्वम् उर्द्धचलनम् वा। **प्रत्यङ्मुखता ५** सृष्ट्युन्मुखत्वं बहिर्मुखा सती स्वान्तस्थितान् अर्थान् बहिर्निःसारयति, तदा संसारः समुत्पद्यते। सृष्टि- सम्पादनोपयोगिनिखिलसामग्री परिपूर्णतेति निगलितः॥१४॥

भा० टी०– अब पाँचवी कुण्डलनी शक्ति के स्वाभाविक पाँच गुणों का वर्णन करते हैं।

१. पूर्णता– सर्वत्र विद्यमानता अर्थात् व्यापकता। यह कुण्डलिनी शक्ति का प्रथम गुण है। जो इस कुण्डलिनी शक्त को परिच्छिन्न मान कर अनित्य कहते हैं, उनके मत का खण्डन 'व्यापकता' गुण कहने से हो जाता है और उचित भी यही है; क्योंकि इतने लम्बे-चौड़े संसार का जिस व्यापक् कुण्डलिनी से विस्तार होता है, उसको छोटा कहना स्वयं अपनी बुद्धि के छोटेपन को ही प्रकाशित करना है। अत एव जो नैयायिक परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति कहते हैं, उनके मत का भी व्यापकता गुण कहने से खण्डन हो गया; क्योंकि परिच्छिन्न परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति होना सर्वथा असम्भव है। किन्तु यह कुण्डलिनी शक्ति ही परा पश्यन्ती-आदि शब्दसृष्टि का तथा महत्तत्त्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंचभूत और एकादश इन्द्रिय इत्यादि अर्थसृष्टि का कारण होती है।

२. प्रतिबिम्बता- इस कुण्डलिनी का शब्द और रूप से परिणाम होना ही प्रतिबिम्बता कहा गया है। अथवा प्रतिबिम्बतारूप कुण्डलिनी शक्ति का खास गुण है; क्योंकि जब योगी योगाभ्यास के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान करता है और जिस समय वह उत्थान परिपक्व हो जाता है; तब जैसा कुण्डिनी का तेजमय स्वरूप है, उसी तरह का उस योगी के समस्त शरीर में कुण्डलिनी शक्ति का प्रतिबिम्ब पड़ने लगता है। इसी कारण योगी के शरीर में चारों तरफ से अग्नि की चिनगारियां-सी नज़र आने लगती हैं। तब योगी का शरीर तेजपुंज से व्याप्त हो जाता है। यही कुण्डलिनी का प्रतिबिम्बतारूप दूसरा गुण जानना।

३. प्रवलता– उत्कृष्टसामर्थ्य; अर्थात् छोटा, बड़ा, ऊँचा, नीचा- इन नानाप्रकार के रचनात्मक चमत्कार का चातुर्य इस कुण्डलिनी महाशक्ति में भरा हुआ है। वहीं इसका तीसरा गुण है।

४. प्रोच्चलता– स्थूलादि आकार से परिणाम होना। या ऊपर को उछलना जैसे योगाभ्यासी के निरन्तर अभ्यास से जब कुण्डलिनी शक्ति जग जाती है, तब विशेषरूप से प्राणसहित कुण्डलिनी शक्ति की ऊर्ध्वगति देखने में आती है। इसे चौथा गुण जानना।

मू० – 'एवं शक्तिततत्त्वे पंचपंचगुणयोगात् परपिण्डोत्पत्तिः।' १५

सं० टी०– एवमिति प्रथमं व्यष्टिसृष्ट्युपयोगिनीं समष्टिसृष्टिमात्र [**एवम्**] पूर्वोक्तप्रकारेण [**शक्तिततत्त्वे**] तत्सङ्घाते सति [**पञ्च-पञ्चगुणयोगात्**] पञ्चविंशतिगुणानां समवायेन [**परपिण्डोत्पत्तिः**] परपिण्डस्य निग्रहानुग्रहसंहारस्थितिसृष्टिगुणकस्य सदाशिवस्य [**उत्पत्तिः**] आविर्भावो भवतीति ज्ञेयम्। अयमेव साङ्ख्यप्रकृतिविलक्षणकेवल-सत्त्वोपहितपुरुषविशेष ईश्वरो योगसूत्रोक्तः। सत्त्वस्यापि चैतन्यमिति विशेषोऽत्र वेद्यः॥१५॥

भा० टी०–पूर्वोक्त प्रकार से शक्तिततत्त्व में ऊपर लिखे हुये पाँच शक्तियों के स्वरूप विद्यमान होने पर एक-एक शक्ति में पाँच-२ गुण होने से सब गुणों को मिलाकर पच्चीस गुण होते हैं। उन पच्चीस गुणों का समुदायरूप जो परपिण्ड है, उसकी उत्पत्ति हुई। तात्पर्य यह है कि जैसे हम लोगों का यह स्थूलशरीर पंचभूतों का समुदाय पिण्ड कहलाता है, वैसे ही उन शक्तियों का समुदाय पर (अर्थात् श्रेष्ठ) पिण्ड कहलाता है।

और जैसे इस भौतिक पिण्ड का अधिष्ठाता यह जीव कहा जाता है, वैसे ही उस परपिण्ड का अधिष्ठाता सगुण परमेश्वर कहलाता है। इसी शक्तिसहित परमेश्वर का इस ग्रन्थ में अनादिपिण्ड-पद से व्यवहार किया जाता है। इसी को वेदान्ती मायाशबलित ब्रह्म कहते हैं। इसी को महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में *"क्लेशकर्मविपाकाश यैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः"* ऐसा कहा है।

अविद्यादि पंचक्लेश तथा शुभाशुभ त्रिविध कर्म, जाति, आयु, भोगरूप त्रिविध कर्मों का फल और सकल वासना, इन सब से निर्लेप पुरुष विशेष को ईश्वर कहते हैं। *"निरतिशय सर्वज्ञबीजम्"* अर्थात् उस परमेश्वर में सर्वज्ञता का कारण सर्वश्रेष्ठ सत्त्वरूप उपाधि है। इसी के बल से उस असङ्गचिद्रूप परमेश्वर में सर्वज्ञता है; अन्यथा असङ्ग चेतन में सर्वज्ञता धर्म का रहना ही असम्भव है। इस योगसूत्र-प्रतिपादित सत्त्व उपाधि में निरतिशय विशेषण देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जगत् की

उपादानभूत सांख्योक्त त्रिगुणस्वभाव वाली प्रकृति के सत्त्व से यह सत्त्व विलक्षण है। चूंकि सांख्यशास्त्र में कही हुई प्रकृति में तीनों गुणों का साहचर्य कहा है, इसीलिये सांख्यवादियों के मत में रजोगुण और तमोगुण का विच्छेद होने पर केवल सत्त्वगुण नहीं रह सकता। तब निरतिशय सत्व कैसे कहला सकता है? उस सत्त्व में निरतिशय सत्त्व तभी हो सकता है, जब रजोगुण और तमोगुण का लेशमात्र भी सम्पर्क न हो। अतएव सांख्योक्त सत्त्व से योगोक्त सत्त्व विलक्षण है। और योगाचार्य श्रीनाथजी ने उस निरतिशय सत्त्व को चिद्रूप माना है। इसीलिये उसको सत्त्व न कहकर शक्तिपद से कहा है।

यहाँ उत्पत्ति पद का अर्थ आविर्भाव है; क्योंकि सद्वाद में असत् की उत्पत्ति नहीं होती॥१५॥

मू०—उक्तञ्च-

निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डलिन्यासु पञ्चधा।
शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातः पिण्डः परः शिवः। १६

सं०टी०— गद्येनोक्तम् पद्येनोपसंहरति- [**उक्तञ्चेति**] मयेति शेषः, अस्यार्थस्तूपर्य्येवोक्तः। अवशिष्टः किञ्चिदिहोच्यते— शक्तेर्बिन्दुरूपिण्याः मूलप्रकृतेर्महामायायाः चक्रः। विकोणात्मगोलकरूपः। तन्मध्ये बिन्दुःकारण-शिवरूपः तस्य शक्तेर्विकाशकाले युगपत् त्रिरूपता भवति त्रिरूपता, त्वित्थम् तथाहि— इच्छाशक्तिज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्यात्मकः, सत्त्वरजस्तमो-रूपात्मको रुद्रविष्णुब्रह्मात्मकः, गौरीलक्ष्मीसरस्वतीरूपः, आधिदैविका-ध्यात्मिकाधिभौतिकस्वरूपः इतिपञ्चात्मकः। अत एवाद्यशक्तेः पञ्चत्रि-कोणात्मकः श्रीयन्त्रः, तस्य **क्रमेण** अपेक्षाबुद्ध्या अयम्भावः सर्वासां शक्तीनां समवायापेक्षया तदधिष्ठाता एकः सदा शिवः **परः** व्यापकः, **उत्थः** आविर्भूतः प्रत्येकशक्तेरधिष्ठात्रपेक्षया पञ्चदेवा आविर्भूताः। तेऽपि परा, अस्मदपेक्षया कथ्यन्ते। मूले कुण्डलिनी, आसु, इति छेदः॥१६॥

भा०टी०— निजा-परा-अपरा-सूक्ष्मा-कुण्डलिनी— ये पूर्वोक्त पाँच शक्तियां हैं। इनमें शक्तिचक्रक्रम द्वारा सदाशिव पाँच प्रकार से आविर्भूत हुआ। भाव यह है कि पूर्वोक्त पाँच शक्तियों के अध्यक्ष रूप से सदाशिव श्रीआदिनाथजी प्रकट हुए। यहाँ पूर्वापर ग्रन्थ की समालोचना से

गूढ़ भाव यह निकलता है कि एक एक शक्ति के विकास से एक-एक पिण्ड का प्रादुर्भाव हुआ। इस क्रम से पाँच पिण्ड। और फिर उन पाँच पिण्डों के अधिष्ठातृरूप पाँच देव हुए; जिनके नाम और गुण आगे चलकर वर्णन करेंगे। यहाँ शक्तिचक्रक्रम का अभिप्राय है– शक्ति चक्र त्रिकोण। उसके मध्य में बिन्दु रहता है, बिन्दु का अर्थ अविकृत कारण परमनाथ ब्रह्म को जानना। जब उस सदाशिव की शक्ति का विकास होता है, तब वह शक्ति एक साथ तीन आकारों को धारण करती है, वे तीन आकार हैं– इच्छा, ज्ञान, क्रिया। रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा। गौरी लक्ष्मी, सरस्वती। सत्त्व, रजस्, तमस्। आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक. .. इत्यादि रूप से शक्ति चक्रक्रम जानना॥१६॥

मू०–अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति १७

सं० टी०–तानेव व्यष्टिरूपान् पञ्चदेवान् प्रदर्शयति–अपरम्परमित्यादि-निजाशक्त्यधिष्ठाता सदाशिवः। स्वस्यनास्त्यन्यत् कारणमिति कारणपरम्परा-शून्यतया अपरम्परपदेन व्यवह्रियते १ पराशक्त्यधिष्ठाता परमेश्वरो मुमुक्षुभिः प्राप्यतेऽतः परमपदशब्देन निगद्यते। अपराशक्त्यधिष्ठाता रुद्रः प्रलयकर्ता भेदाभावात् शून्यपदेन निगद्यते। सूक्ष्माशक्त्यधिष्ठाता ज्ञानशक्तिविशिष्टो विष्णु रागादिरूपाञ्जनरहिततया निरञ्जनपदेनोच्यते। कुण्डलिनीशक्तिसाक्षि जगत्कर्तृत्वेन ब्रह्म सर्वेषां प्रत्यगात्मतया परमात्मपदेनात्र व्यवह्रियते। अन्यत्र क्वचिदागमे बिन्द्वात्मकमायासहितशम्भोः सदाशिवो जातः; तस्मादीशः, तस्माद्रुद्रः, ततो विष्णुः, ततो ब्रह्मा, एते यथासङ्ख्यमनुग्रहनिग्रहप्रलय-स्थितिसृष्टिकर्त्तारः पञ्चदेवाः, उत्तरोत्तरं समुत्पन्नाः शम्भुस्तु पञ्चात्मकः सदैकरूप इत्याहुः–अत्र तु पूर्वं पञ्चशक्त्युत्पत्तिं प्रदर्श्य तस्या एकैकस्या अधिष्ठातृतया पञ्चदेवान् अन्वर्थनाम्ना निर्दिश्य, अनन्तरं तेष्वेकैकस्माद्-देवादेकैको विशेषगुणः सृष्ट्युपयोगी समुत्पन्नस्तदेवं प्रदर्शयति॥१७॥

भा०टी० अब एक-२ शक्ति के अभिमानी पाँच देवताओं का नाम निर्देश किया जाता है : अपरंपर (सदाशिव), परमपद (ईश्वर), शून्य (रुद्र), निरंञ्जन (विष्णु) तथा परमात्मा (ब्रह्मा)॥१७॥

मू०–अपरम्परात् स्फुरतामात्रमुत्पन्नं परमपदाद् भावना-मात्रमुत्पन्नं शून्यात्स्वसत्तामात्रमुत्पन्नं निरञ्जनात् स्वसाक्षात्कार-

मात्रमुत्पन्नं परमात्मनः परमात्मोत्पन्नः॥१८॥

सं० टी०–[**स्फूरता**] उत्साहः क्रियासामान्यं [**भावना**] ईक्षणमन्वालोचनमिति यावत् [**सत्तामात्रं**] महत्तत्त्वं [**बुद्धितत्त्वम्**] [**साक्षात्कारमात्रम्**] अहंकारमात्रं [**परमात्मा**] बीजावस्थापन्नपिण्डविशेषः गुणसमवायः सृष्ट्युत्पादनोपयोगीत्यभिप्रायेणात्रोक्तम् एकैकस्य पञ्चपञ्च-गुणानाह॥१८॥

भा० टी०–इन पूर्वोक्त पाँच देवताओं से आगे होने वाली सृष्टि के उपयोगी पदार्थों की उत्पत्ति का निरूपण किया जाता है–

अपरम्परनामक देव से उत्साहमात्र उत्पन्न हुआ। परमपददेव से समालोचनात्मक ज्ञान उत्पन्न हुआ। निरंजन से स्वसाक्षात्कारमात्र (अर्थात् अहंकार) उत्पन्न हुआ।

परमात्मा नामक पंचम देव से संसार की बीजावस्थापन्न समष्टि पिण्ड उत्पन्न हुआ; क्योंकि अस्मदादि व्यष्टि पिण्डों की अपेक्षा वह पिण्ड उत्कृष्ट है। इसीलिये उस पिण्ड को मूल में परमात्मा को कहा है॥१८॥

मू०–अकलङ्कत्वमनुपमत्वमपारत्वममूर्तत्वमनुदयत्वमिति पंचगुणमपरं परम्॥१९॥

सं० टी०–अकलङ्कत्वमिति दोषशून्यत्वं १ सजातीयद्वितीयरहितत्वम् २ अन्तविरहितत्वम् ३ परिच्छेदविधुरत्वम् ४ उत्पत्तिरहितत्वम् ५ भावरूपदोषस्य प्रथमेन व्यावृत्तिः। इतैरश्चतुर्भिः यथाक्रमेण अन्योन्याभावध्वंसाभावात्यन्ताभाव-प्रागभावानां निवृत्तिरिति तत्त्वम्॥१९॥

भा०टी०–अब पूर्वोक्त पाँच देव में से प्रत्येक के पाँच गुणों का वर्णन करते हैं।

१. **अकलङ्कत्व**– रागादि दोषों का नाम कलंक है। उनका अभाव ही अकलङ्कत्व नामक अपरम्पर देव का प्रथम गुण है।

२. **अनुपमत्व**– इस अपरम्परदेव का सजातीय कोई दूसरा नहीं है; जिसकी उपमा दी जाय। इसीलिये इस देव का अनुपमत्वरूप दूसरा गुण जानना।

३. अपारत्व– सीमावा वस्तु का अन्त होता है, पर इस अपरंपरदेव का पार नहीं है। अतः अपारत्व इसका तीसरा गुण है।

४. अमूर्तित्व– परिच्छेदरहित। सारांश यह है कि जो परिमित वस्तु होती है, वह मूर्ति कहलाती है। इस अपरंपरदेव का किसी परिमाण से परिच्छेद नहीं है, इसीलिये अमूर्तित्व यह चौथा गुण है।

५. अनुदयत्व– जिसका प्रागभाव होता है, उसी की उत्पत्ति कही जाती है। किन्तु अपरंपरदेव की सदाव्यापकस्थिति होने से उसका प्रागभाव नहीं है। अतः अनुदयत्व नामक पंचम गुण इसमें सदैव रहता है।॥१९॥

मू०– निष्कलत्वमणुतरत्वमचलत्वमसङ्ख्यत्वमनाधारत्व-मिति पञ्च-गुणं परमपदम्।२०

भा० टी०–[निष्कलत्वम्] कला, अवयवः, तच्छून्यत्वम् **[अणुतरत्वम्]** सूक्ष्मत्वम् न तु तार्किकसम्मतपरमाणुत्वम्; अस्य व्यापकत्वात्। अत एवाह **[अचलत्वम्]** स्पन्दनक्रियाशून्यत्वम् **[असंख्य-त्वम्]** संख्या द्वित्वादिसेटकादितद्रहितत्वम्। **[अनाधारत्वम्]** अनाश्रितत्वम् व्यापकत्वात् न हि व्यापकं क्वचिदाश्रीयते; यथाकाशः॥२०॥

सं० टी०–अब परम्पद देव के पाँच गुणों का वर्णन किया जाता है :

१. निष्कलत्व– कला-शब्द का अर्थ है– अवयव। अवयव का अभावरूप निष्कलत्व गुण परमपददेव का होता है।

२. अणुतरत्व– सूक्ष्मता। यहाँ नैयायिकों की तरह परमाणुरूप अणुतरत्व का अर्थ नहीं है; क्योंकि परमपददेव व्यापक है, उसको अणु कहना भी अनुचित है। किन्तु अणुतरत्व का आकाश की तरह अतिसूक्ष्म अर्थ जानना। यह परमपददेव का दूसरा गुण है।

३. अचलत्व– छोटी वस्तु में चलनादि क्रिया होती है, व्यापक में क्रिया कहना असंगत है। इसलिये व्यापक परमपददेव की चलनादि क्रिया का अभावरूप अचलत्व तीसरा गुण है।

४. असंख्यत्व– द्वित्वांदि संख्या शून्यत्वरूप असंख्यत्व परमपददेव

का चौथा गुण है।

५. **अनाधारत्व**– किसी के आश्रित न रहना। भाव यह है कि व्यापक वस्तु स्वप्रतिष्ठित होती है; जैसे न्याय के मत से आकाश। यह परमपददेव भी व्यापक स्वप्रतिष्ठित है। इसलिये यह अनाधारत्वरूप पंचम गुण उक्त देव का जानना चाहिए।

मू०– लीनता पूर्णतोन्मनी लोलता मूर्च्छतेति पञ्चगुणं शून्यम्॥२१॥

सं० टी०– कार्याणामव्यक्तावस्था लीनता। कार्यं प्रति व्यापकता पूर्णता। सृष्ट्यै वैषम्ययोग्यता उन्मनी। सहजावस्था वा कार्याय तरलावस्था लोलता। संपिण्डीभावो मूर्च्छता॥२१॥

भाषा टीका– अब शून्य देव के पाँच गुणों का व्याख्यान करते हैं।

१. **लीनता**– कारण में कार्यों का प्रलय होना ही लीनतारूप प्रथम गुण शून्यदेव अर्थात् रुद्र का जानना।

२. **पूर्णता**– सर्वत्र सदाविद्यमानतारूप दूसरा गुण शून्यदेव में रहता है।

३. **उन्मनी**– सहजावस्था सदैव स्वरूपानुभव में निमग्न रहना ही 'उन्मनी' का अर्थ है। यह तीसरा गुण शून्यदेव में स्वाभाविक हैं।

४. **लोलता**– चंचलता। भाव यह है कि संहार-आदि कार्य-संपादन करने के लिये चंचलता चाहिए है। यह शून्यदेव रुद्र का चौथा गुण है।

५. **मूर्च्छता**– महाप्रलय में सकल संसार एकभाव को प्राप्त होता हुआ शून्यदेव में मूर्च्छित हो जाता है। इसीलिये मूर्च्छता नामक पंचम गुण पूर्वोक्त शून्यदेव में जानना॥२१॥

मू०– सत्यत्वं सहजत्वं समरसत्वं सावधानत्वं सर्वगतत्वमिति पञ्चगुणं निरञ्जनम्॥२२॥

सं० टी०– सहजत्वम् स्वरूपप्रतिष्ठत्वम् नन्वेवं कार्यस्य विनाशे तस्यापि विनाशः स्यादत आह– सत्यत्वम्। एकव्यक्तेर्विनाशेऽपि व्यक्त्यन्त-

रेऽनुस्यूततया नित्यत्वम्। यथा घटध्वंसेऽपि कपालशर्करादौ मृद्बुद्धे-र्विनाशाभाववत् समरसत्वम्। एकरूपेण सर्वत्रविद्यमानत्वम् सावधानत्वम्। भ्रमप्रमादरहित्वम् सर्वगतत्वम् स्वकार्ये सर्वत्र विद्यमानत्वम्।

भा० टी०–अब क्रमप्राप्त निरञ्जन विष्णुदेव के पाँच गुणों का वर्णन किया जाता है।

१. सत्यत्व– जिस वस्तु का तीनों काल में बाध न हो, वही वस्तु सत्य कहलाती है। इस निरंजनदेव का भी बाध तीनों कालों में नहीं हो सकता। अतः 'सत्यत्व' उसका प्रथम गुण है।

२. सहजत्व– अपने स्वरूपानुभव में मग्न रहना ही सहजावस्था है। यही निरंजन देव का दूसरा गुण है।

३. समरसत्व– जिसके स्वरूप में किसी प्रकार की विषमता नहीं। यह निरंजनदेव का तीसरा गुण है।

४. सावधानत्व– समाहितात्मा। भ्रम और प्रमादादि दोषों से रहित का नाम सावधान है। निरंजनदेव भी प्रमादादि दोषों से शून्य है– सावधानत्व। यह चौथा गुण उक्त देव में स्वाभाविक है।

५. सर्वगतत्व– सूत्रात्मारूप से सर्वत्र विद्यमान रहना ही सर्वगतत्वरूप पंचम गुण निरंजनदेव का है।

मू०– अक्षयत्वमभेद्यत्वमच्छेद्यत्वमविनावमदाह्यत्वमिति पञ्चगुणः परमात्मा। इत्यनादिपिण्डस्य पञ्चतत्त्वं पञ्चविंशति-गुणाः॥२३॥

सं० टी०– शक्तेः परिणामेऽप्यस्य तद्भावः प्रथमेन उपाधेरनेक-त्वेऽपि स्वस्यैकत्वम् द्वितीयेन, अनवयवत्वम्, तृतीयेन नित्यत्वं चतुर्थेन, आन्तरिकचिन्तादिदुर्गुणाभावः पञ्चमेन व्याकृतः एतेषां समष्टिः पञ्चविंशति-गुणसमुदायः पञ्चतत्त्वात्मक एक एव देवः परपिण्डः सदाशिव इत्युच्यते॥२३॥

भा० टी०– अब परमात्मा (ब्रह्म) देव के पाँच गुणों का वर्णन किया जाता है।

१. अक्षयत्व– संसाररूप उपाधि के क्षय होने पर भी परमात्मदेव के स्वरूप का क्षय नहीं होता। अतः अक्षयत्वरूप प्रथम गुण परमात्मा का जानना।

२. अभेद्यत्व– अनेक उपाधियों के भेद रहने पर भी वास्तव में परमात्मा के स्वरूप में भेद नहीं हो सकता। अतः अभेद्यत्वरूप दूसरा गुण जानना।

३. अछेद्यत्व– परमात्मा निरवयव है इसलिये अवयव के छेदन से इसका उच्छेद नहीं होता। अतः अछेद्यत्वरूप तीसरा गुण परमात्मदेव का जानना।

४. अविनाशित्व– अवयव-विनाश को छोड़कर स्वतः भी इस परमात्मदेव के स्वरूप का विनाश न होने से अविनाशित्वरूप चौथा गुण जानना।

५. अदाह्यत्व– आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक–इन त्रिविध तापरूपी दुःखों से समस्त चराचर विश्व व्याप्त है। अतः इन त्रिविध दुःखों की परम्परा से दग्ध होता रहता है। किन्तु परमात्मदेव आन्तरिक तापादि दुःखों से रहित है, अतः अदाह्यत्वरूप को पंचम गुण जानना। ऊपर लिखे ये पाँच गुण परमात्मदेव में सदैव रहते हैं।

मू०– उक्तञ्च। अपरम्परं, परमपदं शून्यं निरञ्जन-परमात्मानौ, पञ्चभिरेतैः सगुणैरनाद्यपिण्डः समुत्पन्नः २४

सं० टी०–अयमत्र निष्कर्षः। महाप्रलये निलिखं जगत् महा-मायायां लीनं सापि चिद्रूपा सती चिद्रूपशिवेनाभिन्नतयाऽभिन्न आदिनाथो निगुर्णस्तदा सम्वृत्तः। ततः सृष्टिसमये सर्वतः प्रथमं पञ्चपञ्चगुणात्मक-पञ्चशक्तीनामाविर्भावः। तत्र एकैकया सहितचेतनस्यैकैकदेवत्वेन पञ्चदेवा आविर्भूताः सर्वासां एकत्रीकरणे तत्समष्टिसहितश्चेतनः, अनाद्यपिण्डः सगुणपरमेश्वरः सदाशिव इत्यादिरूपेण प्रसिद्धोऽस्ति तस्यैव पञ्चावयवा अपरम्परेत्यादि, एकैकोऽप्यवयवः सकलकार्यसम्पादनपटुः। समुदायस्त्वे-कोऽत एव पञ्चाननानामप्रसिद्धिः–श्लोके सगुणैरिति सहयोगे तृतीयापूर्वं पिण्डाभावादयमेव प्रथमः पिण्डः साकारः। अथवा नास्ति, आद्यो यस्मादि-त्यनाद्य इतः पूर्व–आद्यकारणं यस्य स इति नित्यपिण्डत्वं सूचितम्॥२४॥

भाषा टीका– पूर्वोक्त रीति से पाञ्च शक्तियों के समुदाय अनादि पिण्ड के अपरंपर-आदि पाञ्च देव रूप पाँच तत्त्व हैं और वे

ही पाँच अङ्ग होते हैं। उन अङ्गभूत पाँच देवों में भी प्रत्येक में पाँच-५ गुण रहते हैं। उन सबको जोड़ देने से पच्चीस गुण होते हैं। इसी अभिप्राय को श्रीनाथजी गद्य में वर्णन करके अपरंपरमित्यादि पद्य द्वारा उपसंहार करते हैं।

यहाँ सारांश यह है कि महाप्रलय में यह मस्त जगत् महाशक्ति में विलीन होता है और वह चिद्रूप महाशक्ति भी चिद्रूप परमेश्वर से अभिन्न रहती है। उस समय निर्गुण-आदि नाथ अर्थात् परमनाथ तत्त्व था। उसके उपरान्त जब सृष्टि रचने का समय आता है, तब सबसे पहले अपने पाँच-२ गुणों से युक्त पाँच महाशक्तियों का प्रादुर्भाव होता है और उन पाँच शक्तियों में एक-एक शक्तियुक्त एक २ देवरूप से सबको मिलाकर पाँच देवों का आविर्भाव हुआ।

इन सब शक्तियों के सहित जो चेतन है, उसी का नाम अनाद्यपिण्ड है और वही सगुण परमेश्वर सदाशिव इत्यादि नाम से भी प्रख्यात है। उसी सर्वेश्वर के अपरंपर, परमपदशून्य, निरञ्जन, परमात्मा– ये पाँच देवता अवयवरूप हैं। इन देवों की सामर्थ्य भी जीवबुद्धि से अगम्य है। अतः "अनाद्य" पिण्ड का अङ्गभूत एक-२ देवता भी संसार-विषयक रचना-पालन-संहारादि कार्य सम्पादन में समर्थ है। यह सब मिलाकर समष्टि देव के अङ्ग स्वरूप हैं। इसीलिये उस समष्टि देव का पंचानन (पंचमुख) 'हर' नाम भी प्रसिद्ध है। इससे पहले कोई अन्य पिण्ड नहीं था, इस कारण यह अनाद्य पिण्ड कहलाया। ॥२४॥

मू०– अनाद्यात् परमानन्दः परमानन्दात् प्रबोधः प्रबोधाच्चिद्रुदयश्चिदुदयात्प्रकाशः प्रकाशात् सोहंभावः॥२५॥

सं० टी०–एतस्मात् अनाद्यपिण्डाख्यपरमेश्वरादाद्यपिण्डाख्यस्य महातत्त्वस्य पञ्चभूतवीजस्योत्पत्तिं व्याख्यास्यमानाः प्रथमतः तस्य पञ्चावयवान् पञ्चपञ्चगुणकान् क्रमेण दर्शयन्ति। अनाद्यादित्यादि॥२५॥

भाषा टीका–अब अनाद्यपिण्ड परमेश्वर से आद्यपिण्ड पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन किया जायेगा। इस आद्यपिण्ड पुरुष के भी पाँच-२ गुणों से युक्त परमानन्दादि पंचदेवों को अंगस्वरूप जानना। उन पाचों देवों के नाम-निर्देशपूर्वक उत्पत्ति का क्रम निम्नलिखित प्रकार से जानना।

अनादि पिण्ड परमेश्वर से परमानन्द देव उत्पन्न हुआ तथा परमानन्द से प्रबोध, प्रबोध से चिदुदय, चिदुदय से चित्प्रकाश, चित्प्रकाश से सोऽहंभाव उत्पन्न हुआ॥२५॥

मू०– स्पन्दो हर्ष उत्साहो निष्पन्दो नित्यसुखत्वमिति पञ्चगुणः परमानन्दः॥२६॥

सं० टी०–अत्र आद्य पिण्डस्य पञ्चावयवान् परमानन्देत्यादि नाम्ना निर्दिश्य तेषु प्रत्येकं पञ्चपञ्चगुणानाह, स्पन्द इत्यादि। यद्यत्कार्य-सम्पादिका या या शक्तिः सा सा तत्तत्पदेनोल्लिखिता शक्तिरेव पुरुषस्य गुण इति सिद्धान्तात्। तथा च [**स्पन्दः**] चलनशक्तिः [**हर्षः**] वैषयिकानन्दशक्तिः [**उत्साहः**] कृतिशक्तिः [**निष्पन्दः**] परिणामशक्तिः [**नित्यसुखत्वम्**] स्वरूपसुखानुभवशक्तिः एताभिः पञ्चशक्तिभिः सहितः, चेतनः परमानन्दः, आद्यपिण्डस्यैकोऽवयवः। एवं सर्वत्र शक्तिरूहनीया॥२६॥

भाषा टीका– अब परमानन्दादि देवों के पाँच-पाँच गुणों का निरूपण करते हैं।

१. **स्पन्द**– चलनादि क्रिया को 'स्पन्द' कहते हैं।

२. **हर्ष**– आनन्द या खुशी 'हर्ष' का अर्थ है।

३. **उत्साह**– प्रयत्न की शक्ति अर्थात् हिम्मत।

४. **निष्पन्द**– नानारूप को धारण करना अथवा स्थिरता।

५. **नित्यसुखत्व**– सदैव आत्मस्वरूप में नित्य सुख का अनुभव।

ये पाँच गुण पमानन्द देव में रहते हैं। ॥२६॥

मू०– उदय उल्लासोऽवभासो विकासः
प्रभा इति पंचगुणः प्रबोधः ॥२७॥

सं० टी०– [**उदयः**] उत्पत्तिः [**उल्लासः**] उच्छूनता [**अवभासः**] प्रतीतिः [**विकासः**] कार्योद्गमनम् [**प्रभा**] स्वरूपप्रकाशः, एतत्पञ्चशक्तिसहितः प्रबोधो द्वितीयावयवः॥२७॥

भा० टी०– अब प्रबोध के गुणों का वर्णन किया जाता है।

१. **उदय**– उत्पत्ति अर्थात् पैदा होना।

२. **उल्लास**– चित्त की प्रफुल्लता।

३. **अवभास**– ज्ञान।

४. **विकाश**– खिलना; जैसे पुष्पादि खिलते हैं।

५. **प्रभा**– तेज; अर्थात् स्वरूप प्रकाश।

ये पांच गुण प्रबोधदेव में रहते हैं॥२७॥

मूल०– सद्भावो विचारः कर्त्तृत्वं ज्ञातृत्वम् स्वतन्त्रत्व-मिति पञ्चगुणश्चिदुदयः॥२८॥

संस्कृत टीका– सद्भावः सत्ता [**विचारः**] विवेकः। कर्तृत्व-ज्ञातृत्वस्वातन्त्र्यशक्तिसहितश्चिदुदयस्तृतीयावयवः॥२८॥

भाषा टीका– अब चिदुदय के पाँच गुणों का वर्णन करते हैं।

१. **सद्भाव**– सदा रहना।

२. **विचार**– नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक।

३. **कर्तृत्व**– कर्तापन अर्थात् करने का स्वभाव।

४. **ज्ञातृत्व**– जानने का स्वभाव।

५. **स्वतन्त्रत्व**– दूसरे के अधीन न रहना।

उपर्युक्त पाँच गुण चिदुदय देव में रहते हैं। २८

मूल०– निर्विकारत्वं निष्कलत्वं निर्विकल्पत्वं समता विभ्रान्तिरिति पञ्चगुणः प्रकाशः॥२९॥

संस्कृत टीका– निर्विकारत्वं कार्यगतदोषासङ्गित्वशक्तिः, निष्कलत्वं कार्यसन्बन्धिभेदरहितत्वं निर्विकल्पत्वं संशयरहित्वम् समता, एकरूपेण सर्वत्रानुगतत्वम् विभ्रान्तिः, विगता भ्रान्तिरिति विग्रहे विपर्य्ययादिदोष-शून्यत्वम् एतत्पञ्चशक्तियुक्तः प्रकाशश्चतुर्थावयवः॥२९॥

भाषा टीका

१. **निर्विकारत्व**– उत्पत्ति-वृद्धि-इत्यादि विकारों का अभाव।

२. **निष्कलत्व**– अवयव-आदि का न होना।

३. **निर्विकल्पत्व**– संशयरूप विकल्प का न होना।

४. **समता**– सवत्र एकरूप से रहना।

५. **विश्रान्ति**– विषयों से उपराम अर्थात् हट जाना।

ऊपर के ये पाँच गुण चित्प्रकाशदेव में रहते हैं॥२९॥

मू०– अहन्ताऽखण्डैश्वर्यं स्वात्मता विश्वानुभवसामर्थ्यं सर्वज्ञत्वमिति पञ्चगुणः सोऽहम्भावः। इत्याद्यपिण्डस्य पंचतत्त्वं पञ्चविंशतिगुणाः। परमानन्दः प्रबोधश्चिदुदयश्चित्प्रकाशः सोहम्भाव इत्यन्त आद्यपिण्डो महातत्त्वयुक्तः समुत्थितः॥३०॥

संस्कृत टीका– अहंता समष्टिरूपत्वात् सर्वत्राहंभावः। अत एवाऽखण्डैश्वर्यं सर्वोपरिशासनशक्तिः कि द्वेषदृष्ट्या नेत्याह– स्वात्मता। अत्र स्वपदमात्मीयबोधकमन्यथा आत्मपदेन पौनरुक्त्यं स्यात् स्वस्य, आत्मा आत्मीय इति यावत् तस्य भावः। तथा च सर्वत्र आत्मीयत्वेन द्वेषस्यासम्भव एवेति बोध्यम्। अत एव विश्वानुभवसामर्थ्यम् सकलसाक्षात्कार-शक्तिः। सिंहावलोकनन्यायेन शक्तिपदस्य प्रत्येकं योजनाय अत्रान्ते शक्तिपर्य्यायसामर्थ्यपदमुपन्यस्तम्। सर्वज्ञत्वमतीतानागतविषयकज्ञानशक्तिः, एतत्पञ्चशक्तिविशिष्टः सोऽहंभावः पञ्चमावयवः। एतेषां समवाय आद्यपिण्डः। अयमेव पञ्चविंशतिगुणात्मक महातत्त्वगुणयोगात् महत्तत्त्वपदेन निगद्यते हिरण्यगर्भशब्देन वा *"स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते"* इति स्मृतिः। हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीदिति श्रुतिः॥३०॥

भाषा टीका–

१. **अहन्ता**– सर्वत्र अहंभाव; अर्थात् मैं ही सब जगह व्यापक रूप से हूँ।

२. **अखण्डैश्वर्य**– अणिमादिक अष्टविध ऐश्वर्य।

३. **स्वात्मता**– सर्वत्र आत्मबुद्धि; अर्थात् सब प्राणियों को अपने समान देखना।

४. **विश्वानुभवसामर्थ्य**– सूक्ष्म और स्थूल सकल पदार्थों के प्रत्यक्ष करने की योग्यता।

५. सर्वज्ञत्व– सर्वज्ञता; अर्थात् सर्वकालिकज्ञानशक्ति। ये पूर्वोक्त पाँच गुण सोऽहंभावदेव में जानना।

इस प्रकार आद्य पिण्ड के परमानन्द-आदि पाँच देवता ही पाँच अङ्ग हैं और प्रत्येक अङ्ग में पाँच-पाँच गुण होने से सबको मिलाकर पच्चीस गुण होते हैं। इन पाँच देवों का समुदाय महत्तत्त्व रूप आद्यपिण्ड उत्पन्न हुआ। इसी को शास्त्रान्तर में हिरण्यगर्भ नाम से कहा है।

मू०– आद्यान्महाकाशो महाकाशान्महावायुर्महावायोर्महातेजो महातेजसो महासलिलं महासलिलान्महापृथ्वी॥३१॥

संस्कृत टीका–एते पञ्चभूताः कार्यभूताः। महापददानेन कारणभूताः शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्ररूपतन्मात्ररसतन्मात्रगन्धतन्मात्ररूपी अपि सङ्गृहीता द्रष्टव्याः। तेषां प्रत्येकमेकैकस्य पञ्चपञ्चगुणान् प्रदर्शयन्ति॥३१॥

भाषा टीका–अब क्रम से आकाश-आदि पंचमहाभूतों की उत्पत्तिकम का निरूपण किया जाता है।

पाँच महाभूतों का कारण आद्यपिण्ड सूत्रात्मा है, उससे महाकाश उत्पन्न हुआ एवं महाकाश से महावायु प्रकट हुआ। महावायु से महातेज और महातेज से स्थूल जल, स्थूल जल से स्थूल पृथिवी उत्पन्न हुई॥३१॥

मू०– अवकाशोऽच्छिद्रमस्पृशत्वं नीलवर्णत्वं शब्दत्वमिति पञ्चगुण आकाशः।

सं०टी०– [अवकाशः] सर्वेषां मूर्तपदार्थानां समावेशे यथावन्नैव सम्पद्येत यद्यवकाश आकाशेन न प्रदीयेत। अन्यथा परस्परं प्रतिघाते चलनविहरणादि न सिद्ध्येत्। **[अछिद्रम्]** छिद्रपदार्थः शून्यंतद्भिन्नम्। एतेनावरणाभाव एवाकाशो न तु भावपदार्थ इति सुगतसमयो निरस्तो वेदितव्यः। तथाहि– बहुजनसमाकूले स्थले क्वतिष्ठेयमिति केनचित् पृष्टोऽपरो ब्रूते यत्रावरणाभावस्तत्र तिष्ठेति वाक्ये यत्रेत्याधारभूतः कश्चन पदार्थो बोध्यतेऽभावपदेनचाधेयभूतस्तथा चाधाराधेययोः कुण्डवदरवल्लोके भेदो दृष्टः। ततश्चाभावादभिन्नो य आधेयभूतः स एवाकाशोऽभावभिन्नत्वाद् भावभूतः। किञ्च शब्दादिगुणाधारतयापि भावपदार्थो मन्तव्यः। न जातु गुणाधिकरणता क्वचिदपि खपुष्पादौ दृष्टा। वेदे तु पदे पदे प्रतिपादितम्। एतस्मादाकाशः

सञ्जातः। उत्पत्तिमत्त्वाद् भावभूत इत्यनुमाऽपि। नन्वेवं भावभूतश्चेत्तं पावकः कथं न दहति वृष्टिधारा वा कुतो नार्द्रयतीत्यत आह– **[अस्पृशत्वम्]** न स्पृशति सञ्जत इति, अस्पृशः तस्यभाव; तत्त्वं संगरहितत्वम्। अयमाशयः– यथा पार्थिवत्वाविशेषेऽपि घटादौ लौहलेख्यत्वं भवति मण्यादौ नेत्यत्रा-वयवसंहनस्वभाव एवं तथैवास्यापि सावयवत्वोत्पत्तिमत्त्वगुणवत्त्वादेः साम्येऽपि तृणादीनां दाह्यता नत्वाकाशस्य विलक्षणावयवसंहतत्वात्। किं च कार्य-संहारशक्तिः स्वोपादानकारणे न तु कार्येऽत एवानलेन सलिलस्यावनेश्च दाहो भवति न तु वायोरतदुपादानत्वात्। अत एवाकाशस्य सर्वभूतोपादानतया नान्यभूतसंहार्य्यता महाप्रलये तु भवति प्रकृतिसंहार्य्यतेति युक्तिमुत्पश्यामः। नीलवर्णम् नीलरूपम् विरलावयवो हि नीलः। ननु सर्वैरस्य नीरूपत्वं प्रतिष्ठापितम् कुतोऽत्र नीलरूपं व्यवस्थाप्यत इति चेत्सत्यम् अन्यैर्लौकिक-प्रमाणैः परीक्ष्यते। अत्र तु धर्ममेघसमाधिनाप्रमाणराजेन। अतो नास्ति विरोधः। सूक्ष्मरूपेण सद्भावात् नापामरं निरीक्ष्यते समाधौ तु सूक्ष्मदृष्ट्युन्मेषेण निरीक्ष्यते योगिभिः। तदा तज्ज्ञानं भ्रमं मत्वा समाधावपि भ्रमो नापसरतीति विपरीतप्रत्ययो योगिभिर्नाधेय इत्युपदेशाय वस्तुतो विद्यमानमेव सूक्ष्मरूपं तत्र व्यज्यते स्वदृष्टेरतिविशदतया यन्निरीक्ष्यते तत्सत्यमेव न भ्रमो मन्तव्य इति। यथा परमाणोरप्रत्यक्षत्वम् प्रतिष्ठापितम् लौकिकदृष्ट्या तत्तथ्यमेव, किन्तु यन्त्र विशेषेण परमाणुरपि निरीक्ष्यते न तावतोभयोर्विरोधः; भिन्न-प्रकारेण प्रतिपादनात्। उपादाने सूक्ष्मावस्थया विद्यमान एव गुणः स्वकार्येऽभिव्यज्यत इति शरणेः सकलैरेव सद्भादावलम्बिदार्शनिकैरङ्गीकृततया पृथिव्यामभिव्यक्तं नीलं परम्परया नीलरूपवदुपादानत्वात् घटोपादान-कपालोपादानमृद्वत्। अन्यथा प्रकृतेः सर्वोपादानता भज्येतेति विपक्षबाधक-स्तर्कः। न तु अन्येऽपि गुणः कथं न तत्र प्रतिपाद्यन्ते इति नोत्प्रेक्षितव्यम् समाधिनापि तेषां तत्र भानाभावात्। अस्य च भानात् यो यत्र भास्यन्ते स तस्य गुण इति निगलितनीतया लौकिकप्रमाणैर्ये यत्र भास्यन्ते ते तस्य गुण इति रीत्या आकाशस्य नीलरूपवत्वं व्यवस्थापितम् इति कानुपपत्तिः को वा विरोधगन्धोऽपीति विविच्यताम् विवेकानुषक्तचेतोभिर्विपश्चिद्वरैर्निर्मत्सरैः। असद्वादावलम्बिमतमादाय विप्रतिपता असद्वाद एव तावद् श्रुतिस्मृति-युक्त्या सकलप्रमाणप्रतिषिद्ध इति दण्डनिपातेन परिहरणीयः। श्रुति-स्मृत्यादयोऽपि सद्वादप्रदर्शनेन मदीयानुमानेऽनुकूला एव न प्रतिकूलतामाच-

रन्तीति वेद्यम् [शब्दत्वम्] शब्दोऽस्त्यस्मन्निति मतुपि गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्ट इति लुकि, ततो भावे त्वप्रत्यये शब्द इति फलितम् प्रकृतिजन्य-बोधे प्रकारस्य भावपदार्थत्वात् ते पञ्चगुण आकाशे सन्तीति केचित्तु विशेषरूपाभाव एव एवञ्चाकाशे कस्यापि विशेषरूपस्य मानाभावे नील-वर्णोऽयमिति व्यवहारो दृष्टश्च लोके अकृष्णोऽपि देवदत्तः पटो वा उज्ज्वलश्वेताभावेऽपि नीलोऽयमिति व्यवह्रियते। अत एवोपासनाकाण्डे-रूपरहितस्यापि परमेश्वरस्य नीलरूपवत्त्वेनोपासते, यथा च नैयायिका तेजोभाव एव तम इति निगदन्तीत्याहुः॥३२॥

भाषा टीका– अब आकाश के पाँच गुणों का निरूपण करते हैं।

१. **अवकाश**- पोल अर्थात् सर्वमूर्त पदार्थों का आश्रय।

२. **अछिद्र**- छिद्रशून्य; अर्थात् जिसमें छेद न हो।

३. **अस्पृशत्व**- स्पर्श से रहित अर्थात्; जो छुवा न जा सके।

४. **नीलवर्णत्व**- नीलरूप।

५. **शब्दत्व**- ध्वनि अर्थात् आवाज।

ये पूर्वोक्त अवकाशादि पाँच गुण आकाश के जानना।

मू०– सञ्चारः सञ्चालनं स्पर्शनं शोषणं धूम्रवर्णत्वमिति पञ्चगुणो महावायु॥३३॥

सं० टी०–[सञ्चारः] चलनक्रिया, संयोगानुकूलव्यापार इति पञ्चसु भूतेषु सर्वतः प्रथमं वायावेव गमनक्रियाऽभिव्यज्यतेऽतः, तस्यैवासाधारणो गुणो मन्तव्यः। नन्वेवं तेजस उर्द्धगमनं जलस्य निम्नचलनमित्यादि कथं दृश्यते इत्यत आह **[सञ्चालनम्]** अन्येषु चलनजनिका प्रेरणा संयोगानुकूल-व्यापारानुकूलव्यापार इति यावत्। एतदुक्तं भवति स्वतश्चलनं तत्रैव तत्सम्बन्धादेवाऽन्यत्रापि तदुत्पद्यतेऽत एव मृतशरीरेऽन्तःप्रेरकवायुविरहान् न चलनादि जायते। जीवशरीरे तत्सत्त्वे तद्भवतीति तद्भावाभावानु-विधायित्वात् सिद्धं तन्निमित्तकं चलनम्। अत एव चेन्द्रियादिनिग्रहाय प्राण एवावरोध्यते प्राणायामेन योगिभिः। तस्मिन्नवरुद्धेऽवरुद्धान्येव भवन्तीतरेन्द्रि-याणीति प्रत्यक्षतरं बटुतरयोगिनामपि। अधिभूतसृष्टिष्वपि दीयताम् दृष्टिः यद्ययम् प्रवहादिवायुनं प्रवहेत् तदा कुमुदकमलिनीपतितारागोलचक्र-

भ्रमणनिमित्तकनिखिलरात्रिं दिवादिव्यवहारस्तत्क्षणं प्रलुप्येतेति स्वयन्निरीक्ष्यो-त्प्रेक्ष्यताम् वा शिक्ष्यताम् ज्योतिषादिशास्त्रतः। [**स्पर्शनं**] स्पर्शगुणः। अत्र शीतोष्णादिविशेषरूपेणानवभासात् सामान्ये नाभिहितमतोऽनुष्णशीतस्पर्श इति फलति। एतस्यैव विशेषावस्थाशीतादिजलादिभूतेषु। [**शोषणम्**] अन्येषां जलादीनां तदीय गुणानां वा स्वावयवेषु संहरणं वा प्रसारणं शोषणपदार्थः। अत एव श्रीगङ्गागतशैत्यपावनत्वादितत्तटेऽपि कुसुमकानन-परिसरवर्त्तिनामपि बहुलामोदश्चेत्यादि बहुतरमुन्नेयम्। [**धुम्रवर्णत्वम्**] कृष्णलोहितरूपम् अत्रापि यद्वक्तव्यम् तत्पूर्वोक्तमेव। एते पञ्चगुण महावायौ सन्ति।

भाषा टीका– अब वायु के पाँच गुणों का वर्णन किया जाता है।

१. **संचार**- चलना।

२. **संचालन**- चलाना।

३. **स्पर्शन**- स्पर्शन अर्थात् छूना।

४. **शोषण**- सुखाना

५. **धूम्रवर्णत्व**- धूमे-जैसा रूप।

उपर्युक्त पांच गुण महावायु में रहते हैं।॥३३॥

मू०– दाहकत्वं पाचकत्वमुष्णत्वं प्रकाशत्वं रक्तवर्णत्व-मिति पञ्चगुणं महातेजः॥३४॥

सं०टी०–[दाहकत्वम्] स्वकार्यभूतयोर्जलपृथिव्योः संहारकत्वम् अत्र दाहो द्विविधः क्वचित् गुणस्यैव यथोष्णजले केवलशैत्यगुणस्यैव न जलस्य क्वचिच्च स्वीयगुणाधिक्ये गुणिनोऽपि जलस्य तृणादेश्च [**पाचकत्वम्**] रूपरसान्तरसम्पादकत्वम् शरीरेऽशितान्नादे रसान्तरपरिवर्तनं जठरानलतेजः सम्बन्धात् घटादौ श्यामरूपस्य नाशे रक्तस्योत्पत्तिः, आम्रादिफले आमलस्य हरितरूपस्य च नाशः, माधुर्यस्य रक्तपीतादिरूपस्य चोत्पत्तिस्तज्जनक-व्यापारः, विलक्षणसंयोगाख्यः [पाचकत्वम्] तेजोनिष्ठम्। [**उष्णत्वं**] उष्णगुणं:, अत एव अन्यमपि उष्णायति, यो हि स्वयं धनी स एवान्यं धनयितुमलम् [**प्रकाशत्वम्**] प्रकाशगुणः तमो विनाशकः [**रक्तवर्णत्वम्**] रक्तरूपम् भगवती श्रुतिरप्याह यद्रोहितं रूपं तत्तेजसः। एते पञ्चगुणः तेजसि सन्ति॥३४॥

भाषा टीका–अब तेज के गुणों का वर्णन करते हैं।

१. **दाहकत्व**- जलाना।

२. **पाचकत्व**- पकाना।

३. **उष्णत्व**- उष्णता अर्थात् गर्मी।

४. **प्रकाशत्व**- प्रकाश अर्थात् उजाला।

५. **रक्त वर्णत्वं**- लालं रंग।

पांच गुणों से युक्त महातेज हैं।॥३४॥

मू०– प्रवाह आप्यायनं द्रवो रसः श्वेतवर्णत्वम् इति पञ्चगुणं सलिलम्॥३५॥

सं० टी०–[प्रवाहः] प्रवहति नीचैर्गच्छतीति। अत एव नदी वहतीति प्रयोगः। किञ्च तृणादीनां स्ववेगेन देशान्तरं प्रापयतीति प्रापणार्थक-वह्धातोघञिरूपम्। **[आप्यायनं]** वर्धनम्। अत एव जलसंयोगात् बीजमुच्छून्नं भवति, जलेन विक्लेदितास्तण्डुला ओदनां भवन्ति। जलसेकादेव तृणगुल्म-शाल्यादयो वर्धन्त इत्यादि सार्वजनीनं द्रवः, आद्यस्यन्दनासाधारणकारण-गुणो द्रवत्वम् **[रस]** मधुर एव स्वाभाविकः पृथिव्याद्युपाधिव-शादाम्लादिकम्। **[श्वेतवर्णत्वम्]** श्वेतरूपमिति सर्वजनीनं य-छुक्लं तदपामिति श्रुतिरूपदिशति। एते पञ्चगुण जले सन्ति॥३५॥

भाषा टीका- **[प्रवाह]** वेग, **[आप्यायन]** बढ़ना या तरङ्गों के द्वारा ऊपर को उमड़ना, **[द्रव]** पिघलना, **[रस]** मीठा स्वाद, **[श्वेतवर्णत्व]** श्वेतरूप- ये पाँच गुण जल के जानना।॥३५॥

मू०– स्थूलता नानाकारता काठिन्यं गन्धः पीतवर्णत्वमिति पञ्चगुणा महापृथ्वी। इति महासाकारपिण्डस्य पंचतत्त्वं पञ्चविंशतिगुणाः॥३६॥

सं० टी०– [स्थूलता] अधिकगुणसङ्घातः। नानाकारता। आकारो नाम अवयवसन्निवेशः स च पृथिव्यां नाना यथा घटपटगोमहिषीमा-तङ्गाद्यनन्तरूपा अवयवसन्निवेशाः सार्वपथीना न शक्या अपह्नोतुम्क्षीण-विज्ञानादिभिरिति बोधयितुमुपन्यस्तम्। [काठिन्यं] निविड़ावयवसंयोगविशेषो यथोपलादौ [गन्धः] स द्विविधः सुरभिरसुरभिश्चेति [पीतवर्णत्वम्] पीतरूपं

यद्यपि पृथिव्यां सर्वाणि रूपाणि पूर्वभूतगुणानामुत्तरोत्तरेऽनुवर्त्तनात्, तथापि यथा रक्तादयः पूर्वत्रोपलभन्ते नैवं पीतम् इदं त्वत्रैवेत्यत आह-पीवर्णत्वम् इति। एते पञ्चगुणाः पृथिव्यां सन्ति। एतेषां समुदाय एव चिदचित्संवलितो महासाकारपञ्चतत्त्वात्मकः पञ्चविंशतिगुणविशिष्टः पञ्चाननशिवः श्रुतौ वैश्वानरविराडादिशब्दैर्व्यवह्रियते॥३६॥

भाषा टीका–अब पृथ्वी के पाञ्च गुणों का वर्णन करते हैं। **[स्थूलता]** मोटापन। **[नानाकारता]** पर्वत-तरु-लता-आदिरूप से तथा सम विषम मरुस्थल आदि भेद से पृथ्वी के अनेक आकार देखने में आते हैं। यही नाना आकारता पृथ्वी का दूसरा गुण है। **[काठिन्य]** कठिनता अर्थात् कड़ापन **[गन्ध]** महक। यहाँ सुगन्ध और दुर्गन्ध। इन दोनों का गन्धपद से ग्रहण जानना **[पीतवर्णत्व]** पीलावर्ण। यद्यपि पृथ्वी में और भी चित्र-विचित्र रंग देखने में आते हैं, तब पीलारूप पृथ्वी का विशेष गुण क्यों कहा तथापि? जैसे तेज-आदि में लाल रंग-आदि की प्रतीति होती है, वैसे पीला रंग पृथ्वी से अन्यत्र नहीं देखने में आता। केवल पृथ्वी में ही अभिव्यक्त होता है। अतः पीले वर्ण को ही पृथ्वी का गुण कहा है। ये पाञ्च गुण महापृथ्वी में रहते हैं।

इन पाञ्च महाभूतों का समष्टिरूप महासाकार पिण्ड होता है और उस समष्टि पिण्ड के आकाश आदि पाञ्च भूत ही पाञ्च तत्त्वरूप पाञ्च अंग है तथा एक भूत में पाञ्च गुण होने से पच्चीस गुण साकार पिण्ड के जानना।॥३६॥

मू०– स एव शिवः शिवाद् भैरवो भैरवात् श्रीकण्ठः श्रीकण्ठात् सदाशिवः सदाशिवादीश्वर ईश्वराद्रुद्रो रुद्राद्विष्णु-र्विष्णो ब्रह्मेति महासाकारपिण्डस्य मूर्त्यष्टकम्॥३७॥

सं० टी०–[स एव] पूर्वोक्तपिण्ड एव शिवस्ततो भैरवो जातः सोऽपि तावद्गुण विशिष्टो न तु न्यून इत्येकस्यैव शिवस्य मूर्त्यष्टक-कथनेन व्यज्यते शिवो भैरवः श्रीकण्ठः सदाशिव ईश्वरो रुद्रो विष्णु ब्रह्मेत्यष्टौ मूर्त्तयः सञ्जाताः। एते हि समष्टिभूता देवा अनन्तब्रह्माण्डान् रचयन्ति यथासमयं प्राणिकर्मानुरूपं रक्षन्ति नियमयन्ति संहरन्ति तारयन्ति च। ततः ब्रह्माण्डं प्रतीशास्ते सर्वैर्मुमुक्षुभिर्बुभुक्षुभिश्च स्वस्वाभिष्टसिद्ध्यैः

पूजनीया इति प्राण्यानुजिघृक्षयोपदिशन्त्याचार्याः॥३७॥

भाषा टीका– अब साकार आठ देवों के उत्पत्तिक्रम का निरूपण किया जाता है। जो पूर्वोक्त विवृत आठ पिण्ड हैं, वही पच्चीस गुणस्वरूप चित एवं अचित् रूप से महासाकार पिण्डरूप में प्रकट हुआ। और वही साकार पिण्ड पंचानन शिव कहलाता है। उस साकार शिवजी से भैरव प्रकट हुआ। भैरव से श्रीकण्ठश्रीकण्ठ से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रुद्र, रुद्र से विष्णु और विष्णु से ब्रह्माजी पैदा हुये। इस प्रकार महासाकार विष्णु की आठ मूर्तियों का विभाग जानना। आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक- इस प्रकार तीन भेदों से त्रिविध सृष्टि प्रधान है; क्योंकि अधिष्ठाता अन्तर्यामी देव के द्वारा ही चराचर सकल विश्व का संचालन होता है। और देवोपासना द्वारा ही चार प्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। इसलिये इस ग्रन्थ में सबसे पहले देव सृष्टि का निरूपण किया गया है।॥३७॥

मू०– तद्ब्रह्मणः सकाशादवलोकनेन नरनारीरूप-प्रकृतिपिण्डः समुत्पन्नस्तच्च पञ्चपञ्चात्मकं शरीरम्॥३८॥

संस्कृत टीका–[तस्मात् ब्रह्मणः] परमेष्ठिनः सकाशादवलोकनेन, सङ्कल्पेन स्त्रीसम्पुटितः पुरुषः। **[प्रकृतिपिण्डः]** व्यक्तिसृष्टेः कारणभूतो मनुप्रजापतिः शतरूपासहितः सञ्जातः, ततः प्रभृतिजरायुजादिभौतिक-सृष्टिर्भवति। तदपि शरीरं पञ्चभूतात्मकं प्रत्येकभूतस्य पञ्चपञ्चगुणात्मकं तस्मिंस्तस्मिन् शरीर एकैकभूतस्य यानि यानि कार्याणि तानि प्रदर्शयन्ति, अस्थिमांसेत्यादिमनुष्यानधिकृत्य प्रवृत्तमिदं शास्त्रम्। अतो मनुष्यशरीरेषु पञ्चानामपि भूतानां विद्यमानत्वेऽपि, पृथिव्यंशस्याधिक्येन पार्थिवत्वम् तस्मात् प्रथमं पृथिवीकार्याण्यारभ्याकाशगुणकथनेन समापितम्॥३८॥

भाषा टीका–इसके उपरान्त देव मनुष्यादि सृष्टि के क्रम से प्रेरित हुये ब्रह्माजी के संकल्प द्वारा और उसी परमपितामह ब्रह्माजी से नरनारी रूप प्रकृतिपिण्ड अर्थात् शतरूपा सहित मनु-प्रजापति उत्पन्न हुआ। उसके बाद उनसे जरायुज-अण्डज-स्वेदज आदि समस्त भौतिक पिण्डों की उत्पत्ति हुई। और वहीं प्रकृतिपिण्ड पाँच भूतों के पाँच-पाँच गुणों से युक्त होने से पांचभौतिक शरीर कहलाता है और यह भौतिक

शरीर भी पंचभूतात्मक है। वहाँ पर शरीरगत पाँच भूतों के गुणों का वर्णन विपरीतक्रम द्वारा किया जायेगा; अर्थात् पृथ्वी से लेकर आकाशपर्यन्त इसका आशय यह है कि मनुष्यों का अधिकार करके यह शास्त्र प्रवृत्त हुआ है और मनुष्यों के शरीर में पाँच भूतों के विद्यमान होने पर भी पृथ्वी अंश का आधिक्य है। इसीलिये यह पार्थिव शरीर कहलाता है। अतः इस शरीर में सबसे पहले पृथ्वी के गुणों का वर्णन किया जायेगा। बाद में जल से लेकर आकाशपर्यन्त के गुणों का वर्णन करेंगे।॥३८॥

मू०– अस्थिमांसत्वङ्नाडीरोमाणीति पञ्चगुणा भूमिः॥३९॥

संस्कृत टीका– शरीरेऽस्मिन् भुक्तान्नोपचितानाम् अस्थिमांस-त्वङ्रोमेति पञ्चानां काठिन्यमुपलभ्य काठिन्यगुणविशिष्टपृथिव्युपादानकत्वं सुनिरूपितं भवति, तथा च यद् यस्य कार्यं तत्तस्य गुण इति न्यायेन पृथिवीगुणत्वमुक्तम्॥३९॥

भाषा टीका– अब यहाँ से पृथ्वी के पाँच गुणों का वर्णन किया जाता है: [**अस्थि**] हड्डी, [**मांस**] मांस, [**त्वक्**] त्वचा अर्थात् ख्याल, [**नाड़ी**] नाड़ी और [**रोम**] लोम अर्थात् वाल-२ पाँच गुण पृथ्वी के पार्थिव शरीर में रहते हैं।॥३९॥

मू०– लाला मूत्रं शुक्रं शेणितं स्वेद इति पंचगुणा आपः॥४०॥

संस्कृत टीका–एवं लालामूत्रशोणितप्रस्वेदेषु द्रवत्वोपलब्ध्या जलोपादानत्वाज्जलीयगुणत्वमुक्तम्॥४०॥

भाषा टीका– [**लाला**] लार, [**मूत्र**] पेशाब, [**शुक्र**] वीर्य, [**शोणित**] रुधिर, [**स्वेद**] पसीना-२ ये शरीरगत पाँच गुण जल के हैं।॥४०॥

मू०– क्षुधा तृषा निद्रा कान्तिरालस्यमिति पञ्चगुणं तेजः॥४१॥

संस्कृत टीका–क्षुधातृषानिद्राकान्त्यालस्येषु च दाहकत्व-पाचकत्वोपलब्ध्या तैजसत्वेन तेजोगुणत्वम्। अत्र कान्तिर्लावण्यं शुक्ल-

कृष्णसाधारणो गुणः। ननु आलस्यम् निद्रा च कथं तेजो गुण इति चेत्, शृणु! तैजसं हि पित्तं यदा प्रवर्धमानं तत्तन्नाडीरन्ध्रान् विरलतया व्याप्नुते, तदाऽलस्यं जनयति। यदा च परिपूर्णतयाऽश्नतु तदा मनसः सञ्चरितुमवकाशाभावात् निद्रां जनयतीति प्रत्यक्षम्॥४१॥

भाषा टीका– [**क्षुधा**] भूख, [**तृषा**] प्यास, [**निद्रा**] नींद, [**कान्ति**] प्रभा और [**आलस्य**] काम से अरुचि-शरीर में ये पाँच गुण तेज के जानना।

यद्यपि आलस्य और निद्रा में तमोगुण प्रधान होने से इनको तेज का गुण नहीं कहना चाहिये; ऐसा अचानक सन्देह होता है। कारण कि आग जलने आदि तेज-कार्यों में अक्सर चंचलता और तरलता देखने में आती है, तथापि यहाँ सन्देह न करना चाहिये; क्योंकि जब शरीर में तेज का कार्य पित्त बढ़ा हुआ नाड़ियों के छिद्रों में विरलरूप से व्याप्त होता है, तब वह आलस्य को उत्पन्न करता है। इसीलिये श्रीयोगाचार्यजी ने तमोगुण प्रधान आलस्य को तेज का गुण कहा है। इसी प्रकार; जिसकी जठराग्नि अच्छी तरह से बढ़ी हुई है, वह पुरुष जब पेट को भरने के लिए खूब खाता है। उस समय पेट की गर्मी की अधिकता से पित्त ज्यादा मात्रा में बढ़कर समस्त नाड़ियों के छिद्रों में पूर्णरूप से व्याप्त होता है, जब मन को नाड़ियों में इधर-उधर घूमने का अवकाश न मिलने से निद्रा उत्पन्न होती है। इसीलिये श्रीनाथजी ने निद्रा को भी तेज का गुण माना है॥४१॥

मू०– धावनं भ्रमणं प्रसारणमाकूञ्चनं निरोधन मिति पञ्चगुणो वायुः॥४२॥

सं० टी०– तथैव धावनभ्रमणप्रसारणाकुञ्चननिरोधेषु वायुजन्यत्वेन वायुगुणत्वम्। उत्कटकोटिकशीघ्रगमनं धावनम्। अनियतदिक्देशगमनं भ्रमणम्, क्वचित् प्लवनमिति पाठः, तस्य मण्डुकगतिवदुत् प्लवनमर्थः। प्रसारणं, सर्वदिक्संयोगानुकूलव्यापारः। आकुञ्चनं, स्वाभिमुखसंयोगानुकूलव्यापारः। निरोधनं, नियतदेशसंयोगानुकूलव्यापार इत्यर्थः॥४२॥

भाषा टीका–अब शरीर में वायु के पाँच गुणों का वर्णन किया जाता है।

धावन-दौड़ना। **भ्रमण**-घूमना या **प्लवन**-तैरना। **प्रसारण**-फैलाना **आकुञ्चन**-खेंचना या समेटना। **निरोध**-प्रतिबन्ध; अर्थात् रोकना।

मू०– रागो द्वेषो भयं लज्जा मोह इति पञ्च गुण आकाशः।
इति पञ्चविंशतिगुणानां भूतानां पिण्डः॥४३॥

सं०टी०– एवं रागद्वेषभयलज्जामोहेषु सूक्ष्मत्वहृदयाकाशसञ्चारित्वयोरुपलब्ध्या हृदयाकाशाश्रितान्तःकरणाश्रितत्वेन चाकाशकार्य्यत्वम् साक्षात् परम्परया च निश्चित्याकाशगुणत्वमुक्तम् अन्यत् सर्वं सुगमम्। पूर्वोक्तपञ्चविंशतिगुणात्मकभूतानां समुदायो भौतिकशरीरमिदम्॥४२॥

भाषा टीका– अब शरीरगत आकाश के पाँच गुणों का वर्णन करते हैं। **राग**-धन पुत्र स्त्री इत्यादि भोग्य विषयों में आसक्ति का नाम राग है। **द्वेष**-अप्रीति, वैर अर्थात् आत्मप्रतिकूल पदार्थों में प्रेम का न होना। राग और द्वेष- ये दोनों कल्याण के बाधक है। अतः ये सबके लिये त्याज्य हैं। इसी भाव को लेकर श्रीनाथजी ने 'विवेक मार्तण्ड' में कहा है–

रागद्वेषौ यदि स्यातां तपसा किं प्रयोजनम्।
तावेव यदि न स्यातां तपसा किं प्रयोजनम्॥

भय-डर, **लज्जा**-शर्म, **मोह**-अज्ञान अर्थात् वस्तु के सच्चे स्वरूप को न जानना-

शंका– ये राग-द्वेषादि तो अन्तःकरण के धर्म हैं, फिर आकाश के गुण क्यों कहें?

उत्तर–जैसे शरीरस्थ हड्डी-आदि पृथ्वी के कार्य होने से उसी के गुण कहे गये हैं, वैसे ही ये रागादि भी शरीरस्थ हृदयाकाश का आश्रय लेकर संचार करते हैं या हृदयाकाश में रहने वाले अन्तःकरण के आश्रित होकर ये रागादि रहते हैं तथा हृदयाकाश का भूताकाश से भेद नहीं है; जैसे मठाकाश का महाकाश से। अतः साक्षात् या परम्परा से आकाश कार्य्य होने से आकाश के गुण कहे गये हैं। इस प्रकार; एक एक भूत के पाँच-पाँच गुणों का शरीर में निरूपण किया है, उन पाँच भूतों के पाँच २ गुणों से अर्थात् भूतसमुदाय के पच्चीस गुणों से ही यह प्रकृति पिण्डरूपं पांचभौतिक देह उत्पन्न होता है।

मू०– मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चैतन्यमित्यन्तःकरण-पञ्चकम्॥४४॥

संस्कृत टीका–स्थूलशरीरं प्रदर्श्य तदभ्यन्तरे प्रविश्य तत्सञ्चालकः सूक्ष्मशरीरापरपर्य्यायः आमोक्षं पर्यवस्थायी लिङ्गात्मा प्रदर्श्यते। सोऽपि पञ्चपञ्चात्मकः। अतस्तत्र प्रथमं पञ्चवैध्यमाह–मन इत्यादि। अत्रेदं बोध्यम् यथा सामूहिकरूपेण एकमेव स्थूलं शरीरं सर्वावयवानुसिद्धं विभजने पार्थक्येन पञ्चपञ्चात्मकं प्रदर्शितं, तथैवेदमपि सर्वतोऽनुविद्धम् एकमेव द्रव्यम् किन्तु तस्यापि विभजनेऽवयवशः पञ्चविधत्वं, तत्रापि पञ्चपञ्च-कार्याणि वृत्तिभेदेन विभज्य पञ्चपञ्चात्मकं सुष्ठु व्यवस्थापयिष्यते॥४४॥

भा० टी०– अब अन्तःकरण का वर्णन करते हैं। यद्यपि अवयवी केवल एक ही अन्तःकरण है, तथापि अवयवों के द्वारा उसी के मन–बुद्धि–आदि पाँच भेद जानना। अब उन ही मन–बुद्धि–आदि के पाँच–पाँच गुणों का निरूपण किया जायेगा : मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, चैतन्य– इस प्रकार से पाँच प्रकार का अन्तः करण है। ये भेद पूर्वोक्त अन्तःकरण की वृत्ति के जानना॥४४॥

मू०– सङ्कल्पो विकल्पो मूर्च्छा जड़ता मननमिति पञ्चगुणं मनः॥४५॥

सं० टी०– तत्र प्रत्येकमवयवानां वृत्तिभेदेन पञ्चपञ्चगुणानाहुः **[सङ्कल्प इत्यादि] [सङ्कल्पः]** इदं मे भूयादित्याशा **[विकल्पः]** स्थाणुर्वा पुरुष इत्याद्याकारक एकधर्मिकविरुद्धकोटिकधर्मं द्वयावगाहिज्ञानं संशयः **[मूर्च्छा]** मोहः; अतद्वति तत् प्रकारको बोधः। यदवच्छेदेन तत् सम्बन्धाभावः, तदवच्छेदेन तत्सम्बन्धविषयकज्ञानमिति यावत्; यथा शुक्तौ "इदं रजतम्"। **[जडता]** अविवेकता **[मननम्]** तर्कः। व्याप्यारोपेण व्यापकारोपः, यदि वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादित्याकारक इति पंचगुणा मनसः॥४५॥

भा० टी०– अब शरीरगत मन के पाँच गुणों का वर्णन किया जाता है।

संकल्प–यह वस्तु मुझे मिल जाय– इस प्रकार की आशा का नाम संकल्प है।

विकल्प–सन्देह, अर्थात् यह मनुष्य है, या कुछ और है इस प्रकार के संशयात्मक ज्ञान को विकल्प कहते हैं।

मूर्च्छा–मूढ़ता, अथवा मन की अचेत अवस्था को भी मूर्छा कहते हैं।

जडता–मन्दता अर्थात् ग्राहिणी बुद्धि का अभाव।

मननम्–तर्कपूर्वक विचार का नाम मनन है। ये पाञ्च गुण मन में रहते हैं।४५

मू०– विवेको वैराग्यं शान्तिः सन्तोषः क्षमेति पञ्चगुणा बुद्धिः॥४६॥

संस्कृत टीका– [विवेकः] निश्चयः। यदवच्छेदेन तत्सम्बन्धस्तद-वच्छेदेन तत्सम्बन्धज्ञानम्। **[वैराग्यम्]** प्राप्तेष्वपि भोगेष्वलं बुद्धिः, यदाह दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसञ्ज्ञा। तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्य-मिति भगवान् पतञ्जलिः। **[शान्तिः]** विक्षेपाभावः। **[सन्तोषः]** यादृक्षिकोपपन्नेषु कृतार्थता **[क्षमा]** सत्यप्यपराधे प्रसहसनमिति पञ्चगुणा बुद्धौ ॥४६॥

भाषा टीका–अब बुद्धि के पाञ्च गुणों का निरूपण करते हैं।

विवेक–वस्तु के स्वरूप का यथार्थ निश्चय विवेक कहलाता है।

वैराग्य– इस लोक और स्वर्गलोक के विषयों से चित्त के उपराम अर्थात् हट जाने को वैराग्य कहते हैं।

शान्ति–चित्त में चांचल्यादि दोषों का न रहना शान्ति कहा जाता है।

सन्तोष– शरीरनिर्वाह के लिये जैसी, जितनी और जो वस्तु मिल जाय, उसी से सन्तुष्ट हो जाने का नाम सन्तोष है।

क्षमा– दण्ड देने की शक्ति रहते हुए भी दूसरे के अपराध को सहन करने का नाम क्षमा है। ये पाञ्च गुण बुद्धि में रहते हैं।

मू०– अभिमानं मदीयं मम सुखं मम दुःखं ममेदमिति पञ्चगुणोऽहङ्कारः।

संस्कृत टीका– [**अभिमानम्**] अहमेव नान्यो मत्सम इति [**मदीयम्**] शरीरेन्द्रियाद्याध्यात्मिकेषु सम्बन्धज्ञानम् [**मम सुखम्**] सुख-विषयकरागः [**मम दुःखम्**] दुःखविषयक द्वेषः [**ममेदम्**] बाह्यवस्तुषु सम्बन्धज्ञानम् अवस्थाभेदात् परस्परं भेदमादाय पञ्चविधत्वमुपवर्णितम्। अतो न पुनरुक्तता॥४७॥

भाषा टीका– अब अहंकार के पाञ्च गुणों का वर्णन करते हैं।

अभिमान–मैं ही अमुक कार्य करने में समर्थ हूँ, दूसरा नहीं- इस प्रकार के भाव का नाम अभिमान है।

मदीय–मेरा अर्थात् शरीर-इन्द्रिय-आदि आध्यात्मिक वस्तुओं में 'ये मेरे हैं'- इस प्रकार के सम्बन्ध को मदीय कहते हैं।

मम सुख–सुख के साथ सम्बन्ध; अर्थात् सुख।

मम दुःख–दुःख के साथ सम्बन्ध; अर्थात् मेरा दुःख।

ममेदम्–पुत्र-कलत्रादि वाह्य वस्तुओं में 'ये सब मेरे हैं'- इस प्रकार के सम्बन्ध को 'मम इदम्' कहते हैं। उपर्युक्त में पाञ्च गुण अहंकार के हैं।

मू०– मतिर्धृतिः स्मृतिस्त्यागः स्वीकार इति पञ्चगुणं चित्तम्॥४८॥

सं०टी०– [**मतिः**] इच्छा [**धृतिः**] उत्साहः येन शरीरेन्द्रियाणामवसाद-प्राप्तौ-उत्तम्भनम्। [**स्मृतिः**] संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञायाः स एवायमित्यस्य संस्कारेन्द्रियोभयजन्यत्वेन मात्रपदनिवेशवलान्नातिव्याप्तिः। [**त्यागः**], दानम् स्वीकारसाहचर्यादत एव पूर्वोक्तवैराग्येन न पुनरुक्तमुद्भावनीयम्। [**स्वीकारः**], ग्रहणं दानानुकूलो ग्रहणानुकूलश्च व्यापारः चित्ते वर्तते। एते पञ्च चित्ते तिष्ठन्ति॥४८॥

भाषा टीका– अब नीचे चित्त के पाँच गुणों का वर्णन करते हैं। **मति** इच्छा। यहां मति पद का बुद्धि अर्थ नहीं है; क्योंकि बुद्धि के गुणों का तो पहले वर्णन हो चुका है। **धृति**-धैर्य; अर्थात् धीरज। **स्मृति**-संस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाले ज्ञान **त्याग**-दान; वह की उत्तम देश कालादि सत्पात्र को देना। 'विवेक मार्तण्ड' में श्रीनाथजी ने भी दान देने

का महत्त्व दिखाया है *"न सन्तोषसम सौख्यं न दानेन समो निधिः"* **स्वीकार**-लेना। इस प्रकार ये पाञ्च गुण चित्त के जानना॥४८॥

मू०– विमर्शः शीलनं धैर्य्यं चिन्तनं निःस्पृहत्वमिति पञ्चगुणं चैतन्यमेवमन्तःकरणगुणाः॥४९॥

संस्कृत टीका–[**विमर्शः**] प्रमाणैर्वस्तु परीक्षणं विचारः। [**शीलनं**] भूयोऽभ्यासः। [**धैर्यम्**]-शरीरस्थापकव्यापारो न तु प्रबंधकत्वम्। अयमाशयः उत्साहेन शरीरादौ स्फूर्तिर्भवति येन स्वकार्याय प्रवर्तते। धैर्येण तु न प्रवर्तते न निवर्तते स्थितिमात्रं भवत्यनयोर्विशेषः; अतो नोत्साहेन पौनरुक्त्यम्। [**चिन्तनम्**] विषयाभिध्यानम्। [**निस्पृहत्वम्**] उदासीनत्वम् इष्टा-निष्टोभयज्ञानशून्यता। एते गुणाश्चैतन्ये। एते सर्वे पञ्चविंशत्यात्मका गुणाः अन्तःकरणस्यैव। इति सूक्ष्मशरीरवर्णनम्॥४९॥

भाषा टीका–**विमर्श**-विचार, **शीलन**-बारंबार अभ्यास, **धैर्य**-धीरता; अर्थात् महाविपत्ति आने पर भी विचलित न होना। **चिन्तन**-ध्यान, **निःस्पृहत्व**-संसार के भोगों में आसक्त न होना। ये पाँच गुण चैतन्य (अन्तःकरण) के जानना। इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से एक ही अन्तः-करण के वृत्तिभेद के द्वारा मन-बुद्धि-आदि रूप से पाँच विभाग कर प्रत्येक में पाँच-पाँच गुणों की निरूपण प्रणाली से २५ गुणों का निरूपण समाप्त हुआ॥४९॥

मू०– सत्त्वंर जस्तमः कालो जीव, इति कुलपञ्च-कम् ॥५०॥

संस्कृत टीका–एतेषां प्राधान्येन सृष्टेः सञ्चालकतया कारणत्वम्। अतः कुलपञ्चकशब्देन व्यवह्रियते योगतन्त्रे॥५०॥

भाषा टीका–सत्त्व, रज और तम-ये तीन गुण तथा काल और जीव-ये कुलपञ्चक कहलाते हैं। भाव-मन-बुद्धि और इन्द्रिय-आदि के संचालन में इनकी प्रधानता रहती है। इसलिये ये पाँच कुल अर्थात् प्रधान कहे गये हैं। ॥५०॥

मू०– दया धर्मः क्रिया भक्तिः श्रद्धेति पञ्चगुणं सत्त्वम्॥५१॥

संस्कृत टीका– तत्र प्रत्येकं पञ्चगुणान् विभजते **दया** प्राणिना-मनुग्रहः, **धर्मः**-सुखजनकोऽदृष्टविशेषः **क्रिया**- धर्मजनकमीश्वरार्चनमननादि-कर्म, **भक्तिः** परमेश्वर तदङ्गदेव तावन्मात्रतदुवतवाक्य तन्नियमितमर्यादा-विषयिणी प्रीतिः, **श्रद्धा** पूर्वोक्तविषयकास्तिक्यबुद्धिरेते पञ्चगुणाः सत्त्वस्य॥५१॥

भाषाटीका–अब सत्त्व गुण के कार्यरूप पाँच गुणों का निरूपण करते हैं। **दया**-प्राणियों पर कृपा करने का नाम दया है। **धर्म**-सुख-विशेष को उत्पन्न करने वाला श्रेष्ठ कर्म। **क्रिया**-देवताविषक ध्यान और उपासनादि कर्म को क्रिया कहते हैं। **श्रद्धा**-इस लोक से अतिरिक्त परलोक-आदि भी है, ऐसी बुद्धि का नाम श्रद्धा है। **भक्ति**-ईश्वर में अनन्य भाव से प्रेम होना भक्ति कहलाती है।॥५१॥

मू०– दानं भोगः शृङ्गारो वस्तुग्रहणं स्वार्थसङ्ग्रहणमिति पञ्चगुणं रजः॥५२॥

संस्कृत टीका–दानं फलमुद्दिश्य, देशकालपात्राद्यविचारेण द्रव्यविनि योगः। **भोगः,** सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः, **शृङ्गारः** भोगायानित्यशरीरपरिमार्जनं न तु मोक्षाय संस्कारबुद्धया, **वस्तुग्रहणम्** उपयोगमनन्वालोच्य सर्वत्र स्वामित्वसम्पादनं **स्वार्थसंग्रहणं** स्वभोग जनकसंचयः, एते गुणा रजसः॥५२॥

भाषा टीका–अब रजोगुण के कार्यभूत पाँच गुणों का वर्णन करते हैं। **दान**-भावीफल की आशा से शुभ देश और शुभ समय सत्पात्र का विचार न करके यथाशक्ति धन अन्न-वस्त्रादि देना। **भोग**-सुन्दर रूप-रस-सुगन्ध-स्त्री-आदि विषयों में रमण करना **शृङ्गार**-अनेक चित्र विचित्र रङ्ग-बिरङ्गे और चमकीले वस्त्र भूषणादिकों से शरीर को सजाना **वस्तुग्रहण**-अपने भोग के लिये उपयोगी चीजों का लेना। **स्वार्थग्रहण**-दूसरे की हानि का ध्यान न करके सिर्फ अपने भोग के लिये ही वस्तु के ग्रहण को स्वार्थ ग्रहण कहते हैं॥५२॥

मू०– विवादः कलहः शोको वधो वञ्चनमिति पँचगुणं तमः॥५३॥

संस्कृत टीका–[विवादः]-व्यर्थकथनम्, **[कलहः]** अन्यायेन

विरोधः। [**शोकः**], अशक्येऽपि शक्यबुद्ध्यापरिदेवनं [**वधः**] हिंसा, [**वञ्चनम्**] इष्टविघाताय प्रतारणम्। अत इष्टजनकाध्ययनादिसत्कर्मणे बालानां प्रतारणं न तामसम्। एते पञ्चगुणा स्तमसः॥५३॥

भाषा टीका– अब तमोगुण के कार्यभूत पाँच गुणों का निरूपण करते हैं। **विवाद**-बिना प्रयोजन बोलना। **कलह**-आपस में विरोध। **शोक**–संताप। **वध**-मारना। **वंचन**–ठगना। ५३॥

मू०– कलना कल्पना भ्रान्तिः प्रमादोनर्थ इति पञ्चगुणः कालः॥५४॥

संस्कृत टीका-[**कलना**] निखिलचराचरवस्तूनामायुः परिगणन-निमित्तता। अत एव हिरण्यगर्भस्यापि द्विपरार्धपरिमितमायुरन्येषां कथैव का [**कल्पना**] सकलरचनाहेतुता। अत एव कश्चित् वसन्ते जायते। अपरो हेमन्त इत्यादि नियमः। [**भ्रान्तिः**], भ्रमधातोर्ण्यन्तात् क्तिच्। परिवर्तन-निमित्तता। यथा बाल्याद् यौवनं ततो वार्धक्यं नवीनता पुराणतेत्यादि-परिणामो भवति-वस्तूनाम्। भ्रमहेतुता वा यया प्राचीं प्रतीचीं मन्यते। [**प्रमादः**] अनवधानताजनकव्यापारः। अत्रापि मदधातोर्ण्यन्तादच्। अत एव प्राणिनः समयविशेषे स्वस्वकृत्येष्वसावधाना भवन्ति, तदीयनिमित्तकारणता कालस्येति यावत्। [**अनर्थः**] अनिष्टजनकव्यापारः। अनेनैव प्रेरितः कदाचिदनिष्टमपि चिन्तयति सम्पादयन्ति च एते गुणाः कालस्य॥५४॥

भाषा टीका– अब काल के पाँच गुणों का वर्णन करते हैं। **कलना**-एक-दो-इत्यादि संख्या की गणना। **कल्पना**-अनेक वस्तु रचना की सामर्थ्य। **भ्रान्ति**- किसी वस्तु विषयक विपरीतज्ञान। **प्रमाद**-असावधानी। **अनर्थ**-अनिष्ट कार्यों में प्रवृत्त होना।५४

मू०– जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तिस्तुरीया तुर्यातीतमिति पञ्चगुणो जीवः॥५५॥

संस्कृत टीका–[**जाग्रत्**] स्थूलशरीराभिमानपूर्वकविषयेन्द्रियसन्निकर्ष-जन्यज्ञानावस्था। [**स्वप्नः**], बाह्येन्द्रियव्यापाररहितत्वे सति संस्कारजन्यमान-सज्ञानावस्था। [**सुषुप्तिः**], आत्माविद्यास्वरूपसुखैतत्त्रयातिरिक्तयावद्-विषयकज्ञानाभावावस्था। [**तुरीया**] अविद्यारहितत्वे सति द्वैतभानाभावे च

सति मानसवृत्तिः। [**तुर्यातीतं**] मानसनिखिलवृत्तिविरहपूर्वकस्वरूप-मात्रसद्भावः, एते पञ्चगुणा जीवस्य॥५५॥

भाषा टीका–अब जीव की जाग्रत् आदि पाँच अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। **जाग्रत**–इन्द्रियजन्यज्ञान की अवस्था **स्वप्न**-बाह्य इन्द्रियों के शान्त होने पर वासना द्वारा मन के अन्दर अनेक वस्तुओं का ज्ञान होना **सुषुप्ति**-जिसमें बाह्यं इन्द्रिय तथा मन-इन दोनों के द्वारा ज्ञान न हो; ऐसी गाढ़ निद्रा। **तुर्या**-अपने आत्मस्वरूप विषयक एकाग्र चित्तवृत्तिः; अर्थात् जिस समय अविद्या का भी भान नहीं तथा द्वैतप्रपंच की भी प्रतीति न होती हो, अपितु केवल आत्मविषयक मानसिक वृत्ति का प्रवाह जिस अवस्था में हो, उसी को जीव की तुर्यावस्था कहते हैं। **तुर्य्यातीत**-निर्विकल्प समाधि। इस अवस्था में समस्त अन्तःकरण की वृत्तियों का निरोध हो जाता है। ५५॥

मू०– इच्छा क्रिया माया प्रकृतिर्वागिति व्यक्ति-पञ्चकम्॥५६॥

संस्कृत टीका–तत्रैव सूक्ष्मशरीरे ये प्रधानगुणा यैर्व्यवहारः सम्पद्यते, तेषां पृथक् कृत्य व्यज्यते व्यवहारादिना ज्ञाप्यते। या सा व्यक्तिरथवा व्यज्यते सम्भोगविषयो ययेति तत्पञ्चकं विभज्यते। जीवस्योपभोगसाधनं तत्पञ्चकमिति भावः॥५६॥

भा० टी०–अब व्यक्तिपंचक का निरूपण किया जाता है। इच्छा, क्रिया, माया, प्रकृति और वाक्- इन पाँचों को व्यक्तिपञ्चक कहते हैं।॥५६॥

मू०– उन्मादो वासना वाञ्छाचिन्ता चेष्टेति पञ्च-गुणेच्छा॥५७॥

सं० टी०– [उन्माद] उन्मत्तता इच्छाभङ्गे सति जायते अतस्तेन परपुरुषवर्तिनीच्छाऽनुमीयते। कार्येण कारणानुमानस्य सकललोकतन्त्र-प्रसिद्धत्वम्। वाऽनेनाप्यनर्थमनुभवति [**वासना**] प्रवृत्तिजनकव्यापारो वास्यते स्थाप्यते शरीरादिकर्तव्यम्प्रति अनयेति व्युत्पत्तेः। [**वाञ्छा**] धनाभिलाषा तस्या एवावस्था विशेषः, पुरुषस्य चैतन्यमितिवदभेदेऽपि गुणगुणिभावः,

[**चिन्ता**]-इष्टविषयान्वेषणं यद्विषयकेच्छा तद्विषयकचिन्ताजायत इति [**चेष्टा**] कायव्यापार एत इच्छायाः॥५७॥

भाषा टीका–अब इच्छा के कार्यभूत पाँच गुणों का निरूपण करते हैं। [**उन्माद**] उन्मत्तपन अर्थात् पागलपना। [**वासना**] पूर्व कर्मों के द्वारा उपार्जित संस्कार अर्थात् जिसके द्वारा स्वकर्तव्य में शरीरादि लगाया जाय उसको वासना कहते हैं। [**वांच्छा**] धनादि वस्तु विशेष को चाहना। [**चिंता**] इष्टवस्तु विषयक खोज; अर्थात् यह वस्तु मुझको किस प्रकार प्राप्त हो सकती है, इस प्रकार मन में ध्यान करना। [**चेष्टा**] शरीर के व्यापार।॥५७॥

मू०– स्मरणम् उद्योगः कार्यं निश्चयः स्वकुलाचार इति पंचगुणा क्रिया॥५८॥

सं० टी०– [**स्मरणम्**] स्मृतिजनकमानसव्यापारो ध्यानादि, स्मर्यतेऽने-नेति व्युत्पत्तेः, [**उद्योगः**] साधनविषयकव्यापारः, यथा घटं चिकीर्षोर्दण्डभ्रामरणं [**कार्यम्**] साक्षाद्घटजनको दण्डादेर्व्यापारः। [**निश्चय**] निश्चित्तिजन-केन्द्रियव्यापारः, यथा घटावलोकनाय नयनोन्मीलनम्। [**स्वकुलाचारः**] वंशपरम्परागतमर्यादापालनम्। अध्ययनाध्यापनयजनप्रजापालनकृषिवाणिज्य-गोगुरुजनसज्जनादिसेवनादयः। एते क्रियायाः॥५८॥

भाषा टीका–अब क्रिया के पाँच गुणों का निरूपण करते हैं : **स्मरण**-संसार से उत्पन्न और स्मृति ज्ञान का उत्पादक जो मन का व्यापार है उसी को स्मरण कहते हैं। **उद्योग**-कार्य्यविषयक व्यापार। **कार्य**-घट पटादि को उत्पन्न करने वाला साक्षात् व्यापार। **निश्चय**-निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली इन्द्रियों की क्रिया। **स्वकुलाचार**-अपनी कुल-परम्परागत मर्यादा का पालन करना॥५८॥

मू०– मदो मात्सर्य्यं दम्भः कृत्रिमत्त्वमसत्यमिति पञ्चगुणा माया॥५९॥

संस्कृत टीका–मदः अभिमानोऽहं धनसम्पन्न, कोऽन्यो हि मत्सम इत्यादि। **मात्सर्य्यं** मत्सरता परोन्नतिमवलोक्य कथमयमुन्नतो भवति, केनाप्युपायेन पातनीय इत्थं प्रद्वेषः। **दम्भः** अल्पं विदधति, बहुलं मन्यता।

कृत्रिमत्त्वम् अन्तरन्यद्, बहिरन्यथा प्रकाशनम्। **असत्यं** मिथ्याभिभाषणमेते गुणा मायायाः॥५९॥

भाषा टीका– अब माया के कार्य भूत पाँच गुणों का वर्णन करते हैं। **मद**-अभिमान; अर्थात् मैं धनाढ्य हूँ, मेरे समान कौन धनी है, मैं शरीर से भी बलिष्ठ और जवान हूँ। इस प्रकार के अविवेक का नाम मद है। **मात्सर्य्य**-दूसरे की उन्नति को न सहना। **दम्भ**-कार्य तो बहुत कम करे, पर दूसरे के सामने यह कहे कि मैंने अमुक कार्य बड़े अच्छे ढंग से तथा पूर्ण रूप से किया है। इसी प्रकार के व्यवहार का नाम दम्भ है। **कृत्रिमत्व** बनावटीपन और **असत्य** झूठ बोलना॥५९॥

मू०– आशा तृष्णा स्पृहा काङ्क्षा मिथ्येति पञ्चगुणा प्रकृतिः॥६०॥

संस्कृत टीका–आशा भविष्यद्विषयाभिलाषः, **तृष्णा** सर्व-विषयाभिलाषः। **स्पृहा** ममैवभूयादित्यभिलाषा। **काङ्क्षा** तिष्ठतु मां व्यनेक्षीरिति सामान्येच्छा। **मिथ्या** असम्भाव्यस्याभिलाषो यथाहं चक्रवर्ती भूयासम् एते पञ्चप्रकृतेर्गुणाः॥६०॥

भाषा टीका– अब प्रकृति (अन्तःकरण स्वभाव) के कार्यभूत पाँच गुणों का वर्णन करते हैं। **आशा**-आगामी वस्तु की इच्छा को आशा कहते हैं। **तृष्णा**-अपने पास निर्वाह लायक सब वस्तु होते हुये भी भोग साधनों में जो अधिक अभिलाषा होती है, उसी को तृष्णा कहते हैं। **स्पृहा**- यह वस्तु मुझे मिल जाय– इस प्रकार की इच्छा का नाम स्पृहा है। **कांक्षा**- यह वस्तु मेरे पास सदा ही बनी रहे इस प्रकार की सामान्य अभिलाषा का नाम कांक्षां है। **मिथ्या**-न होने वाली वस्तु का चाहना या कहना मिथ्या कहलाता है। ६०॥

मू०– परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी मातृकेति पञ्चगुणा वाक् इति व्यक्ति पञ्चविंशति गुणाः॥६१॥

संस्कृत टीका–परापश्यन्तीत्यादेरयमर्थः। वक्त्रा प्रथमं स्वबुद्धावर्थं निश्चित्य परं बुबोधयिषति तत्रेच्छा मनश्चञ्चलयति, तेन जठरानलस्याभिघातो जायते। तेन च वायुरुत्पद्यते स एव वायुः सर्वतः प्रथमं मूलाधारस्थबिन्दुरूप-

नित्यचेतनरूपं शब्दब्रह्माऽपरपर्याय्यं संयुक्ते; तेन तत्र स्थिता परावाक् प्रवर्धमाना उद्‌र्ध्वमाक्रमते। सा यदा नाभिदेशमागच्छति, तदा वर्णरूपमाधत्ते सा पश्यन्ती व्यवह्रियते। अत्र मनसः सम्बन्धोऽस्तिः, अतः समाधिना संस्कृतमनसा प्रत्यक्षीक्रियते। योगिनां सविकल्पज्ञानविषयः पूर्वा तु मनसः सम्बन्धाभावाद् योगिभिरपि सविकल्पयितुं न शक्या, किन्तु समाधिना निर्विकल्पज्ञान- विषयः। ततो वर्धमाना हृदयदेशमागता पदरूपं प्रपद्यमाना मध्यमेति व्यवह्रियतेऽनयैवार्थबोधः, इयमेव स्फोटशब्देन वैयाकरणनये प्रसिद्ध्यति। अत्र बुद्धेः सम्बन्धान्निश्चयज्ञानविषयो मानसजपसमये कर्णपिधाने सति सूक्ष्मरूपेण श्रूयते। ततः कण्ठदेशमागता वाक्यरूपा वैखरी, ततो मूर्धानमाहत्य परावृत्य तत्तत्स्थानेषु प्राप्याभिव्यक्तापरश्रवणविषयः। अकारादिवर्णा नासिकासम्बन्धादर्धेन्दुसंयुक्ता मातृकाः। शिक्षादौ मातृका वैखर्य्योरेकत्वं कृत्वा चतुर्विधोपदेशोऽत्र तु स्थानकृतभेदस्य जागरूकत्वे तत्परित्यागे मानाभावाद् वैखरी मातृका चेति भेदमादाय पञ्चविधत्वमिति बोध्यम्। तदाह परावाङ्- मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता। हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥६१॥

भाषा टीका– अब वाक् (वाणी) के पाँच गुणों का वर्णन करते हैं। **परा**-यह वाणी मूलाधार चक्र में रहती है और वह निर्विकल्प समाधि के द्वारा जानी जाती है। वहाँ मन की गति नहीं है। **पश्यन्ती**-वही परावाक् नाभिप्रदेश में आकर जब स्थूलवर्णरूप को धारण करती है, तब उसका नाम पश्यन्ती हो जाता है। इसके साथ मन का भी सम्बन्ध रहता है। इसीलिये योगी इसको सविकल्प समाधि से जान लेता है। **मध्यमा**-इसके उपरान्त वही वाणी हृदय में और भी स्थूल होती हुई जब आकारादि वर्णसमुदायपदरूप को धारण करती है, तब उसका नाम मध्यमा होता है। **वैखरी**-वही वाणी जब मस्तक से लौट कण्ठ - तालु- आदि स्थानों में आकर टकराती है, तब उससे प्रकट होने वाले शब्द को वैखरी कहते हैं। **मात्रिका**-अकरादि वर्णों में शिवरूप मकार के अनुसार होने से अं-आं-इं-ईं इत्यादि बीजमन्त्ररूप जो वर्णमाला है, उसी का नाम मात्रिका वाक् है। इस प्रकार व्यक्तिरूप पँच शक्तियों का निरूपण किया गया है और प्रत्येक व्यक्ति में पाँच पाँच गुणों का निरूपण करने से उन व्यक्तियों के पच्चीस गुणों का भी वर्णन कर दिया। ॥६१॥

मू०– कर्मकामश्चन्द्रः सूर्योऽग्निरिति प्रत्यक्षकरण-पञ्चकम्॥६२॥

संस्कृत टीका–संसारे जीवानामुपभोगे उपभोगप्रधानसाधनीभूत-पिण्डसम्पादने च विशेषसाधनपदार्थान् पिण्डीकृत्य प्रदर्शयति कर्मेत्यादि। एते कर्मादयः पञ्च **प्रत्यक्षकरणपञ्चकम्** प्रत्यक्षानि च तानि करणानि तेषां पञ्चकमित्यर्थः प्रत्यक्षानि असाधारणानीत्यर्थः साधारणकारणानीश्वरादयोऽपि न प्रत्याख्यायेरन्निति। प्रत्यक्षपददानेन ध्वनितम्। शुभाशुभकर्मानुरूप एव कामो भवति। तद्वलेन चाऽग्निषोमात्मकपिण्डग्रहणम्। ततश्चोपभोग इति क्रमः सकलपरीक्षकप्रत्यक्षचरोऽप्रत्याख्येयः। ननु कर्मवासनाद्वारा शरीरग्रहणहेतु रूपभोगसाधनञ्चास्तु सकलसम्मतत्वाच्चन्द्रादयः कथं तद्धेतुरिति चेत्, ऋणुरहस्यम्। रसो हि सोमरूपो भोग्यः, अग्निश्च शोषको भोक्ता च कथ्यते। तत्र यदि रसमात्राऽत्यन्तं समेधेत, तदाऽग्नि नाशाज्जठराग्नि-नाशाज्जगद्भ्रंशः; यथा मात्राधिकभोजनाज्जठराग्निमान्द्येन क्रमशः कायो विशीर्णतामुपैति। यथा च जलाधिक्ये भुवनविप्लवः, तथाऽग्नेरेवाधिक्ये सोमविरहादपि न स्थितिर्जगतः स्यात्; यथा च प्रचण्डांशुनितान्तवृद्धौ सकल-वनस्पत्यादीनां विनाशः। अत उभयोः समरसतया समवस्थाने सुचारुतया जगतः स्थितिरिति सकलदार्शनिकदृष्टिपरीक्षितः पन्थास्तथ्यमुपदिशति अग्निषोमात्मकं जगदिति अत्रायं सूक्ष्मतमो विवेको यत् सोमतोऽग्नेः किञ्चिदाधिक्यं सुस्थितिकरम्। इतीश्वरीयनीति मनुसृत्य, भोजनमात्रादीषदूनमेव भोक्तव्यमिति वृद्धवैद्यानामुपदेशः। सूर्यस्य द्वादशकलाः संसारस्थितिकारिण्य एका स्वकीया तस्या सांसारिककार्येऽनुवोपयोगात् तां त्यक्त्वोपवर्णिताः क्वचित्तन्त्रे द्वादशैव कलाः सूर्यस्य एवमेवाग्निचन्द्रयोरपि ज्ञेयं कलापदार्थः चित्समाविष्टसत्त्वात्मिका शक्तिरिति तान्त्रिकसङ्केतः। एवमग्नेर्दशकलाः संसारस्थापिका एका स्वकीया, उभयोः सम्मेलने द्वाविंशतिकलाः, उभयोः संक्षिप्तसञ्ज्ञाऽग्निर्भोक्ता चेति षोडशकलाश्चन्द्रस्य सोमपदेन भोग्यपदेन च गृह्यन्ते। सोमतोऽग्नेः कलाषट्काधिक्येन प्राधान्यात् जगतः सुस्थितिरतो भूतभौतिकोत्पत्तिस्थित्यादिद्वारा जीवानामुपभोगेऽसाधारणसाधनमेतत् त्रयमिति सुनिरूपितं भवति। किञ्च सूर्य्याग्निरूपं पितुः शुक्रं सोमरूपञ्च मातृरजः, उभयोः संयोगे पिण्डोत्पत्तिरित्यग्रे मूले निरूपयिष्यते। अत्रेदं बोध्यम्-अग्निषोमयोः सर्वत्राविविक्ततया समवस्थानेऽपि क्वचित् कस्यचित् प्राधान्यात्

भूयसा व्यपदेशन्यायेन तत्तन्नाम्ना निर्देशो नाविरुद्ध इति। तदुक्तं च *"अग्निषोमात्मको देहो बिन्दुर्यदुभयात्मकः"* (शा०ति०)। अस्यार्थः– अयं देहोऽग्नि षोमात्मकः। कुत इत्यपेक्षायां हेतुमाह- यतः, बिन्दुः पिण्डहेतुः, उभयात्मकः, अग्निरूपं शुक्रं सोमरूपं रक्तं तदात्मकस्तदुत्पन्न इत्यर्थः। अन्येप्याहुः- *"कलाषोडशकश्चन्द्रः स्याद् द्वादशकलो रविः"* कलादशयुतो वह्नि कलाष्टत्रिंशदंशभुक्॥ सप्तत्रिंशद् भवन्तीह गर्भाधानस्य हेतवे। अग्निषोमात्मकं तेन गीयते स चराचरम् इति। एवं च चन्द्रसूर्य्याग्नयः पिण्डस्योपादानं कारणं कर्मकामश्च निमित्तकारणमितिविवेक इतिदिक्॥६२॥

भा० टी०–इस संसार में जीव को सुख दुःख का उपभोग जिन प्रधान साधनों द्वारा होता है, उन साधनों का निरूपण करते हैं। कर्म, काम, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि- ये पाँच इस शरीर प्राप्ति के प्रधान कारण हैं और ईश्वर काल आदि साधारण कारण हैं; उनका भी ग्रहण जानना अर्थात् शुभ-अशुभ कर्मों की अनुकूल वासना द्वारा शरीर प्राप्ति होती है- यह प्रसिद्ध है। अतः बिन्दुरूप शरीर का निमित्तकारण कर्म और वासना है। यह संसार में अग्निषोमात्मक कहलाता है। कारण कि सोमरस भोग्य तथा अग्निशो भोक्ता है। इन दोनों के मेल से संसार की स्थिति है; केवल एक के रहने पर नहीं। जैसे भोज्य पदार्थ जठराग्नि के रहने पर भी शान्त हो जाने से शरीर की स्थिति असम्भव हो जाती है, उसी प्रकार केवल अग्नि से भी स्थिति नहीं रह सकती। इसलिये दोनों के समीकरण से जगत् की स्थिति रहती है। इनमें अग्नि का कुछ अधिक अंश रहने से उसकी प्रधानता है। दूसरे तेजों में तो सूर्य और अग्नि-दोनों ही को एक तत्त्व होने से अग्नि नाम रखा गया है। अतः अग्निषोमात्मक जगत् को दूसरे तन्त्र में कहा गया है। किन्तु इस ग्रन्थ में स्वरूपभेद होने से सूर्य और अग्नि-दो पृथक नामों से कहा गया है। सूर्य की बारह कला तथा अग्नि की दश कला भोक्ता है और सोम की सोलह कला भोग्य हैं। इन्ही दोनों के मिलाने से सकल संसार बनता है। यह शरीर माता के रज और पिता के वीर्य से बनता है, इनमें रज सोम है। वीर्य अग्नि और सूर्यरूप है। अतः इस शरीर का उपादानकारण अग्नि और सूर्य हुये। यद्यपि सोम और अग्नि ये दोनों सर्वत्र ही रहते हैं; तथापि जिसका अंश जहाँ अधिक है, उसका उसी पद से व्यवहार होता है। कला शब्द का

अर्थ चित् से मिली हुई शक्ति सत्त्वरूप जानना।॥६२॥

मू०–शुभमशुभं यशोऽपकीर्तिरदृष्टफलसाधनमिति पञ्चगुणं कर्म॥६३॥

संस्कृत टीका–शुभं शिष्टजनाविगर्हितसौशिल्यादि **अशुभं** निन्दितमौद्धत्यादि **यशः** कीर्तिः। **अपकीर्तिः** अयशः **अदृष्टफलसाधनम्। अदृष्टं** चर्मचक्षुरिन्द्रियजन्यज्ञानाविषयः यत् **फलं**, धर्मस्वर्गान्तःकरणशुद्ध्यादि तस्य **साधनम्**। श्रुतिस्मृतिप्रतिपादितं कर्म, एते कर्मणः॥६३॥

भाषा टीका–अब कर्मजन्य पाँच गुणों का वर्णन करते हैं : **शुभ**- स्वर्गादिजनक पुण्य कर्म। **अशुभ** नरकादिहेतु लोकनिन्दित कर्म। **यश**-कीर्ति। **अपकीर्ति**-लोकनिन्दा। **अदृष्टफलसाधन**-धर्म और अधर्म का साधन-शास्त्रीय कर्म॥६३॥

मू०– रतिः प्रीतिः क्रीडा कामनाऽऽतुरतेति पञ्चगुणः कामः॥६४॥

संस्कृत टीका–रतिः स्त्रीविषयानुरागः **क्रीडा** तु कन्दुकादि-बाह्यसाधनापेक्षा। सुखविषयानुरागः **प्रीतिः** साधनविषयानुरागः **कामना**। **आतुरता**, इष्ट प्राप्तौ त्वरा। एते कामस्य॥६४॥

भाषा टीका–अब काम के कार्यभूत पाँच गुणों का निरूपण करते हैं। **रति**-स्त्री में जो प्रेम है, उसी का नाम रति है। **प्रीति**-सुख साधन विषयक प्रेम को प्रीति कहते हैं। **क्रीड़ा** खेलना। **कामना**-सुख विषयक वासना। **आतुरता**-यह चीज मुझे बहुत जल्दी मिल जाय-इस प्रकार चित्त की व्याकुलता का नाम आतुरता है॥६४॥

मू०– उल्लोला कल्लोलिनी उच्चलन्ती उन्मादिनी तरङ्गिणी शोषिणी लम्पटा प्रवृत्तिः लहरी लोला लेलिहाना प्रसरन्ती प्रवाहा सौम्या प्रसन्नता प्लवन्ती। एवं चन्द्रस्य षोडशकला सप्तदशी कला निवृत्तिः साऽमृतकला॥६५॥

सं० टी०–अत्रत्यस्य रहस्यं परस्तादुपपादितं कार्यभेदात् कलानां भेदः। तथा च; चन्द्रस्य षोडशधाकार्यकारित्वेन षोडशधा कलाः

संसाररचनाचतुराः। एका निजा सदास्थायिनी महाप्रलयेऽपि न विना शमुपैति सद्वादमते निरन्वयविनाशास्वीकारात् सा सप्तदशी निवृत्तिः। तासां चन्द्रमण्डलस्य सोमरसात्मकतया सोमप्रधानजलानुगतस्वभावविशेषानुकूलनामान्याह- उल्लोलेत्यादि। उल्लोलयति स्वसम्बन्धेन भोक्तारमग्निं प्रोच्चलयति हूतघृतवद् या सा प्रथमा भोगकालेऽल्पशोऽनेकरूपधारणशीलाऽनलोपरिपच्यमान-जलोद्गतोदबिन्दुवत् २ अधिकाऽनलत्वरितसन्तापे स्थालीस्थजलोत्सरण-वदूर्ध्वगमनशीला ३ कामोल्लासप्रवर्धनेनोन्मादनशीला ४ तरङ्गवद्विकारकारिणी ५ विकारशोषणशीला यथौषधरसो रुजां जरयति ६ भोगायौत्सूक्यसम्पादिनी वनितावत् ७ प्रवर्त्ततेऽनयेति व्युत्पत्त्या समुत्साह सम्पादनद्वारा सर्वेषां व्यापारे साधनीभूता ८ उच्छलनशीला ९ चञ्चलशीला १० आश्लेषणव्यापारवती ११ प्रसरणशीला १२ वेगवती १३ सौन्दर्यसम्पादिनी १४ प्रसादवती १५ सञ्चारशीला १६ एता षोडशकलाः। अत्र यन्नामपदस्य योऽर्थस्तदेव कार्यं तस्या इति न सङ्कोचनीयम्। स्वरूपैकदेशमादायापि नामकरणं यथा पद्मावत्याविशालाक्षीति नाम्। अत एवैतासां कलानां नामान्तरेण निर्देशस्तन्त्रान्तरे पद्यते॥६५॥

भाषा टीका—अब चन्द्रमा की सत्रह कलाओं का वर्णन करते हैं। कला शब्द का अर्थ पहले कहा जा चुका है। **उल्लोला**-तरल अर्थात् चंचल। **कल्लोलिनी**-बड़े आकार वाली तरंग **उच्चलन्ती**-ऊपर को चलने वाली। **उन्मादिनी**-स्त्री-पुरुष को कामोन्मत्त करने वाली। **तरङ्गिणी**-तरङ्गों के आकार वाली। **शोषिणी**-जल और रस को सुखाने वाली। **लम्पटा**-पृथ्वी-आदि में अबाध रूप से फैलने वाली। **प्रवृत्ति**-प्राणियों के हर्ष को उत्पन्न करने वाली अथवा लोक की प्रवृत्ति को करने वाली। **लहरी**-टेढ़ी गति से लहराने वाली। **लोला**-चंचलरूप वाली। **लेलिहाना**-रसादि को चाटने वाली। **प्रसरन्ती**-फैलने वाली। **प्रवाहा**-चन्द्रकान्ता-आदि मणियों में जल की बून्दों को बहाने वाली। **सौम्या** समस्त फल फूल और औषधी वनस्पति-आदि में सोमरस बरसाने वाली। **प्रसन्नता**-सब वस्तुओं को निर्मल करने वाली या स्वयं निर्मलरूप वाली। **प्लवन्ती**-उछलकर चलने वाली। इस प्रकार; चन्द्रमा की सोलह कला होती हैं और सत्रहवीं निज अमृतकला है।

मू०– तापिनी ग्रासिका उग्रा आकूञ्चनी शोषिणी प्रबोधनी स्मरा आकर्षिणी तुष्टिः बर्द्धिनी उमीरेखा किरणवती प्रभावतीति द्वादशकला सूर्य्यस्य त्रयोदशी स्वप्रकाशता निजकला।।६६।।

सं० टी०–एवं सूर्यस्यापि द्वादशकला द्वादशराशिकलाः किञ्च द्वादशविधकार्यकारिण्यः शक्तयस्तापनम्। तमसोग्रसनम्। कुमुदिनीनां सङ्कोचनम्। जलस्यापि शोषणम्। कमलादेः प्रवोधनम्। सर्वेषां स्मृतिजननम्। भौमरसाकर्षणम्। सन्तोषदानम्। आयुःपरिगणनम्। किरणविस्तारः। प्रकाशकरञ्चेति तत्तत्कार्यं कारिण्यः शक्तयः सर्वत्रान्वयिनी कला स्वप्रकाशताख्या नित्या त्रयोदशी॥६६॥

भां० टी०–अब सूर्य की कलाओं का निरूपण करते हैं। **तपिनी**–तपानेवाली। **ग्रासिका**–अन्धकार का नाश करने वाली। **उग्रा**–अपने तेज से कुमुदिनी आदि को संकुचित करने वाली। **आकुञ्चनी**–अपनी तरफ समेटने वाली। **शोषिणी**–जलादि को सुखाने वाली। **प्रबोधिनी**–कमलादि को खिलाने वाली। **स्मरा**–स्मरणरूप ज्ञान को उत्पन्न करने वाली। **आकर्षिणी**–भूमिस्थ–जलादि को अपनी तरफ खेंचने वाली। **तुष्टि वर्धिनी**–सकल प्राणियों के संतोष को बढ़ाने वाली। **उर्मीरेखा**–प्राणियों की आयु को मापनी वाली। **किरणवती**–किरणों का विस्तार करने वाली। **प्रभावती**–प्रकाश करने वाली। यह बारह कला सूर्य की हैं और स्वप्रकाशता नाम की तेरहवीं सूर्य की निज कला है॥६६॥

मू०– दीपिका रजिका ज्वालिनी विस्फुलिगिनी प्रचण्डा पाचिका रौद्री दाहिका रागिणी शिखावती इत्यग्नेर्दशकला एकादशी कला ज्योतिरिति प्रत्यक्षकरणगुण- कलासमूहः।।६७।।

सं० टी०–एवमेवाग्नेः संसारोपकारिदशकलास्तासां नामान्याह दीपिकेत्यादि अन्यस्मिन् घटादौ रागोत्पादनत्वेन रजिका, स्वतोरागवत्त्वेन रागिणी, तथैव परितः प्रभाकारित्वेन ज्वालिनी, उद्धर्वप्रभासम्पादनत्वेन शिस्त्रावतीति विशेषो बोध्यः। अन्याक्षरार्थस्तु सुगम एव। एते पञ्च-भूतात्मसाकारशिवस्य नेत्रत्रयम् इत्युपदेशेन संसारस्थितिश्शिवाधीनैवेति ध्वनिरिति दिक्। कर्मोपासनादावेतासां महोपयोग इति तत्प्रकरणे द्रष्टव्यम्॥६७॥

भाषा टीका– अब अग्नि की कलाओं का वर्णन करते हैं।

दीपिका–प्रकाशिता करने वाली। **रजिका**–सुशोभित करने वाली। **ज्वालिनी**–अत्यन्त ज्वाला वाली। **विष्फुलिङ्गिनी**–जिस में अग्नि की चिनगारियाँ उछले, उसको विष्फुलिङ्गिनी कला कहते हैं। **प्रचण्डा**–उग्ररूप धारण करने वाली। **पाचिका**–पकाने वाली। **रौद्री**–रुद्ररूप करने वाली। **दाहिका**–काष्ठादि इन्धन को जलाने वाली। **रागणी**–रक्त वर्ण वाली। **शिखावती**–ऊर्ध्वगामी लाट को धारण करने वाली। ये अग्नि की दस कला है और ग्यारहवीं ज्योतिरूप निज कला है। इस पूर्वोक्त रीति से प्रत्यक्षकरण और उनके पाँच–पाँच गुणों का निरूपण करने से पच्चीस गुण और कलाओं के समूह का भी वर्णन कर दिया।॥६७॥

मू०– अथ नाडीनां दशद्वाराणि। इडापिङ्गला नासाद्वारयोर्वहतः सुषुम्णा नाडी तु ब्रह्मदण्डमार्गेण ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं वहति सरस्वती मुखद्वारे वहति पूषाऽलंबूषाचक्षुर्द्वारयोर्वहतो गान्धारी हस्ति जिह्विकां च कर्णद्वारयोर्वहतः कूहूर्गुदद्वारे वहति शङ्खिनी लिङ्गद्वारे वहति एवं दशद्वारेषु वहन्ति॥६८॥

सं० टीका– पिण्डस्थितिर्नाड्यधीना नाडीनामपरिगणितत्त्वेऽपि प्रधाननाडीज्ञानं पिण्डशोधने परमोपयोगीत्यतस्ता निरूपयति– **अथ नाडीति** नाभेरधः कन्दस्तत एव सर्वनाड्य उत्पद्यन्ते, तत्र प्रधाननाड्यो दश। तत्रापि सर्वतः प्रधाना सुषुम्णा सा मूलाधारद्वारा मेरुदण्डार्तगता सती शिरोदेशे कपालद्वयसन्धिस्थब्रह्मरन्धपर्यन्तं वर्तते। तत्रैव सूर्यरश्मिसम्बन्धः सदैव तिष्ठति, उभयोः सम्बन्धात् वैद्युतशक्तिः सम्पद्यते। अत एव मरणसमये यस्य लिङ्गशरीरं सुषुम्णया निःसरति; तस्य ब्रह्मरन्ध्रगमनानन्तरं तदीयवैद्युतं सम्बन्धात् क्षणेनैव मार्तण्डमण्डलं भित्त्वा ततः परं वैद्युत लोकेऽभिगमनं भवति। एषोर्चिषमभि सम्पद्यते *'आदित्यं चन्द्रमसं चन्द्रमसो वैद्युतम्'* अन्यमार्गेण निःसरणे तु वैद्युतसम्बन्धाभावेन न मार्त्तण्डमण्डलं विभिद्य गमनं, किन्तु ततोऽध एव चन्द्रमण्डलस्थस्वर्गादौ ततश्च प्रत्यवरोहणम्। न तु ब्रह्मरन्ध्रेण गमिनामिति धूमाद्यर्चिरादि मार्गद्वयं व्यवस्थापितं श्रुतिस्मृत्योः। द्वे नाड्यौ तत्सम्बद्धवामदक्षिणभागाभ्यां नासिकापर्यन्तं गच्छतः। ते इडा पिङ्गला च चन्द्रनाडी सूर्य्यनाडी चेति व्यवह्रियेते। द्वे चक्षुः पर्यन्तं पूषालंबूषे। कर्णपर्यन्तगामिन्यौ गान्धारी हस्तिजिह्विका च मुखपर्यन्तं सरस्वती गुदपर्यन्तं

कूहूः लिङ्गद्वारे शङ्खिनी॥६८॥

भाषा टीका–अब नाड़ियों के दश द्वारों तथा नाड़ियों का वर्णन करते हैं लिङ्ग से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अंडे के समान समस्त नाडियों का उत्पत्ति स्थान मूलकन्द है। उस मूलकन्द से बहत्तर हजार नाडियों की उत्पत्ति होती है। फिर यह नाडियाँ नीचे ऊपर और टेढ़ी गति से फैलती है और उनमें भी बहत्तर नाडियाँ मुख्य हैं, उनमें भी प्राणवायु की जिनमें संचार होता है। ऐसी इडा-पिङ्गलादि दश नाड़ियाँ ही प्रधान हैं, उनमें भी सर्वश्रेष्ठ सुषुम्णा है; क्योंकि सुषुम्णा से जिसका प्राण निकलता है, उसकी ब्रह्मलोक तक गति होती है और अन्त में क्रम मुक्ति द्वारा अमृतरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जिस पुरुष का दूसरी नाडियों द्वारा प्राण निकलता है, उसको स्वकर्मानुसार केवल स्वर्गादि लोकों की ही प्राप्ति होती है। इडा नाम की चन्द्र नाडी और पिङ्गला नाम की सूर्यनाडी मूलकन्द से प्रकट होकर क्रम से नासिका के वाम और दक्षिण द्वारों से बहती है। इन दोनों के मध्य में सुषुम्णा नाम की ब्रह्मनाड़ी रहती है। वह भी मूलकन्द से निकलकर मूलाधार चक्रों में होती हुई मेरुदण्ड द्वारा तालु मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक बहती है। इसी मूलकन्द से निकलकर उन-उन स्थानों में होती हुई सरस्वती नाम की नाडी मुखद्वार से बहती है। पूषा और अलम्बूषा नाम की नाड़ी मूलकन्द से निकलकर उन-२ स्थानों में होती हुई क्रम से वाम और दक्षिण कर्ण द्वारों में बहती है। गान्धारी और हस्ति जिह्विका नाम की नाडियाँ भी मूल कन्द से निकलकर तत्तत् स्थानों में होती हुई क्रमशः वाम और दक्षिण नेत्र द्वारों में बहती है। इसी तरह कुछ नाम की नाडी मूलकन्द से निकलकर गुदा द्वार में बहती है। उसी प्रकार मूलकन्द से निकलकर शंखिनी नाडी लिङ्गद्वार में रहती है और वह सुमेरुदण्डमार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक बहती है। इस पूर्वोक्त रीति से दश नाडियाँ दश द्वारों में बहती हैं। यहाँ इति- शब्द नाडी वाक्य की समाप्ति का द्योतक है। इन मुख्य दश नाडियों से अतिरिक्त नाडियाँ रोमकूपों में बहती हैं।६८॥

मू०– अथ दशवायवः। हृदये प्राणवायुरुच्छवास-निःश्वासकारो हकारसकारात्मकश्चास्यैवावस्थाभेदे हठयोग

इति सञ्ज्ञा हकारः कीर्त्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते। सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगोनिगद्यते गुदेत्वपानवायू रेचक-कुम्भकपूरकश्च नाभौ सामानवायुर्दीपकः पाचकश्च। सर्वाङ्गे व्यानवायुर्ग्रसनवमनजल्पकारश्च नागवायुः सर्वाङ्गव्यापक-श्चालकश्च कूर्मवायुः कम्पकश्चक्षुरुन्मेषकारकश्च कृकल उद्गारकः क्षुत्कारकश्च देवदत्तो मुखविजृम्भकः। धनञ्जयो नादघोषक इति दशवाय्ववलोकनेन पिण्डोत्पत्तिर्नरनारी-रूपः॥६९॥

संस्कृत टीका–दशवायूनां दशस्थानानि तत्तत्कार्याणि च निरुप्यन्ते-दशेत्यादिना नरनारी रूप इत्यन्तेन। प्राणवायोः, उच्छ्वासः, हकारः, निश्वासः, सकारः; तथा च नासिकासम्बन्धादनुस्वारसहितः सन् हंस इति जीवमात्रो भवति। किन्त्वयं स्वाभाविकः। अतो नैतेन मोक्ष सिद्धिः किन्तु यदा गुरुणा व्युत्क्रम्य सोहमिति परमात्ममन्त्रः समुपदिश्यते। तदा ध्रुवं मोक्षसिद्धिः। अयमेव मन्त्रयोगः, महावाक्यात्मकमहामन्त्रोपदेशः। इयमेव अजपा नाम गायत्री। तदुक्तं श्रीनाथपादैः- *अजपानामगायत्री योगिनां मोक्षदायिनी॥* हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सवैर्जीवैश्च जप्यते। गुरुवाक्यात् सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जपः। सोऽहं सोऽहमिति यः स्यान्मन्त्रयोगः स उच्यते, अवस्थाभेदेन चास्यैव नामान्तरं हठयोग इति। तदुक्तम्- *(मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्। एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते॥)* **हकार इत्यादि** मूलोक्तपद्यस्यायमर्थः- हकारपदवाच्यः सूर्यः, उपलक्षणेन तदधिष्ठितपिङ्गलानाडी ग्रहणं तथा ठकारवाच्यश्चन्द्र उपलक्षणतया तदधिष्ठितेडानाडीग्रहणं बोध्यम्। उभयोः सुषुम्णायां योगात् पिङ्गलेडाभ्यां वायुं निष्कर्ष्य निरन्तरसंस्थापनात् हठयोगः कथ्यते। त्वययोगोनाम चित्तस्य निर्विषतया विनीलत्वे वायोरपि स्थिरतया लययोगो राजयोगश्च शिवशक्ति-सङ्गमः, मूलाधारे सहस्त्रारे वा। अत्रायं विवेकः- प्रथमे गुरुपूजनषट्चक्रस्थ-देवपूजनध्यानसङ्कल्पादि भवति, द्वितीये वायुविजयार्थं प्राणायामस्य प्राधान्यम्। तृतीये मनस एव वशीकरणोपायवैराग्याद्यभ्यस्यते। चतुर्थे च शिवशक्तिसङ्गमाय कुण्डलिनी प्रबोधनाभ्यास इति विवेकः। प्रातः स्नातो वा स्नानाभावेऽपि मनसा अजपया सङ्कल्पयेत् संकल्पविधिः। ओमद्यपूर्वेद्युः कृतनिःश्वासोच्छ्-

वासात्मकं मूलाधारचक्रस्थसिद्धिसहितगणेशाय षट्शतं स्वाधिष्ठानचक्रस्थ-सरस्वतीसहितब्रह्मणे षट्सहस्रं मणिपूरचक्रस्थलक्ष्मासहितविष्णवे षट्सहस्रमनाहतचक्रस्थगौरीसहितशिवाय षट्सहस्रं विशुद्धचक्रस्थजीवात्मने सहस्रैकमाज्ञा चक्रस्थविद्यासहितगुरवे सहस्रैकं सहस्रारस्थस्वशक्तिसहित-परमात्मने एकसहस्त्रञ्च समर्पये। अनेन पूर्वकृतं समर्पयेत्। ततोऽद्य प्रातः कालमारभ्य भाविप्रातःकालपर्यन्तं निःश्वासोच्छ्वासात्मकषट्शताधिकैक-विंशतिसहस्रसङ्ख्याकमजपागायत्री जपमहं करिष्ये इति॥ अपानवायुबलेनैव प्राणयामो भवतीति सूचितं तेन तद्विजयार्थं नाडीशोधनं नेति धोतीत्यादि-उड्डियानादिबन्धः, आसनञ्चेति साधनीयमित्यपि प्रदर्शितम्॥ अपानवायोः स्थानं गुदः कार्य्यञ्चाह रेचककुम्भकपूरकः कार्यकारणयोस्तादात्म्यमादाय मूले समानाधिकरणनिर्देशः। नाभिदेशे समानवायुर्वसति तस्य कार्यं जठराग्निदीपनम्। अत एव भुक्तान्नस्य पाचनं शरीरस्य सर्वाङ्गेषु व्याननामावायुर्वसति तस्य कार्यम्, सकलनाडीगतविकारापसरणपूर्वकवर्धनं क्वचिदङ्गे च निश्चलः सन् वर्तते। उदान वायोः स्थानं कण्ठः कार्यञ्चान्नादेर्ग्रसनं वमनं जल्पनं च। नागवायुः सकलाङ्गव्यापकः कृत्यञ्च चालनं कूर्मवायुः शरीरस्य कम्पनं नेत्रयोरुन्मेषनिमेषसम्पादनमेतेन स्थानमपि प्रदर्शितम्। यद्देशे कार्यम्, तद्देशे स्थितिरिति। कृकलस्योद्गारः कार्यम्, क्षुधाकरणञ्च देवदत्तवायोश्च मुखविजृम्भणं व्यापारः। धनञ्जयस्य नादघोषणम्, एते दशवायवः।

एतेषामवलोकनेन सम्बन्धेन पिण्डस्य शरीरस्योत्पत्तिः- रचना भवतीत्यर्थः। स च पिण्डो नरनारीरूपः नपुंसकस्याप्युपलक्षणं बोध्यमिति॥६९॥

भाषा टीका—अब क्रम से दश वायुओं का वर्णन करते हैं। हृदय में प्राणवायु रहता है, वह ऊर्ध्वश्वास और अधोनिःश्वास का संचालन करता है। अतः वही प्राणवायु हकार सकारात्मक भी है; अर्थात् हकार से बाहर निकलता और सकार से भीतर प्रवेश करता है, वही हकार सकारात्मक प्राणवायु अनुस्वारसहित होने से हंस मन्त्र भी कहलाता है; यानि जिस समय प्राणवायु बाहर को आता है। उस समय हकार की ध्वनि होती है। अतः उस समय उसी का ध्यान करना चाहिये। जब प्राणवायु भीतर को जाता है। तब सकार की ध्वनि होती है। इसलिये उस समय सकार का ध्यान किया जाता है। इसी हंस-मन्त्र के अक्षरों को

उलटा देने से *"सोऽहम्"* बनता है। इसी भाव को लेकर विवेकमार्तण्ड में कहा है–

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंस सोऽहमिमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥

उसी *"सोऽहम्"* मन्त्र में सकार-हकार का लोप करने से 'ॐ' मन्त्र भी बनता है। इस मन्त्र के विधिपूर्वक जपने से जीवात्मा परमात्मा की एकता का साक्षात्कार हो जाता है। इस मन्त्र को जीव निरन्तर जपता रहता है। इसी का नाम प्राणविद्या और महाविद्या भी है। देखिये विवेक-मार्तण्ड में–

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स योगवित्॥

अर्थ–मूलाधार में रहने वाली कुण्डलिनी शक्ति में उत्पन्न हुई और जीव की प्राणशक्ति को धारण करने वाली अजपा नाम की गायत्री का नाम ही प्राणविद्या है; क्योंकि प्राण के साथ इसका प्रयत्न के बिना ही जप होता है। इसीलिये इसको मत्स्येन्द्रनाथादि योगाचार्य महाविद्या भी कहते हैं। जो योगविद्याविशारद गुरु की बतलाई विधि से इसको जानता है, वही माहेश्वरी विद्या के रहस्य को जान सकता है। इसका महत्व श्रीगोरक्षनाथजी ने स्वयं ही कहा है–

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतन्न भविष्यति॥

इस महाविद्या के सदृश न कोई विद्या है और न कोई मन्त्र तथा जप है। इसके समान कोई ज्ञान भी नहीं है। न हुआ है और न होगा। यह विद्या ही सर्वोत्कृष्ट है। यद्यपि इस हंस-मन्त्र का जप जीव को स्वभाव सिद्ध है; तथापि वह तब तक फल देने वाला नहीं होता, जब तक विधिपूर्वक उसका ज्ञान तथा संकल्पादि न किया जाय। कहा भी है–

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रे जीवो जपति सर्वदा॥

अजपानामगायात्री योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैर्विमुच्यते॥

दिन-रात में इक्कीस हजार छःसौ श्वास निकलते हैं। अतः यह जीव हमेशा ही इक्कीस हजार छः सौ हंस मन्त्र जपता रहता है, इसी को अजपा नाम की गायत्री भी कहते हैं। कारण अन्य मन्त्र वाणी के व्यापार से जपे जाते हैं, परन्तु इसका स्वतः ही जप होता रहता है। यह गायत्री योगियों को मोक्ष देने वाली है। इस गायत्री के सामान्य संकल्पमात्र से ही मनुष्य पापरहित हो जाता है। यदि विधिपूर्वक विशेष संकल्प का अनुष्ठान किया जाय, तब तो कहना ही क्या है। इस अजपा गायत्री के संकल्प करने की विधि "गोरक्षोपनिषद्" के अजपा प्रकरण में कही है :

षट्शतानि गणेशस्य षट्सहस्रं प्रजापतेः।
षट्सहस्रं गदापाणेः षट्सहस्रं पिनाकिनः॥
सहस्रमात्मलिङ्गाय सहस्रं गुरुमर्पयेत्।
परमात्मने सहस्रन्तु संकल्पावधिरेव च॥

अर्थ– मूलाधार चक्र में चार दल वाला कमल है। उसी में त्रिकोणाकार काम पीठ है; जिसके ध्यानमात्र से सिद्धों को समस्त वस्तुओं की प्राप्ति होती है। वहीं पर अपनी ऋद्धि-सिद्धि-सहित गणेशजी का निवास है। वहाँ गणेशजी के लिये छः सौ अजपारूप श्वासों का अर्पण किया जाता है। इसी प्रकार लिङ्ग के मूल में जो स्वाधिष्ठान चक्र है, उसमें षड्दल कमल है। उसमें हंसवाहन और स्वशक्ति सावित्री सहित ब्रह्माजी विराजमान हैं। वहाँ छः हजार अजपारूप श्वास का अर्पण होता है। नाभि में स्थित मणिपूरचक्र दश दल वाला पद्म है और वह अष्टवलयरूप सर्पाकार नाड़ी से लिपट हुआ है। वहाँ गरुडवाहन और स्वशक्ति लक्ष्मीसहित भगवान् विष्णु का निवास है। वहाँ भी विष्णु के लिये छः हजार अजपा गायत्री के जप का अर्पण किया जाता है। इसी प्रकार हृदय में अनाहत चक्र है वहां द्वादशदलयुक्त ऊपर को मुख वाला कमल है और अष्टदलयुक्त नीचे को मुख वाला कमल है। वहां वृषभवाहन और स्वशक्ति भवानी सहित श्रीमहेश्वर का निवास है। वहां भी महादेव के लिये छः हजार अजपा मन्त्र का अर्पण किया जाता है

एवं कण्ठस्थ विशुद्धचक्र में सोलह दल वाला पद्म है। उसमें जीव का निवास है और उस जीव का प्राण या अज्ञान शक्ति है। वहाँ स्वशक्तिसहित जीव को एक हजार मन्त्र अर्पण करे। इसके उपरान्त भ्रूकुटियों के मध्य में आज्ञा चक्र है, उसमें दो दल वाला कमल है। वहाँ ज्ञानशक्तिसहित सदाशिव रहता है। एक हजार मन्त्र गुरुदेव सदाशिव के लिये समर्पित करे। इसी तरह ब्रह्मचक्रस्थ मतृकावर्णसहित जो सहस्र दल पद्म है, वहाँ चित्शक्ति सहित परमात्मा का निवास है। उस सर्वेश्वर के लिये भी एक हज़ार हंस-मन्त्रों को समर्पित करे। अब नीचे संकल्प लिखा जाता है–

अद्येह पूर्वेद्युरहोरात्र चरितनासापुटनिःसृतोच्छ्रवासनिःश्वासात्मक-षट्शताधिकैकविंशतिसहस्त्रंसख्याकाऽजपागायत्रीजपमूलाधारस्वाधिष्ठान-मणिपूराऽनाहतविशुद्धाज्ञाचक्रब्रह्मरन्ध्रस्थितेभ्यो गणपतिब्रह्मविष्णु-रुद्रजीवगुरुपरमात्मभ्यः सिद्धिसरस्वतीलक्ष्मीगौरीप्राणशक्तिज्ञान-शक्तिचिच्छक्तिसमेतेभ्यो यथासंख्यं षट्शतं षट्सहस्त्रं षट्सहस्त्रं षट्सहस्त्रसहस्त्रमेकं सहस्त्रमेकं सहस्त्रमेकमजपागायत्रीजपं प्रत्येकं निवेदयामि इति निवेद्य पुनरद्य प्रातःकालमारभ्य द्वितीय प्रातःकालपर्यन्तं नासापुटनिःसृतोच्छ्वासनिःश्वासात्मकं षट्शताधिकैकविंशतिसंख्या-कमजपागायत्रीजपमहोरात्रेणाहं करिष्ये इति यजमानो जपसङ्कल्पं कृत्वा स्वकृत्यमाचरेत् इति।

अथवा चतुर्दलविशिष्टमूलाधारचक्रस्थाय मूषकवाहनाय साङ्गोपाङ्गसहिताय स्वशक्तिसिद्धिबुद्धियुताय श्रीमहागणाधिपतयेऽज-पाजपानां सोऽहमित्येवं रूपाणां षट्शतानि पाद्यादिकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम्।

षड्दलविशिष्टस्वाधिष्ठानचक्रस्थाय हंसवाहनादिसाङ्गोपाङ्ग-सहिताय स्वशक्तिसावित्रीयुक्ताय श्रीब्रह्मणेऽजपाजपानां सोहमित्येव रूपाणां षट्सहस्त्राणि अर्घ्यपदादिकञ्च समर्पयामि नमः प्रीयताम्।

दशदलविशिष्टमणिपूरचक्रस्थाय गरुडवाहनादिसाङ्गोपाङ्ग-सहिताय स्वशक्तिलक्ष्मीयुताय श्रीमहाविष्णवेऽजपाजपानां सोऽहमित्येवं रूपाणां षट्सहस्त्राणि पाद्यादिकं च समपयामि नमः प्रीयताम्।

द्वादशदलविशिष्टानाहतचक्रस्थाय वृषभवाहनादिसङ्गोपाङ्ग-सहिताय स्वशक्तिगौरीयुक्ताय श्रीमहेश्वरायाऽजपाजपानां सोऽहमित्येवं रूपाणां षट्सहस्त्राणि अर्घ्यपाद्यादिकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम्।

षोडशदलविशिष्टविशुद्धचक्रस्थाय साङ्गोपाङ्गसहिताय प्राण-शक्तियुताय श्रीजीवात्मनेऽजपाजपानां सोऽहमित्येवं रूपाणामेकसहस्त्रं पाद्यादिकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम्।

द्विदलविशिष्टाज्ञाचक्रस्थाय साङ्गोपाङ्गसहिताय ज्ञानशक्तियुताय सदाशिवस्वरूपाय गुरवेऽजपाजपानां सोहमित्येवं रूपाणामेकसहस्त्रं पाद्यादिकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम्।

सहस्त्रदलविशिष्टब्रह्मचक्रस्थाय साङ्गोषाङ्गसहिताय चिच्छक्ति-युताय श्रीपरमात्मनेऽजपाजपानां सोऽहमित्येवं रूपाणामेकसहस्त्रं पाद्यादिकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम्।

पुनरद्य प्रातःकालमारभ्य द्वितीयप्रातःकालपर्यन्तं नासापुट-निःसृतोच्छ्वासनिःश्वासात्मकं षट्शताधिकैकविंशति सहस्त्रसंख्या-कमजपागायत्रीजपमहोरात्रेणाहं करिष्ये इति यजमानः सङ्कल्पं कृत्वा स्वकृत्यमाचरेत्।

अथ ध्यानम्–

आधारे लिङ्गनाभौ प्रकटितहृदये तालुमूले ललाटे।
द्वे पत्रे षोडशारे द्विदशदशदले द्वादशार्धे चतुष्के॥
वासान्ते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वराणाम्।
हंक्षतत्त्वार्थयुक्तं सकलदलगतं वर्णरूपं नमामि॥

भा० टी०–प्रथम मूलाधार में चतुर्दलयुक्त कमल है। उसकी प्रत्येक कर्णिका (पङ्खडी) में व से लेकर सकार पर्यन्त वं-शं-षं-सं-बीजरूप चार वर्ण विद्यमान हैं। दूसरे लिङ्गमूलस्थ स्वाधिष्ठानचक्र में षड्दल वाला पद्म है। उसके षड्दलों में क्रम से व से लेकर ल पर्यन्त (वँ भँ मँ यँ रँ लँ) मातृका बीज वर्ण विराजमान हैं। तीसरे नाभिस्थ मणिपूरचक्र में दश दल वाला पद्म है। उसकी प्रत्येक कणिकाओं में क्रम से डकार से लकर फ पर्यन्त (डँ ढँ णँ तँ थँ दँ धँ नँ पँ फँ) दश मातृका

बीज वर्ण सुशोभित है। चौथे हृदयकमलस्थ अनाहत चक्र में बारह दल वाला कमल है। उस की प्रत्येक कर्णिका में यथाक्रम क से लेकर ठ पर्यन्त (कँ खँ गँ घँ ङँ चँ छँ जँ झँ ञँ टँ ठँ) पूर्वोक्त बारह मातृका बीज वर्ण विद्यमान है। पाँचवे कण्ठदेशस्थ विशुद्धचक्र में सोलह दल वाला कमल है। उसकी प्रत्येक कर्णिका में यथाक्रम से अँ आँ इँ ईँ उँ ऊँ ऋँ ॠँ ऌँ ॡँ एँ ऐ ओं औं अँ अः- ये सोलहस्वरूप मातृका बीजवर्ण शोभायमान हैं एवं छठे भ्रूमध्य आज्ञाचक्र में दो दल वाला पद्म है। उसके दोनों दलों में क्रम से हं क्षं- ये दो मातृका बीजवर्ण रहते हैं। ऐसे ही ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदल पद्म है। इस प्रकार सकल चक्रस्थ पद्म दलों में विराजमान वर्णरूप परमेश्वर को प्रणाम करता हूँ। पूर्वोक्त मन्त्रयोग ही जब प्राणायाम द्वारा क्रियारूप में परिणत हो जाता है, तब उसे हठयोग कहते हैं। हकार से सूर्यस्वर और ठकार से चन्द्रस्वर का ग्रहण होता है। चन्द्र और सूर्यस्वर का सुषुम्णा नाडी में सम्बन्ध होने से हठयोग कहलाता है; अर्थात् इडा और पिङ्गला नाडी के द्वारा सुषुम्णा नाडी में प्राण की एकता करता हुआ; जो योगी प्राण की गति को अपने वश में करके परब्रह्म का ध्यान करता है। उसी ध्यान की प्रौढ अवस्था का नाम 'हठयोग' है।

गुदामण्डल में अपान वायु रहता है। वहीं अधोमार्गों से मल-मूत्रादि को निकालता है एवं उसी अपान वायु की सामर्थ्य से पूरक, कुम्भक और रेचक प्राणायाम भी होता है; क्योंकि प्राणवायु को रोकने वाला अपान वायु है। इसीलिये अपानशक्ति से रुका हुआ प्राणवायु बाहर से भीतर को पूरित किया जाता है। इसी को पूरक नाम का प्राणायाम कहते हैं। तथा अपान से गृहीत ही प्राणवायु जल कुम्भ की तरह स्थिर रहता है। इसीलिये यह कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है। इसी तरह अपानवायु से ग्रहण किया हुआ ही प्राणवायु परिमित मात्रा से बाहर निकाला जाता है। अतः यह रेचक प्राणायाम कहलाता है। यदि अपान वायु से प्राणवायु पकड़ा हुआ न हो, तो निराश्रय प्राणवायु से प्राणायाम होना सर्वथा असम्भव है। इसी आशय से श्रीगोरक्षनाथजी ने पूरकादि प्राणायाम अपान वायु का कार्य कहा है।

नाभि में समानवायु रहता है, वही जठराग्नि को उद्दीप्त करता हुआ पाचन करता है। इसीलिये दीपक और पाचक कहलाता है। तथा खाद्य और पेय वस्तुओं के रस का सब नाड़ियों में समान विभाग करने से समान कहा जाता है। समस्त शरीर के अङ्गों में व्याप्त होकर व्यान वायु रहता है और समस्त नाड़ियों में विद्यमान मलिन-मज्जादि का शोषण भी वही करता है तथा शरीर में बलवृद्धि को भी बढ़ाता है और किसी अङ्ग में चंचल तथा किसी में स्थिर रूप से रहता है। कण्ठ में उदान नाम का वायु रहता है। वही वायु खाने पीने की वस्तु को कण्ठ के नीचे उतारता है तथा वमन भाषण और दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिये उत्क्रमण अर्थात् इस शरीर से जीव के निकालने में भी वही मुख्य कारण है। नाग वायु सकल शरीर में व्यापक होकर रहता है, वह शरीर को मोटा करता है और शरीर का संचालन भी वही करता है एवं डकार के आने में भी वही कारण है। शरीर को कँपाना आखों की पलकों को खेलना और मीचना कुर्म नाम के वायु का काम है। शरीरगत कृकल वायु के भी दो काम हैं- उद्गार (डकार) लाना और भूख लगाना। देवदत्त नाम का वायु मुख का विजृम्भण करता है अर्थात् जंभाई का कारण देवदत्त वायु है। समस्त शरीरव्यापी धंनजय वायु अव्यक्त शब्द को उत्पन्न करता है। इस प्रकार उपर्युक्त दश वायुओं के सम्बन्ध से नर-नारी-रूप पिण्ड (शरीर) की उत्पत्ति होती है। इन दश वायुओं में प्राणादि पाँच वायु मुख्य हैं; जो शरीरधारणादि क्रिया को प्रधान से सम्पादन करते हैं और नागादि पाँच वायु अप्रधान हैं; क्योंकि प्राणादि पाँच वायुओं के बिना इनकी स्थिति नहीं है तथा शरीर में सबसे पहले पाँच प्राणादिकों का ही वृत्तिलाभ होता है, पीछे नागादि भी प्राणादि के सहायक होने से अपने व्यापक को करते हैं॥६९॥

मू०- अथ गर्भोली पिण्डोत्पत्तिर्भवति नरनारीसंयोगे ऋतुकाले रजोबिन्दुसंयोगे जीवः॥७०॥

सं० टी०- *"आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्विन्दुरजायत"* बिन्दुर्नामशक्तिविशिष्टचेतनः स एव व्यष्टिरूपो जीवः समष्टिरूपो रुद्र-ब्रह्मरमाधिपात्मक उभयोरभिन्नोपादनः "आदिनाथः" तं एवाह *बिन्दुः शिवात्मको*

बीजशक्तिर्नादस्तयोर्मिथः॥ समवाय इति ख्यातः सर्वागमविशारदैः" इति। तत्सहितशुक्रोपि बिन्दुः। *"माषा न भोक्तव्या"* इत्यत्र माषमिश्रिता अपि न भुज्यन्ते यथा। पुरुषस्य शुक्रे जीवोऽन्तर्हितोऽपि तत्र भोगो न भवति, अलब्धवृत्तिकत्वात् वृत्यलाभे कारणञ्च तच्छुकसम्बलितशरीरस्य स्वामिना जीवान्तरेणाभिभावितशक्तिकत्वात्॥ यदा तस्य भोगाय कर्मोद्भवति, तदा पृथक् भोगसाधनशरीरनिर्माणाय बिन्दुं पुरुषात् पृथक् कृत्यस्त्रिया गर्भं केन्द्रे (गर्भाशये) रजसा सह संयुनक्ति संयुक्तमेव रजोवीर्योभयमेतत्स्थूल-शरीरोपादानम्। अत्रेदं बोध्यम्– बिन्दौ या शक्तिः सा पञ्चकर्म इन्द्रिय पञ्चज्ञानेन्द्रियदशवायुमनबुद्ध्यहङ्कारचित्तचैतन्येति पञ्चविंशतीनां सूक्ष्मावस्था। तत्र वायूनां वृत्तिलाभः सर्वतः प्रथमं बीजनिषेककालादेव भवति। अत एव गर्भे शुक्रो न विपूयते, किन्तु वर्धतेऽवयवसन्निवेशश्च सम्पद्यतेऽन्येषां वृत्तिः शरीरेन्द्रियगोलकादिस्थानविशेषप्रादुर्भावानन्तरम्॥७०॥

भा० टी०–ऋतुकाल में स्त्री और पुरुष के संगम से निकले हुये रज और बिन्दु का स्त्री की योनि में मेल होने से जीव के स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है भावार्थ यह है। कि बिन्दु-शब्द का अर्थ शक्ति-विशिष्ट चेतन है। वही व्यष्टि में जीव और समष्टि में ईश्वर कहलाना है। इन दोनों का मूलकारण परब्रह्म परमेश्वर है। नीचे श्लोक में देखिए :

बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः।
समवाय इति ख्यातः सर्वागमविशारदैः॥

अर्थ–शिवरूप बिन्दु और बीजरूप शक्ति है। इन दोनों का जो परस्पर सम्बन्ध है, उसी को शास्त्रवेत्ता नाद कहते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि व्यष्टिजीवसहित शुक्र भी बिन्दु कहलाता है। हाँ! पुरुष के वीर्य में अन्य जीवात्मा छिपा हुआ है भी, पर उसको उस शरीर में सुख-दुःखादि का व्यापार नहीं हो सकता; क्योंकि जिस जीव के कर्म से इस शरीर का निर्माण हुआ है, उस शुक्रसंयुक्त शरीर के स्वामी का जीवात्मा से शुक्र तिरोहित जीव की शक्ति दबी हुई है। किन्तु जब उस शुक्र में छिपा आत्मा के भोगार्थ कर्म का प्रादुर्भाव होता है, तब उस जीव भोग के लिये शरीरनिर्माण के निमित्त वह कर्म बिन्दु का पुरुष से अलग कर स्त्री के गर्भाशय में सेचन करवाता हुआ उसका रज से मिला देता है। अतः मिला हुआ रज-वीर्य इस स्थूल शरीर का कारण है॥७०॥

मू०– प्रथमदिने कललं भवति सप्तरात्रे बुद्बुदाकारं भवति। अर्धमासे गोलाकारं भवति। मासमात्रेण कठिनं मास-द्वयेन शिरो भवति। तृतीयमासि हस्तपादादिकं भवति। चतुर्थे मासि चक्षुःकर्णादि नासिका मुखमेढ्रगुदं भवति। पञ्चमे मासि पृष्ठोदरौ भवतः। षष्ठे मासि नखकेशादिकं भवति। सप्तम-मासे सर्वचेतनयुक्तो भवति। अष्टममासि सर्वलक्षणयुक्तो भवति। नवमे मासि सत्यज्ञानयुक्तो भवति। दशमे मासि योनि संस्पर्शादज्ञानी बालको भवति॥७१॥

सं० टी०–तत्र कियत् काले कस्य कस्याङ्गस्योत्पत्तिरिति वर्णितम्; मूलेऽक्षरार्थस्तु स्पष्टतरः॥७१॥

भा० टी०–अब गर्भ की कितने समय में कैसी अवस्था और किसकी उत्पत्ति हाती है- इन सबका प्रकार नीचे देखिये। पहले दिन उस रज वीर्य की कलिल (कुछ गाढ़ापन) अवस्था होती है। फिर सात रोज में वह मिला हुआ रज-वीर्य बुलबुले के आकार को धारण करता है और पन्द्रह दिन में गोलाकार हो जाता है। इसके उपरान्त प्रथम मास में गोलाकार अवस्था को प्राप्त हुआ माता-पिता का रज-वीर्य कठिन अवस्था को प्राप्त होता है। फिर दो मास में उस गोलाकार पिण्ड में शिर निकलता है एवं तीसरे महीने में हाथ-पैर-आदि अङ्गों का प्रादुर्भाव होता है। चौथे मास मे आँख-कान-नाक-मुख-मूत्रेन्द्रिय-गुदा-आदि होते हैं। पाँचवें महीने में पीठ और पेट उत्पन्न होता है। छठे महीने में नख-केश-रोमादि पैदा हो जाते हैं। सातवें महीने में माता-पिता के रजवीर्य से उत्पन्न हुई और माता के गर्भाशय में स्थित वह बालमूर्ति सर्वाङ्ग और चेतना-युक्त हो जाती है तथा आठवें मास में वह बालशरीर सर्वलक्षण सम्पन्न हो जाता है। नवम मास में उस गर्भस्थ बालक के अन्दर सत्यज्ञान की वृद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह है कि उस देश और काल की महिमा से वह बालक त्रिकालदर्शी सिद्ध जैसा ज्ञानी हो जाता है। इसी कारण पिछले जन्म के दुःखों का स्मरण करता है। अन्त में उस सर्वेश्वर की शरण में हो प्रार्थना करता है कि हे सर्वान्तरयामिन्! दयामय प्रभो! इस

दारुण-दुःखमय नरक से मेरा उद्धार करो! फिर दशवें महीने में जब योनिद्वार से बाहर निकलता है, तब उस योनिद्वार के स्पर्श से उस जीव का सत्य ज्ञान नष्ट हो जाता है और केवल अज्ञानी बाल स्वभाव होकर रोने लगता है।

मू०– शुक्राधिकेषु पुरुषो रक्ताधिका कन्यका समं शुक्ररक्ताभ्यां नपुंसकः परस्परं चिन्ताव्याकुलत्वादन्धः कुञ्जो वामनः पङ्गुरङ्गहीनश्च भवति। परस्परं रतिकालेऽङ्गनिःष्पीडन-करणगुणैः शुक्रो द्विस्त्रिवारं पतति, येन द्वितीयो बालको भवति॥७२॥

सं० टी०–मातृरजः पितुर्वीर्यञ्चास्य शरीरस्योपादानम् तत्र यस्याधिक्यं तदनुरूपैव तनुः सम्पद्यतेऽतो रज-आधिक्ये कन्या वीर्याधिक्ये बालकः, तयोः साम्येन पुंसकमिति युक्तियुक्तमुक्तम्। गर्भाधानकालिकमातृपितृभावनापि निमित्तम्। अतस्तस्य वैगुण्ये शरीराङ्गवैकल्यस्य न्यायतैव, यथा कुलालप्रमादाद् घटे कौटिल्यादि। एतेन पित्रोर्भावनोत्कर्षात् पुत्रस्य सुमेधस्त्वमित्यपि प्रमाणितम्। रतिकाले परस्पराङ्गमर्दनव्यापारविशेषात्मकगुणवशात् विच्छिद्य २ शुक्रपतने गर्भाशयस्थवायुना विभज्यमाने सत्येकाधिकसन्तानोत्पत्तिः॥७२॥

भा० टी०–स्त्री के गर्भाशय में पुरुष के वीर्य की अधिकता होने से पुरुषशरीर तथा स्त्री के रज की अधिकता से स्त्रीशरीर होता है एवं यदि माता पिता का रज और वीर्य समान हो, तो नपुंसक का शरीर उत्पन्न होता है। यदि रतिकाल में स्त्री-पुरुष अथवा दोनों आपस में चिन्तायुक्त हों; तो उनकी सन्तानें अंधी-कुबड़ी-अत्यन्त छोटी और अंगहीन होती है और रतिसमय में आपस में अङ्गों के मर्दन द्वारा वीर्य के पतन का अवरोध करने से गर्भाशय में जब रुक-रुककर दो-तीन बार बिन्दु का पात होता है, तब एक से अधिक सन्तान पैदा होती है॥

मू०– सार्धपलत्रयं शुक्रं विंशतिपलं रक्तं द्वादशपलं मेदः दशपलं मज्जा शतपलं मासं दशपलं पित्तं विंशतिपलं श्लेष्मा तद्वद्वातः स्यात् षष्ट्यधिकशतत्रयमस्थीन्यस्थिमात्रं सन्धयः सार्धत्रयकोटिरोमकूपाणि पितृमातृवीर्यं भवति वातपित्त-श्लेष्मधातुत्रयं दशधातुमयं शरीरमिति गर्भोत्थपिण्डोत्पत्तिः॥७३॥

॥इति महेश्वरावतारश्रीगोरक्षनाथकृतप्रथमोपदेशः॥

सं० टी०– गर्भस्य बालशरीरे कियत् परिमाणं शुक्रादिकमिति जिज्ञासां दिक्प्रदर्शनन्यायेनोपशमयतीत्यतो ग्रन्थान्तरविरोधस्य नास्त्यवकाशः। अनन्तरमिमां तनुमधिष्ठाय जीवः स्वस्वकर्मानुकूलं फलं सुखदुःखान्यतरात्मकं भुनक्ति। अयमत्र निर्गलितसारः- अनन्तकालात् कर्मप्रेरितो जीवः। नवं नवं विग्रहमुपादानः जन्मजरामृत्युचक्रप्रबन्धारुढः संसरति। यदा हि- अनेक-जन्मसञ्चितपुण्यपुञ्जपरिपाकवशात् संसारात् परां शान्तिमुपाशिश्रीषते तदा तदुपायं पर्येषमाणो नित्यनिरवयवचेतनात्मकस्य जीवस्य विद्यां विना बन्धो न भवेदिति। आचार्योपदेशेन युक्त्या च व्यवस्थाप्य च तदुच्छेदनिदानञ्च विद्यात्मिको मैवेति विनिश्चित्य तदुपायो योगमार्ग एव समाश्रयणीयो मुमुक्षुभिः योगे च स्थूलशरीरज्ञानं परमावश्यकम्। तज्ज्ञानं विना तदनुष्ठानायोगात् किञ्चोपासनायां कर्मणि लौकिकेऽपि चिकित्सादिकर्मणि च सर्वत्र शरीर-परिज्ञानस्यावश्यकम् तज्ज्ञानञ्चतन्निदान ज्ञानमन्तराऽशक्यमेवाधिभौतिक-शरीरस्याधिभूतमुपादानकरणम्। अधिदैवश्च निमित्तं तदुभयं शरीरनिदानम्, अतस्तदुभयज्ञानमपेक्ष्यते। तदुभयोरपि अभिन्ननिमित्तोपादानम् "आदिनाथः", सोऽपि शक्तिसहितः एव न तु शक्तिरहितोऽयमेव विशेषः। अत आदिनाथमारभ्य स्थूलशरीरपर्यन्तोपवर्णनमस्मिन्नुपदेशे। आदिनाथः कूटस्थ एकविधः सकलनिदानभूतः। तद्दृष्ट्या द्वैतमेव॥७३॥

॥इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सर्वतन्त्रस्वतन्त्रपं० श्रीद्रव्येशझाकृत गूढार्थदीपिकायां प्रथमोपदेशः॥

भाषा टीका–अब इस शरीर में कितने परिमाण में कौन-कौन वस्तुएँ रहती हैं, उन वस्तुओं के सामान्य परिमाण का निरूपण करते हैं। इस शरीर में साढ़े तीन पल वीर्य, बीस पल रक्त, बारह पल मेदा, दश पल मज्जा, सौ पल मांस, दश पल पित्त, बीस पल गर्मी और इतना ही वायु रहता है। यहां यद्यपि वायु और उष्मा में विशेषतः गुरुत्व धर्म नहीं है; जिसका पलादि से नाप किया जाया तथापि जिस परिमाण या यन्त्र विशेष से उष्मा और वायु का माप कर सकते हैं उस योगज धर्मादि प्रमाण या यन्त्र-विशेषं से माप की गई वायु को कह सकते हैं कि यह वायु वा उष्मा बीस पल है। जैसे थर्मामीटर से माप की गई गर्मी को

कहा जाता है कि इस देवदत्त के अट्ठानवे डिग्री ताप है, इसी प्रकार योगाचार्यजी ने ऋतम्भरा योगप्रज्ञा से मापकर बीस पल वायु और उष्मा के परिमाण का प्रतिपादन किया तथा तीन सौ आठ हड्डियाँ और उतने ही उनके जोड़ में एवं साढ़े तीन करोड़ रोम तथा रोमकूप हैं। यह सब माता-पिता के रज-वीर्य का ही परिणाम है। यह शरीर वात, पित्त, कफ तथा चर्म, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र-इन दश धातुओं से बना है। इस प्रकार से उत्पन्न होने वाले पिण्ड की उत्पत्ति का वर्णन समाप्त हुआ॥ ७३॥

॥इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ योगीन्द्रश्री१०८बोहराधिपतिश्रीपूर्णनाथशिष्येण वेदान्ताचार्येण योगिश्रीपं०भीष्मनाथेन कृतायां हिन्दीटीकायां प्रथमोपदेशः समाप्तः॥

अथ पिण्डविचारः कथ्यते

मू०– पिण्डे नवचक्राणि। आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं भगमण्डलाकारं तत्र मूलकन्दस्तत्र शक्तिं पावकाकारां ध्यायेत्, तत्रैव कामरूपपीठं सर्वकामप्रदं भवति॥१॥

सं०– साकल्येन पिण्डाण्डौ प्रदर्श्य शरीरेऽस्मिन्ननेकेषां सद्भावेऽपि योगेऽत्यावश्यकज्ञातव्यावयवादीनां स्वरूपाणि, तत्र कर्त्तव्यध्यानादि-विशेषांस्तत्फलविशेषांश्च प्रदर्शयितुं द्वितीयोपदेशः प्रस्तूयते। पिण्डेऽस्मिन् स्थूलशरीरे नवचक्राणि सन्ति पृष्टमध्यसंलग्नो मेरुदण्डस्तदभ्यन्तरे दक्षिणभागे पिङ्गलाख्या सूर्यनाडी। वामभागे चेडानाम्नी चन्द्रनाडी॥ मध्ये सुषुम्णा नाडी॥ इयं तेजोरूपा मूलाधारमारभ्य ब्रह्मरन्ध्रसहस्रारपर्यन्ता॥ तस्य एव तत्तत्स्थानेष्वाकारविशेषः चक्रं तत्र षट्चक्राणि क्वचित् वर्णितानि सङ्क्षेपेणोपासनार्थम् वस्तुतः प्राचीनग्रन्थेषु नवचक्रमयं वपुरित्येव बहुलमुपलभ्यते लिङ्गादधो गुदादुर्ध्वं मध्ये बिन्दुरूपकुण्डलिनीशक्तेः प्रथमाविर्भावस्थानं मूलाधारः। मूलस्य शरीरकारणस्य बिन्दोराश्रयः॥ वस्तुतः शरीरस्यैवाधारः सा तां विना शरीरस्य स्थितिरेव दुर्लभा। किन्तु बालानां बोधाय घटे मृत्तिके तिष्ठत मूलस्याधार इति व्युत्पत्तिः प्रदर्श्यते। तत्राध्यात्मिकप्राणवायुसहिता चिच्छक्तिः शरीराकारणत्वात् ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं

त्रिवलयान्वितं क्वचित् सार्धत्रिवलयान्वितम् इत्युपलभ्यते। न तेन विरोधश्च तुष्ट्वसंख्यापूर्त्तिपर्यन्तं त्रिपदेनैव कथ्यते। यथाऽमरकोशः *"आदशतः सङ्ख्या सङ्ख्येय"* इत्यत्र दशपदेनाऽष्टादशपर्यन्तं गृह्यते। **(भगमण्डलाकारम्)** अधोमुख त्रिकोणयन्त्रं तत्रेत्यौपश्लेषिका सप्तमी, तथा च तत्समीपे किञ्चिदुर्ध्वदेशे मूलकन्दः पक्ष्यण्डसरूप एतस्मादेव सर्वा नाड्यः प्ररोहन्ते॥ तत्र मूलाधारे वह्निवर्णां शक्तिं ध्यायेत् साधकः। इयमिच्छाशक्तिर्गौरीरूपा कामेश्वरी तत्र स्थितशिवकामेश्वरसहिता ध्येया न केवलः शिवो न च केवलाशक्तिरिति रहस्यं बहुषु स्थलेषु स्वयमाचार्यपादैर्व्यवस्थापितं शक्तिध्याने शिवसाहित्यं शिवध्याने शक्तिसाहित्यमिति प्राधान्यमात्रं विशेषः। तदुक्तम्- *"विद्युद्विलासवपुषः श्रियमाहवन्तीं यान्तीं स्ववासभवनाच्छिवराजधानीम्, सौषुम्णमार्गं कमलानि विकाशयन्तीं देवीं भजे हृदि परामृतसिक्तगात्राम्"* इति एतत् स्थानं कामपीठम्। शक्तेराविर्भावस्थानं पीठपदेन व्यवह्रियते। कामा, च कामश्च तयोरेकशेषे कामौ तयोः पीठं कामेश्वरी कामेश्वरयोः स्थानमित्यन्वर्थता सूचिता। अत्रोपासकानां सकलकामना सिद्धिर्भवति इति प्रथमचक्रम्।

भा० अब पिण्ड (शरीर) के विचार का वर्णन करते हैं इस पिण्ड में नौ चक्र हैं, उनमें भी गुदा से दो अंगुल परिमाण ऊपर और लिङ्ग से दो अङ्गुल नीचे चार अङ्गुल परिमाण और चतुर्दलयुक्त मूलाधार है। उसी आधार में तीन बार गोल आकार से चारों ओर लिपटा हुआ त्रिकोण भगमण्डल के सदृश और परब्रह्म की प्राप्ति का हेतु ब्रह्मचक्र है। उसी के समीप कुछ ऊपर मूलकन्द है, वहाँ अग्नि के आकार वाली देदीप्यमान शक्ति का ध्यान करें। वहाँ ही त्रिकोणात्मक कामरूप पीठ है। इस कामपीठ के ध्यानमात्र से सकल इष्ट कामनाओं की सिद्धि होती है। इसलिये इसका 'कामपीठ' यह नाम सार्थक है॥१॥

मू०– द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत्। तत्रैवोड्डीयानपीठं जगदाकर्षणं भवति॥२॥

सं० टीका–लिङ्गसमीपदेशे सुषुम्णानाड्यां स्वाधिष्ठानं चक्रं तन्मध्ये, इषद्रक्तवर्णं शिवलिङ्गं चिन्तयेत्। अत्रोपासनेनाकर्षणशक्तिः सिद्ध्यति इति द्वितीयचक्रम्॥२॥

भा० दूसरा छः दलयुक्त स्वाधिष्ठान चक्र है, उसके बीच पीछे की ओर मुख वाला मूंगे के अग्रभाग के सदृश शिवलिङ्ग है। वहाँ रक्तवर्ण उस शिवलिङ्ग का ध्यान करें। वहीं पर उड्डीयाण पीठ है। वहाँ ध्यान करने से जगत् के आकर्षण की सामर्थ्य होती है॥२॥

मू०– तृतीयं नाभिचक्रं पञ्चावर्त्तं सर्पवत् कुण्डलाकारं तन्मध्ये कुण्डलिनी शक्तिं बालार्ककोटिसदृशीं ध्यायेत्। सा मध्यमा शक्तिः सर्वसिद्धिदाभवति॥३॥

सं० टीका–नाभिदेशसमीपस्थसुषुम्णायां पञ्चावर्त्तं सर्पं कुण्डलसदृशीं कुण्डलिनीं कोटिप्रातःकालिकसूर्यप्रभां ध्यायेत्। इयं मूलाधारस्थकुण्डलिनीतोऽभिन्ना तदवस्थाविशेषः। अतस्तत्र त्रिरावृत्तम् अत्र पञ्चावृत्तम् इति तृतीयम्॥३॥

भाषा टीका–तीसरा नाभि चक्र है, इसी को मणिपूरचक्र भी कहते हैं। वह सर्प के सदृश कुण्डलाकार नाड़ी से चारों और पांच बार गोलाकार में वेष्टित है। उसमें प्रातःकाल के करोड़ों सूर्यों के सदृश कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करें। इसके ध्यानमात्र से सब सिद्धियों की प्राप्ति होती है और चित्त में सत्त्वगुण का प्रवाह बहने लगता है। इसी कुण्डलिनी शक्ति को मध्यमा शक्ति भी कहते हैं; क्योंकि मूलाधारस्थ सूक्ष्मा कुण्डलिनी शक्ति की ही अवस्था विशेष होने से इसका नाम मध्यमा शक्ति हुआ॥३॥

मू०– चतुर्थं हृदयाधारमष्टदलकमलमधोमुखं तन्मध्ये मर्णिकायां लिङ्गाकारं ज्योतिरूपां ध्यायेत्। सैव हंसकला सर्वेन्द्रियाणि वश्यानि भवन्ति॥४॥

सं० टी०–हृदयसन्निहितसुषुम्णायामनाहतचक्रं, ततो निःसृताऽष्टदलकमलं हृद्देशेऽधोमुखं, तदन्तःकर्णिकायां ज्योतिरूपां ध्यायेत्। इयं हंसकला श्रीशक्तिः। अत्रोपासनेन सर्वेन्द्रियाणि वश्यानि भवन्ति इति चतुर्थम्॥४॥

भा०–चौथा हृदय चक्र है, उसी को अनाहत चक्र भी कहते हैं। वहाँ अष्टदल वाला अधोमुख कमल हैं, उसका जो मुख है। उसके मध्य में स्थित कर्णिका में शिवलिङ्ग के आकार वाली ज्योति का ध्यान करें। उस ज्योति का नाम ही हंसकला है, उस हंसकलारूप ज्योति का ध्यान

करने वाले पुरुष की सब इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं।४॥

मू०– पञ्चमं कण्ठचक्रं चतुरङ्गुलं तत्र वाम इडा चन्द्रनाडी दक्षिणे पिङ्गला सूर्यनाडी तन्मध्ये सुषुम्णां ध्यायेत्। सैवानाहतकलाऽनाहतसिद्धिर्भवति॥५॥

सं० टी०–कण्ठदेशे पञ्चमचक्रं चतुरङ्गुलपरिमितम्। तत्र वामभागे इडानाम्नी चन्द्रनाडी दक्षिणे च पिङ्गलानाम्नी सूर्यनाडी मध्ये सुषुम्णा तां ध्यायेत्। तत्रभेदेन स्पष्टतया प्रकाशते। इतः पूर्वं भेदेन स्पष्टता नासीदिति व्यज्यते। इयमनाहतकला अत्रोपासनेन क्वापि जले स्थले पाषाणे वा प्रतिघातो न भवति वा सङ्कल्पशक्तिः सिध्यति॥५॥

भा०–पाँचवाँ चार अङ्गुल विस्तार वाला कण्ठचक्र है। उसमें बाईं ओर इडा नाम की चन्द्र नाड़ी है और उसी कंठचक्र के दाहिनी ओर पिङ्गला नाम की सूर्यनाडी मूलकन्द से प्रकट होकर तत्तत् स्थानों में होती हुई यहाँ आकर निकली है। उन दो नाडियों के मध्य में श्वेतवर्णसुषुम्णा नाम की ब्रह्मनाडी का ध्यान करे। उस सुषुम्णा का ही नाम अनाहत कला है, इसके ध्यान से अनाहत सिद्धि होती है; अर्थात् जो जो मानसिक संकल्प करता है, वह सब सफल हो जाते हैं।५॥

मू०– षष्ठं तालुचक्रं तत्रामृतधाराप्रवाहः घण्टिकालिङ्ग-मूलरन्ध्रराजदन्तं शङ्खिनीविवरं दशमद्वारं तत्र शून्यं ध्यायेत्, चित्तलयो भवति॥६॥

सं० टी०–तालुमूले षष्ठं चक्रं तत्रामृतस्य सहस्रारतः प्रवाहो भवति यो हि मांसखण्डस्तन इवमुखोद्घाटने दृश्यते सा घण्टिकालिङ्गसदृशं, तस्या मूले छिद्रं तदेव दशमद्वारं योगतन्त्रे कथ्यते-शंखिनी नाड्याविवरं। तत्र शून्यस्य ध्यानेन चित्तं लीनं भवति। दन्तानां राजा इति राजदन्तं तदिवेति राजदन्तम् इवार्थे क तत्र सादृश्यं स्वच्छत्वेन चक्रविशेषणम्॥६॥

भा०–छठा तालु चक्र है। वहाँ सहस्रदलस्थित चन्द्रमण्डल से अमृत बिन्दु निकलता है। उस अमृतबिन्दु की धारा का प्रवाह तालु की खास नाड़ियों में रहता है। वहीं पर लिङ्गाकार घण्टिका के मूल से लेकर तालुपर्यन्त राजदन्त नामक बिल है। इसी को शंखिनी विवर भी कहते

हैं; क्योंकि यहाँ शंखिनी नाडी का सम्बन्ध है। यही दशमद्वार का मार्ग है। यहाँ शून्य अर्थात् निर्गुण का ध्यान करें। इस शून्य के ध्यान से चित्त का लय होता है।६॥

मू०– सप्तमं भ्रूचक्रं मध्यममङ्गुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्योयेद् वाचां सिद्धिर्भवति॥७॥

सं०– सप्तमं भ्रूचक्रम्। भ्रुवोर्मध्ये वर्तत इति बोधनाय मध्यममिति विशेषणम् अङ्गुष्ठमात्रम् अङ्गुष्ठपरिमितं ज्ञानं नयत्यनेनेति ज्ञाननेत्रं ज्ञानविकाशस्य केन्द्रं तत्र दीपशिखाकारं तेजो ध्यायेदनेन वाक् सिद्धिर्भवति॥७॥

भा०–सातवाँ दो दल वाला भ्रूचक्र है। इसको आज्ञाचक्र भी कहते हैं। इसी भ्रूचक के मध्य में दीपशिखा के आकार वाला अङ्गुष्ठ परिमाण ज्ञाननेत्र है, वहाँ उसका ध्यान करें। उस ज्ञाननेत्र के ध्यान से वाक्सिद्धि होती है। उस ध्यानी पुरुष की वाणी कभी व्यर्थ नहीं जाती; अर्थात् वह जो वचन बोलता है, वह सब सत्य होता है।

मू०– अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रं सूचिकाग्रभेद्यं धूमशिखाकारं ध्यायेत्। तत्र जालन्धरपीठं मोक्षप्रदं भवति॥७॥

सं०–अष्टमं निर्वाणनामकं चक्रम्। अत्र ध्यानेन ब्रह्मप्रकाश्यतेऽतो ब्रह्मरन्ध्रमिति द्वितीयं नाम मोक्षश्च भवति। अतः सार्थकं नाम। इदं चक्रं सहस्रारमूले तत्र कियच्छिद्रमिति जिज्ञासायामाह–सूचिकाग्रमेद्यं सूचिकाग्रमिवभेद्यं प्रवेशमार्गः। इदं जालन्धरबन्धेनोद्घाट्यतेऽतो जालन्धरपीठं साङ्केतिकं वा नाम धूमसदृशं तेजो ध्यायेत्। तत्फलं मोक्षः॥८॥

भा०–आठवें ब्रह्मरन्ध्र में सूई के अग्रभाग के बराबर धूम की शिखा के आकार वाला निर्वाण चक्र है। वहाँ उस निर्वाण चक्र का ध्यान करें। उसके ध्यान से मुक्ति होती है। वहीं पर जालन्धरपीठ है॥८॥

मू०– नवममाकाशचक्रं षोडशदलकमलमूर्ध्वमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकारं तदूर्ध्वशक्तिं तां परमशून्यां ध्यायेत्। तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छा सिद्धिर्भवति। इति नवचक्रस्य विचारः॥९॥

सं० टी०—नवममाकाशनामकं चक्रम्। सहस्रारोपरिभाग ऊर्ध्वमुखं षोडशदलात्मकं कमलं वर्तते। तस्य दले (कर्णिकायाम्) त्रिकूटाकारा त्रिकोणाकारा ऊर्ध्वमुखी शक्तिः निराकारतया सच्चिदानन्दरूपेण ध्येया अनेन सत्यसङ्कल्पो भवति। अत एवास्य पूर्णगिरिपीठसञ्ज्ञा संकेतिता। निखिलैः पदार्थैः परिपूर्णं नगोपममभेद्यत्वात् उच्छ्रितत्वाच्च स्थानमिदमिति सार्थकं नाम। पूर्वचक्रे ध्यानेन संसारभयनिवृत्तिर्भवति। द्वितीये तु सर्वो वशीभूतो भवतीति विशेषः। इति समाप्तः शरीरेऽस्मिन् सारभूतनवचक्राणां विचारः॥९॥

भा०टीका—नवाँ आकाश चक्र है, वह सहस्रदल कमल के ऊपर मध्यभाग में सोलह दल सहित है और उसका मुख ऊपर को है। उसकी मध्य की डंडी में तीन कोण से ऊँची या त्रिकोणाकार उस षोडशदल कमल से ऊपर परम उत्कृष्ट निराकार शक्ति का ध्यान करें। वहाँ ध्यान करने से सब इच्छाएँ सिद्ध होती हैं। उसी का नाम पूर्णगिरि पीठ है। इस पूर्वोक्त रीति से यहाँ तक नौ चक्रों का विचार समाप्त हुआ॥९॥

मू०— अथ षोडशाधारः कथ्यते। तत्र प्रथमं पादाङ्गुष्ठाधारं तत्राग्रतस्तेजोमयं ध्यायेत्। दृष्टिः स्थिरा भवति।

सं०— अथ नवचक्रनिरूपणानन्तरं योगोपयोगिशरीरं निर्मातुं शरीरस्थशक्तीनामाविर्भावार्थं तत्तत् स्थानविशेषांस्तत्र कर्त्तव्यविशेषानानुषङ्गिकत-तत्फलविशेषांश्चोपदिशति। अथ षोडशाधारेत्यादि। तत्र प्रथमं स्थानं पादाङ्गुष्ठनलाग्रं, तत्र तेजोरूपं ध्यायेत् तत्फलं दृष्टेः स्थैर्यम्॥१०॥

भाषा टीका— अब क्रम से सोलह आधारों का निरूपण करते हैं। उन सोलह आधारों में सबसे पहला पादाङ्गुष्ठ आधार है। उसके अग्रभाग में तेजोमय स्वरूप का ध्यान करे। उस ध्यान से दृष्टि स्थिर होती है।॥१०॥

मू०— द्वितीयं मूलाधारसूत्रं वामपार्ष्णिना निःष्पीडयितव्यम्। तत्राग्निदीपनं भवति॥११॥

सं०—द्वितीये मूलाधारनाडी, तस्या नाम पार्ष्णिना मर्द्दनेऽग्नि-दीपनम्॥११॥

भा० टी०–दूसरा मूलाधार है। उसमें जो जीवन है, उसको बाएँ पैर की एड़ी से दबाकर दृढ़ आसन से बैठे॥११॥

मू०– तृतीयं गुदाधारं विकाससङ्कोचनेन निराकुञ्चयेत्। अपानवायुः स्थिरो भवति॥१२॥

सं० टी०–तृतीयं स्थानं गुदामूलम्। तस्य भूयः सङ्कोचविकास-करणेऽपानवायोः स्थिरता॥१२॥

भा०टी०–तीसरा गुदाधार है। वहाँ गुदा के विकास और संकोच से अपान वायु को ऊपर की ओर खींचे। ऐसा करने से अपान वायु स्थिर होता है और इस क्रिया के करने से कुण्डलिनी को जगाने में भी सहायता मिलती है और गुह्यस्थान के समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं॥१२॥

मू०– चतुर्थं मेढ्राधारं लिङ्गसङ्कोचनेन ब्रह्मग्रन्थित्रयं भित्त्वा भ्रमरगुहायां विश्रम्य तत ऊर्ध्वमुखे बिन्दुस्तम्भनं भवति। एषा वज्रौली प्रसिद्धा॥१३॥

सं० टी०–चतुर्थस्थानं लिङ्गमूलं तस्य सङ्कोचकरणेन तत्र संयुक्तनाडी त्रयस्य विश्लेषणं भवति। तेन लिङ्गमध्ये बिन्दु-(वीर्य्य)-गमनमवरुध्यते, तेन आगतमपि परावर्त्तते भ्रमरगुहायां शिरःपृष्ठे शिखामूलादधोवीर्यस्थाने न ततो बहिर्निःसरति। तत ऊर्ध्वमुखे सति बिन्दुस्तम्भनं भवति। एतत्क्रियां विना वस्तुतो वीर्यरक्षणं ब्रह्मचर्यं दुर्लभमेवेत्यतोऽत्रोक्तम्। विशेषतः सत् क्रियाभिज्ञैरेव शिक्षणीयम्। अस्य साङ्केतिकं नाम वज्रोलीति॥१३॥

भाषा टीका–चौथा लिङ्ग आधार है। वहाँ लिङ्ग के संकोच द्वारा योनिमुद्रा की सहायता से वीर्य का ऊर्ध्वसंचार करता हुआ योगी ब्रह्म-विष्णु-रुद्र- इन तीन ग्रन्थियों को भेदन कर मेरुदण्ड के सामने ग्रीवा के उपरि भाग में विद्यमान भ्रमर गुहा में वीर्य की स्थापना करे। तदनन्तर ऊर्ध्वमूख हो जाने से वीर्य का स्तम्भन होता है; अर्थात् वीर्य नीचे को नहीं गिरता। यह क्रिया वज्रौली नाम से प्रसिद्ध है। जिस योगी की यह क्रिया सिद्ध हो जाती है, उसका शरीर वज्र-जैसा मजबूत और कामदेव के समान सुन्दर हो जाता है॥१३॥

मू०– पञ्चममोड्याणाधारयोर्बन्धनान्मलमूत्रसङ्कोचनं भवति॥१४॥

संस्कृत टीका–पञ्चमं स्थानं नाभेरधः लिङ्गादूर्ध्वमुड्याणनामकं तस्य बन्धनेन मूलमूत्रयोः सङ्कोचो (अल्पता) भवति। तदुक्तं (योगशि०उ०)- *"नाभौ लिङ्गस्य मध्ये तु उड्डीयानाख्यं च बन्धयेत्"*॥१४॥

भा० टी०– पञ्चम उड्डीयान और मूलाधार के बन्धन से मल मूत्र का क्षय होता है।॥१४॥

मू०– षष्ठे नाभ्याधार ओङ्कारमेकचित्तेनोच्चारिते नादलयो भवति॥१५॥

संस्कृत टीका–षष्ठं नाभिमूलं तत्रैकाग्रमनसा प्रणवध्यानेन नादलयो जायते। नादो नाम मूलाधारस्थबिन्दुरूपपराशक्तितः समुद्भूतः प्रकाशात्मसूक्ष्मशब्दः। तदुक्तं (यो० शि० ३)- *"मूलाधारगताशक्तिः स्वाधारा बिन्दुरूपिणी। तस्यामुत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजादि वाङ्कुरः। तां पश्यन्तीं बिन्दुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः।"* इति तस्य लयः वृत्त्यभावः स्वकारण-परावाग्रूपेण स्थितिः। तत्फलं दूरश्रवणं तदुक्तं नादे मनोलयं ब्रह्मन् दूरश्रवणकारणम्॥१४॥

भाषा टीका–छठे नाभि आधार में एकाग्रचित्त से ओंकार का उच्चारण करने पर शब्द का लय होता है॥१५॥

मू०– सप्तमे हृदयाधारे प्राणं निरोधयेत् कमलविकासो भवति॥१६॥

सं०टीका–सप्तमं हृदयमूलं तत्र प्राणवायोर्निरोधेन तत्रस्थाष्टदल-कमलं विकसितं भवति॥१६॥

भा०–सातवाँ हृदयाधार है, उसमें प्राण का निरोध करे। ऐसा करने से हृदयकमल का विकास होता है॥१६॥

मू०– अष्टमे कण्ठाधारे कण्ठमूलं चिबुकेन निरोधये-दिडापिङ्गलयोर्वायुः स्थिरोभवति॥१७॥

संस्कृत टीका– अष्टमस्थानं कण्ठमूलं तस्य चिबुकेन बन्धनमयमेव जालन्धरः, तदाह कण्ठं सङ्कोचयेत्किञ्चिद्बन्धो जालन्धरो ह्ययम्। तेनेडापिङ्गलास्थवायुः स्थिरो भवति तथा च कुम्भकसिद्धिः॥१७॥

भाषा टीका–आठवें कण्ठ आधार में कण्ठ मूल को ठोड़ी से निरोध करें; अर्थात् कण्ठ मूल और ठोड़ी को मिलाकर जालन्धर बन्ध करें। इस क्रिया से इड़ा पिङ्गला नाम की सूर्य और चन्द्र नाडी में प्राणवायु स्थिर होता है॥१७॥

मू०– नवमे घटिकाधारे जिह्वाग्रं धारयेदमृतकला स्रवति॥१८॥

संस्कृत टीका–नवमे घण्टिकामूलं तत्र जिह्वाग्रधारणे सहस्रारतः सुधायाः प्रक्षरणं जायते॥१८॥

भा०टी०– नवाँ घण्टिकाधार है। यहाँ मुख के भीतर तालु में लटकने वाले काग का नाम 'घण्टिका' है। उस घण्टिकाधार के मूल में जिह्वा के अग्रभाग को लगावे। उस जगह सहस्रदल कमल में स्थित् चन्द्र-मण्डल से जो अमृतकला टपकती है, उसका पान करे। इसके पान से शरीर रोगरहित हो जाता है॥१८॥

मू०– दशमे ताल्वाधारे ताल्वन्तर्गर्भे लम्बिकां चालन-दोहनाभ्यां दीर्घीं कृत्वा विपरितेन प्रवेशयेत् काष्ठी भवति॥१९॥

संस्कृत टीका–दशमं स्थानं घटिकात ऊद्र्ध्वं तत्र ताल्वभ्यन्तर-स्थितमार्गेण लम्बिकां (जिह्वाम्) चालनदोहनक्रियया दीर्घां विधाय विपरीतरूपेण प्रवेशने खेचरी मुद्रा सम्पद्यते, तेन काष्ठ इव निश्चलो भवति। अयमेव जडसमाधिः कथ्यते, तदाह- कपालकुहरे। जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा। भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी। आचार्यमतेऽयमत्र विशेषः प्रतीयते लम्बिकाया एव दोहनचालने विधाय विपरीता लम्बिकां कृत्वा जिह्वाग्रं धारयेत्। तेनामृतपानं खेचरी फलमपि सिध्यति जडसमाधिरपि भवतीति कलनीयं को विदैरनुभवचुञ्चुभिः॥१९॥

भाषा टीका–दसवाँ तालु आधार कागमूल से ऊपर है। उसके भीतर छिद्र में चालन और दोहन क्रिया से जिह्व को एक बिलस्त लम्बी

बढ़ा उलटाकर प्रवेश करे। इससे वह योगी काठ की तरह निश्चल हो जाता है॥१९॥

मू०– एकादशमथ जिह्वाधारं तत्र जिह्वाग्रं धारयेत् सर्वरोग-नाशो भवति॥२०॥

संस्कृत टीका–एकादशं जिह्वामूलं तत्र जिह्वाग्रधारणे सर्वरोगाद्विमुक्तिः फलम्॥२०॥

भाषा टीका–ग्यारहवाँ जिह्वा आधार है, उस जिह्वामूल में जिह्वा के अग्रभाग को लगावे। इसके परिपक्व अभ्यास से सब रोगों का नाश हो जाता है॥२०॥

मू०– द्वादशं भ्रूमध्याधारं तत्र चन्द्रमण्डलं धारयेत् शीतलतां याति॥२१॥

सं० टी०– द्वादशं भ्रूमध्यं तत्र चन्द्रमण्डलध्यानेन शीतलता लाभः॥२१॥

भाषा टीका–बारहवाँ भ्रूमध्य आधार है। वहाँ निर्मल और सफेदरूप चन्द्रमण्डल का ध्यान करें। उस श्वेतचन्द्रमण्डल के ध्यान से ध्यान करने वाले का अङ्ग शीतल हो जाता है॥२१॥

मू०– त्रयोदशं नासाधारं तस्याग्रं लक्षयेन् मनः स्थिरं भवेत्॥२२॥

संस्कृत टीका–त्रयोदशं नासिकाग्रं तत्रैकाग्रदृष्टौ मनसश्चाञ्चल्य-नाशः॥२२॥

भाषा टीका–तेरहवाँ नासिकाधार है। उसके अग्रभाग में दृष्टि लगाकर ध्यान करे। इस ध्यान के दृढ़ अभ्यास से मन अपने चंचल स्वभाव को छोड़कर स्थिर हो जाता है॥२२॥

मू०– चतुर्दशं नासामूलकं कपाटाधारं तत्र दृष्टिं धारयेत् षण्मासाज्ज्योतिः पुञ्जं पश्यति॥२३॥

संस्कृत टीका–चतुर्दशं नासिकामूलं तत्र दृष्टिधारणे षण्मासेन ज्योतिःपुञ्जदर्शनम्॥२६॥

भाषा टीका–चौदहवाँ नासिकामूल कपाटनाम का आधार है। वहां दृष्टि लगाकर ध्यान करे। इससे छः महीनो में देदीप्यमान तेज मण्डल को साफ साफ देखने लगता है॥२३॥

मू०– पञ्चदशं ललाटाधारं तत्र ज्योतिःपुञ्जं लक्षयेत् तेजस्वी भवति॥२४॥

सं० टी०–पञ्चदशं ललाटमूलं तत्र ज्योतिःपुञ्जध्यानेन तेजस्वी जायते॥२४॥

भाषा टीका–पन्द्रहवाँ ललाट आधार है, उसमें ज्योति मण्डल को लक्ष्य बनाकर ध्यान करे। उस ध्यान से योगाभ्यासी पुरुष तेजस्वी हो जाता है॥२४॥

मू०– अवशिष्टे षोडशे ब्रह्मरन्ध्र आकाशचक्रं तत्र श्रीगुरुचरणाम्बुजयुग्मं सदावलोकयेदाकाशवत्पूर्णो भवति। इति षोडशाधारः॥२५॥

सं० टी०–षोडशं ब्रह्मरन्ध्रं तत्र श्रीगुरुस्वरूपचरणपङ्कजोपाधिविशिष्टं शक्तिसहितादिनाथं सच्चिदानन्दं निरवच्छिन्नं ध्यायेत्। प्रथमं भेदावभासो भवति दृष्टे सति भेदे विलयगते साधकोऽपि परिपूर्णरूपो मुक्तो भवति इति षोडशाधारः॥२५॥

भाषा टीका–अवशिष्ट ब्रह्मरन्ध्र में सोलहवाँ आकाशचक्र है, उस चक्र में आदिनाथरूप श्रीपरमगुरु के चरणकमलों का ध्यान करे। इस ध्यान से अभ्यासी आकाश की तरह पूर्ण व्यापक हो जाता है। इस पूर्वोक्त रीति से सोलह आधारों का व्याख्यान समाप्त हुआ॥२५॥

मू०– अथ लक्ष्यत्रयन्तत्रतावदन्तर्लक्ष्यं कथ्यते। मूलकं दाद्दण्डलग्नां ब्रह्मनाडीं श्वेतवर्णां ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं गतां संस्मरेत्। तन्मध्ये कमलतन्तुनिभां विद्युत्कोटिप्रभामूर्ध्वगामिनीं तां मूर्त्तिम्मनसा ध्यायेत्तत्र सर्वसिद्धिदा भवति॥२६॥

संस्कृत टीका–*राजमार्गेण मनसा स्थिरीकरणोपायो वक्तव्यः, येन सर्वमुखतो मनो निरोध्य शक्तिविशेषं सम्पाद्य स्वेष्टं साधयेत्। यद्यपि*

किमप्यालम्बनमादाय मनो निरोधः सुकरः। अत एव पातञ्जलयोगसूत्रम् उपदिष्टम् यथाभिमतध्यानाद्वेति, तथाप्युद्भूतशक्तिकं स्थानविशेषमालम्बनीकृत्य मनो निरोधो झटिति भवति शक्तिविशेषसम्पादनं च भवतीति निरीक्ष्य तत्तत् स्थानविशेषानुपदिशन्तिस्माचार्याः। अत एव पातञ्जलेऽप्यालम्बन-भेदेन संयमस्य फलभेदान् वर्णयाम्बभूव। तत्र कृत्स्नालम्बनेभ्यो वरीयसी सुषुम्णास्थितकुण्डलिनीं शक्तिं पातञ्जलादिष्वनुक्तप्रकारां ध्यातव्यतयोप-दिशन्ति। ध्रुवमनेनाल्पायासेनैव निखिलफलमाप्तुं शक्नुयुः सकललोकाः। अहो आचार्यपादानामपारकारुण्यम्। तत्रान्तर्बहिर्मध्यभेदेन ध्येयरूपलक्ष्यस्य त्रैविध्यं तत्रापि सर्वतः प्रथममन्तर्लक्षणमाह मूलकन्दातिकन्दो नाम नाभिलिङ्गान्तराले निखिलनाडीनां प्ररोहस्थानम्। तदुक्तं (गो० प०) "श्रीगोरक्षनाथेनैव ऊर्ध्वमेढ्रादधोनाभेः कन्दोयोनिः खगाण्डवत्। तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः॥" तत आरम्भ सहस्रारपयन्तं मेरुदण्डे श्वेतवर्णा ब्रह्मप्रपदनी सुषुम्णा वर्त्तते तन्मध्ये कमलतन्तुसहस्रांशकोमला-विद्युत्पुञ्जनिभां कुण्डलिनीं शक्तिं निखिलजनपावनीं महाकालीमहालक्ष्मीमहा-सरस्वतीस्वरूपां मनसा ध्यायेत्। अनेन धर्मार्थकाममोक्षचतुर्विधपुरुषार्थ-सिद्धिर्जायते॥२६॥

भा० टी०– अब अन्तर, बहिः, मध्य एवं भेद से तीन प्रकार के लक्ष्य (ध्येय) का वर्णन किया जाता है। उनमें भी सबसे पहले अन्तर लक्ष्य का वर्णन करते हैं। लिङ्ग से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे के समान मूलकन्द है, उससे समस्त नाड़ियों का प्रादुर्भाव होता है। उसी मूलकन्द से उत्पन्न हुई और मूलचक्र से होकर सुमेरुदण्ड में लगी हुई ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जो श्वेत वर्ण ब्रह्मनाडी है, उसका ध्यान करे। उसी सुषुम्णा के मध्य में कमलतन्तु के समान करोड़ों बिजलियों की चमक के सदृश प्रकाश वाली मूलाधार में स्थित शिवलिङ्ग को छोड़कर ऊपर सहस्र दल में विराजमान शिवराजधानी को जाने वाली उस मूर्तिस्वरूप कुण्डलिनी शक्ति का शुद्ध मन से ध्यान करे। इस ध्यान से प्रसन्न हुई कुण्डलिनी शक्ति सब सिद्धियों को देती है॥२६॥

मू०– अथवा ललाटोर्ध्वे गोल्लाटमण्डपे स्फुरदाकारं लक्षयेदथवा भ्रमरगुहामध्य आरक्तभ्रमराकारं लक्षयेदथवा

कर्णद्वयं तर्जनीभ्यां निरोधयेत् ततः शिरोमध्ये धून्धूङ्कारं नादं शृणोत्यथवा चक्षुर्मध्ये नीलज्योतीरूपं पुतल्याकारं लक्षये-दित्यन्तर्लक्ष्यम्॥२५॥

संस्कृत टीका– रुचीनां बुद्धीनां वा वैचित्र्यादेकेन सुलभस्याप्यु-पायस्येतरेण दौर्लभ्यता विलोक्यते लोक इत्यालोच्य ध्येयविकल्पमाह-अथवेत्यादि। अत एव एतष्वेक एव ध्येयो न तु सर्वे तत्रापि प्रथमत्यागे मानाभावात्तदशक्तेनैव द्वितीयमवलम्बनीयमित्यथवा शब्देन स्पष्टं प्रतीयते। गोल्लाटः कपालमध्यस्थितः भागः। भ्रमरो नाम शिखासूचादधोभागे संस्थितं वीर्यस्थानम् इति योगिजनप्रसिद्धम्। अन्यत् सकलं निगदव्याख्यातं मूलम्॥२७॥

भाषा टीका– अथवा गोल्लाट नाम का जो मस्तक का ऊपर का भाग है, उसके चल आकार का ध्यान करे; या मेरुदण्ड के सम्मुख ग्रीवा से ऊपर भ्रमर गुफा में चारों और से लाल वर्ण भ्रमर के आकार का ध्यान करे। अथवा दोनों कर्ण छिद्रों को हाथों की तर्जनी अङ्गुलियों से रोके उसके बाद शिर में 'धूं-धूं' शब्द सुनाई देता है; अथवा नेत्रों में नीली ज्योति वाली पुतनी के आकार का ध्यान करे। इस तरह उपर्युक्त प्रकार से अन्तर्लक्ष्य का वर्णन हुआ॥२७॥

मू०– बहिर्लक्ष्यं कथ्यते–नासाग्राद्बहिरङ्गुलद्वयमारक्तं तेजस्तत्त्वं लक्षयेदथवा दशाङ्गुले कल्लोलवदप्तत्त्वं लक्षयेदथवा नासाग्राद्वा दशाङ्गुले पीतवर्णं पार्थिवतत्त्वं लक्षयेदथवाऽऽकाशमुखं दृष्ट्वाऽवलोकयेत्। किरणानाकुलितं पश्यति सर्वं निर्मनीकरणमथवोर्ध्वदृष्ट्यन्तरालं लक्षयेज्ज-ज्ज्योतिर्मुखानि पश्यत्यथवा तदभ्यन्तरं तत्र तत्राकाशं लक्षयेदाकाशसदृशचित्तं मुक्तिप्रदं भवत्यथवा दृष्ट्यन्तस्तप्त-काञ्चनसन्निभां भूमिं लक्षयेद् दृष्टिः स्थिराभवति। इत्यनेकविध बहिर्लक्ष्यम्॥२८॥

सं०–यथा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयस्तिस्रोऽवस्थाः, तथा ध्यानान्यपि त्रिविधानि भवन्ति स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतमानि। जाग्रत् सुषुप्तिः, तयोः सन्धिः स्वप्न एवमन्तवहिश्चतयोः सन्धिमध्यमं तत्र प्रथमभ्यर्हितत्वात्। सूक्ष्मतम-

मभिधाय सूक्ष्मरूपबहिर्लक्ष्यमभिधत्ते, मध्यमं तूभयोः संमिश्रणतयाऽन्ते उपदेक्ष्यते। तत्र नासिकातो बहिरङ्गुलिपरिमितदेशे तेजो ध्यायेत्। अत्राप्यथवाशब्देन वैकल्पिकत्वमेवोच्यते पूर्ववदेवानुसन्धेयम्। अथवा दशाङ्गुलोर्ध्वजलतत्त्वम् अथवा दशाङ्गुलिपरिमितां पीतां पृथ्वीमथवा आकाशं कियत्कालम्। अत आह यावत् किरणैर्व्याप्तं दृष्टिपथं नावपतेत्। अनेन भूतानि निर्मलानि भवन्ति। इतरत् सुगममित्यनेकविधम्॥२८॥

भा० टी०–अब बहिर्लक्ष्य का निरूपण करते हैं। नाक के अग्रभाग से दो अङ्गुल आगे लाल वर्ण तेजतत्त्व का ध्यान करे। अथवा नासिका से दश अङ्गुल आगे तरङ्गयुक्त श्वेत वर्ण जलतत्त्व का ध्यान करे। या नासिका के अग्रभाग से बारह अङ्गुल आगे पीतवर्ण पार्थिवतत्त्व का ध्यान करे। या आकाश के सम्मुख देखकर स्थिर दृष्टि से आकाश का ध्यान करे। इस प्रकार ध्यान करने से चित्त एकाग्र और निर्मल होता है। अथवा ऊपर को मुँह कर जहाँ तक दृष्टि पहुँच सके, उसके मध्य भागों को लक्ष्य बना कर ध्यान करे। उस ध्यान के प्रभाव से उस ध्येय मध्य दिशा में ज्योतिः पुंज को देखता है। या जहाँ तहाँ दृष्टि स्थिर हो वहाँ सर्वत्र आकाश का ध्यान करे। इस ध्यान की महिमा से चित्त आकाश की तरह निर्मल और व्यापक हो जाता है। ऐसा चित्त ही मुक्ति का साधन होता है या जहाँ दृष्टि का अन्त हो, वहाँ सुवर्ण सदृश पीतवर्ण भूमि का ध्यान करे। ऐसा करने से दृष्टि स्थिर हाती है। इस उपर्युक्त रीति से अनेक प्रकार का बहिर्लक्ष्य होता है॥२८॥

मू०– अथ मध्यमं लक्ष्यं कथ्यते–श्वेतवर्णं वा रक्तवर्णं वा कृष्णवर्णं वाऽग्निशिखाकारं वा ज्योतीरूपं वा विद्युदाकारं वा सूर्यमण्डलाकारं वाऽर्धचन्द्राकारं वा यथेष्टं स्वपिण्डमात्रं स्थानं वर्जितं मनसा लक्षयेदित्यनेकविधं मध्यमं लक्ष्यम्॥२९॥

सं०–अथ मध्यमं लक्ष्यं मध्यमत्वं चास्य शरीरे बहिर्वा नियतस्थान-रहितत्वमयमाशयः, बहिर्लक्ष्ये बाह्ये नियतं स्थानं दशागुलादिपरिमितं पूर्वमुक्तम्। अन्तर्लक्ष्ये च शरीराभ्यन्तरे कुण्डल्यादिनियतं स्थानमुक्तम्-अत्र तु स्थानवर्जितमित्युच्यते तेन नियतस्थानरहितत्वमेव मध्यमत्वं न तु रूपाकाररहित्वमत एव रूपविशेषानाकारविशेषांश्च दर्शयति-श्वेतवर्णेत्यादि।

प्रधानतस्त्रीण्येव रूपाणि वर्णितानि श्वेतरक्तकृष्णानि छान्दोग्यश्रुतौ। आकारविशेषानुपदिशति– अग्निशिखाकारमित्यादि। अनेन लक्ष्यत्रयोपदेशेन सर्वेषां समाहितावस्थां विहाय मूर्त्तिपूजनमावश्यकमिति स्पष्टं प्रतीयते स्वरूपावस्थानन्तु लक्ष्यमेव, न तु साधनम्। तथा च साधनावस्थायां साधकः सांसारिकोच्चावचना नाविषयभोगेषु व्यासक्तं मनोनियतस्थानेष्वनिरुध्य नात्मस्वरूपे द्रागवस्थापयितुं शक्नोति। अतो मनो निरोधाय नियतस्थान-मवश्यमपेक्ष्यते। अनियतस्थानावलम्बने हि चित्तं विक्षिप्तं भवति, ततश्च कुतो मनो निग्रहः? कुतो वा परमेश्वरप्रसादस्तदा चात्मस्वरूपासम्पादनाशा-सिकताभ्यस्तैलनिःसारणसमैव। अतो निःश्रेयसाभ्युदयार्थिभिः शक्तिविशेषशालिषु मूलोक्तस्थानविशेषेषु मनोनिग्रहो विधेयः। तत्र परमेश्वरार्चनभक्त्यादौ च कृते झटिति परमेश्वरप्राप्तद्वारेष्टसिद्धिर्ध्रुवमिति तत्रस्वान्तर्निमितमन्दिरे स्वस्यै-वोपकारः, बाह्यमन्दिरनिर्माणे तु समेषामापामरमुपकार इत्यहो करुणपरायण-ताऽऽचार्यचरणानामयमेव सुपन्थाः सनातनः परमेश्वरोपदिष्टो वैदिकश्च सिद्धैरनुमोदितत्वात्। अन्ये सर्वेऽवैदिका इति कृतबुद्धयो विदां कुर्वन्तु॥२९॥

भा० टी०–अब मध्य लक्ष्य का निरूपण करते हैं। वह ध्येयरूप देह श्वेत वर्ण हो, रक्त वर्ण हो वा काला वर्ण अथवा अग्नि शिखाकार वा ज्योतिरूप या बीजली के आकार वाला वा सूर्यमण्डल के आकार वाला अथवा आधे चन्द्रमा के समान हो यथारुचि स्थान विशेष से रहित पिण्डमात्र को ध्येय बनाकर मन से ध्यान करे। इस रीति से अनेक प्रकार का मध्यलक्ष्य होता है॥२९॥

मू०– अथ व्योमपञ्चकं लक्षयेदाकाशं पराकाशं महाकाशं तत्त्वाकाशं सूर्याकाशमितिव्योमपञ्चकम्। बाह्याभ्यन्तरेऽत्यन्त-निर्मलं निराकारमाकाशं लक्षयेदथवा बाह्याभ्यन्तरेऽत्यन्तान्ध-कारनिभं पराकाशमवलोकयेदथवाभ्यन्तर अभ्यन्तरकालानल-सङ्काशं महाकाशमवलोकयेदथवा बाह्याभ्यन्तरे सूर्यकोटिनिभं सूर्याकाशमवलोकयेत्। स्वयं व्योमपञ्चकावलोकनेन व्योमसदृशो भवति॥३०॥

सं० टी०–सूक्ष्मधियां मनसस्थैर्याकाशं लक्ष्यं कर्तव्यं तेन चित्तमपि निराकारं भवति तत्फलञ्चतत्सदृशभावः। तत्रैकस्याप्याकाशस्योपाधिभेदाद्

भेदविधाय पञ्चविधत्वमुपदिशत्याकाशपराकाशमित्यादि। उपाधिभेदञ्च प्रदर्शयति-बाह्याभ्यन्तर इत्यादि॥३०॥

भा०टी०—आत्मा का स्वरूप व्यापक है। अब उस स्वाभाविक व्यापक आत्मा के स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये ध्येयरूप पाँच आकाशों का ध्यान करना चाहिये। अतः उनका निरूपण करते हैं। आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश, सूर्याकाश- ये पाँच आकाश हैं। शरीर के बाहर और भीतर अत्यन्त अन्धकारमय पराकाश का ध्यान करे; अथवा बाहर या भीतर तवे के सदृश काले महाकाश का ध्यान करे; या बाहर और भीतर निज आत्मतत्त्वस्वरूप तत्त्वाकाश का ध्यान करे; अथवा बाहर भीतर करोड़ों सूर्यों के सदृश सूर्याकाश का ध्यान करे। इस रीति से पाँच आकाशों का ध्यान करने वाला अभ्यासी आकाश के सदृश व्यापक हो जाता है॥३०॥

मू०— उक्तं च,

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः॥३१॥

सं० टी०—अत्रत्य सकलप्रघट्टकार्थं संक्षिप्यैकेन श्लोकेनानुवदति नवचक्रमित्यादि। मूलाधारमारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं नवचक्रं कलापदेन षोडश-ग्रहणं तेन पादाङ्गुष्ठमारभ्य पूर्वोक्तं षोडशाधारं प्रागुक्तं त्रिलक्ष्यमाकाश-पञ्चकमेतेषां ज्ञानं परमावश्यकं योगिनामन्यथा योगिसञ्ज्ञैव व्यर्था स्यादित्यनुकोशन्ति॥३१॥

भा० टी०—ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठान (लिङ्गचक्र) मणिपूर (नाभिचक्र), अनाहत (हृदय), विशुद्ध (कण्ठ), आज्ञा (भ्रू), तालुनिर्वाण, आकाश- इन नौ चक्रों को तथा सत्रह कला चन्द्रमा की, तेरह कला सूर्य की, ग्यारह कला अग्नि की, इन इकतालीस कलाओं को एवं पादाङ्गष्ठ, मूलाधार, गुदाधार, मेढ्र, ओड्याण नाभि, हृदय, कण्ठ घण्टिका, तालु, जिह्वा, भ्रूमध्य, नासिका, नासिकामूल, ललाट और ब्रह्मरन्ध्र- इन सोलह आधारों को तथा बाहर भीतर और मध्य- इन तीन लक्ष्यों को एवं आकाश, पराकाश, महाकाश तत्त्वाकाश, सूर्याकाश इन पाँच आकाशों को जो योगी उपर्युक्त रीति से अच्छी प्रकार नहीं जानता, वह केवल नाममात्र का योगी है॥३१॥

अथाष्टाङ्गयोगः कथ्यते–

मू०– यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि। यम इति उपशमः सर्वेन्द्रियजय आहारनिद्राशीतवातातपजयश्चैवं शनैः शनैः साधयेत्॥३२॥

सं० टी०–अष्टाङ्गयोगस्य प्रथमाङ्गमिन्द्रियाणां स्वविषयेभ्य उपशमः निवृत्तिः कर्तव्यः इति शेषः। तस्य फलमाह–सर्वेन्द्रियजय इति ज्ञानेन्द्रियाणि न विषयासङ्गं विदधति। बुभुक्षा विपासा निद्राशीतवातजबाधा च न भवति। अत्र त्वरा न कार्या॥३२॥

भा० टी०–अब अष्टाङ्गयोग का वर्णन करते हैं। अङ्गीभूत उस योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान- ये आठ अङ्ग हैं। नीचे सब का यथावसर वर्णन करते हैं।

अपने अपने विषयों से सब इन्द्रियों को हटाकर शान्ति प्राप्त करने को **यम** कहते हैं॥३२॥

मू०– नियम इति मनोवृत्तीनां नियमनमित्येकान्तवासो निःसङ्गतौदासीन्यं यथाप्राप्तिसन्तुष्टिर्वैरस्यं गुरुचरणा-वरूढत्वमिति नियमलक्षणम्॥३३॥

सं० टी०–मनोव्यापारस्य निरोध एव नियमो द्वितीयाङ्गन्तस्यैवः। कः प्रतिकार इति जिज्ञासायामाहैकान्तवास इति अरण्यनगकन्दरादौ वा योगिमण्डले वासो न तु प्राकृतजनेषु केनापि सह सम्बन्धाभिमानो न कर्तव्यस्तेन रागो न भवेत्। सत्यपराधे तत्प्रतीकाराय न कश्चित्प्रयत्नो विधेयस्तेन द्वेषो न भवति (वैरस्यम्) स्वादुभक्षणसक्तिः परिहेया। ननु *"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"* इति कथं स्थातव्यमिति सन्देहं छिनत्ति गुर्विति श्रीगुरुचरणसेवैव परमधर्मः, नास्ति तत्त्वं गुरोः परमजीवनोपायमाह यथाप्राप्तीति नियमलक्षणम्॥३३॥

भा० टी०– मन की समस्त वृत्तियों का नियन्त्रण करना अर्थात् जिन-जिन विषयों की ओर मन जाय, उन सब विषयों में दोष देखकर मन को रोकना तथा एकान्तवास त्यागी रहना; अर्थात् किसी प्रकार के भोग्य विषय में आसक्त न होना, मित्र और शत्रु में भी राग द्वेष न करना

तथा शरीरनिर्वाह के लिये जैसा भी भोजन-वस्त्र मिल जाय; उसी में सन्तुष्ट रहना, मधुरादि रसों में प्रेम न करना और निज गुरु के चरणों में दृढ़ भक्ति होना **नियम** का लक्षण है। 'विवेकमार्तण्ड' में यद्यपि दश यम और दश नियम कहे हैं, तथापि उनका क्रम से यम और नियम में ही समावेश हो जाता है। फर्क केवल इतना ही है कि इस पुस्तक में सूत्रवाक्यों (संक्षेप) से निरूपण किया है और 'विवेकमार्तण्ड' में विस्तार से अलग-अलग वर्णन किया है :

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्री मतिश्च जपो हुतम्॥
नियमा दश सम्प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः।

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, ब्रह्मचारी रहना, क्षमा, धीरता, दया, सरल स्वभाव, परिमित भोाजन, और पवित्रता- ये दश यम कहलाते हैं। तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर का पूजन, योगसिद्धान्त के बताने वाले वाक्यों का सुनना, जिस काम के करने से लोक में निन्दा हो उस काम से बचना, सत्यासत्य का विचार ॐ-आदि मन्त्रों का जप और हवन- ये दश नियम योगशास्त्र के ज्ञाता मानते हैं॥३३॥

मू०- आसनमिति स्वस्वरूपे समासन्नता स्वस्तिकासनं पद्मासनं सिद्धासनमेतेषां मध्ये यथेष्टमेकं विधाय सावधानेन स्थातव्यम् इत्यासनलक्षणम्॥३४॥

सं० टी०- अथासनं स्वस्वरूपे चिन्मात्रे चेतसः स्थापनमुख्य-मिदमेव तदर्थं स्वस्तिकादीनामेकं किमपि स्वसौकर्यानुकूलं गुरुतो विज्ञाय कर्तव्यम्। तत्र सावधानतया स्थातव्यमिति स्वलक्ष्यं विहाय नान्यत्र मनो-निर्गमनमर्थः। एतेषां लक्षणानि स्वयमेव दर्शितानि सव्यमाकुञ्चितं चरणं दक्षिणो जङ्घान्तराले दक्षिणं चाकुञ्चितं वामोरुजङ्घान्तरे निक्षिपेत्। तत् स्वस्तिकासनम् तदाह (ह० यो०)

जानूर्वोरंतरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते॥

वामोरूपरिदक्षिणञ्च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरिपश्चिमेन विधिना कृत्वा कराभ्यां दृढम्॥

अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशकारियमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत्॥३४॥

भा० टी०– आसन– सदा स्वस्वरूप चेतनमात्र आत्मा में स्थित हो जाने को 'आसन' कहते हैं। इस असली आसन की सिद्धि के लिये ही व्यावहारिक आसानों की भी जरूरत होती है। वे आसन यद्यपि अनन्त हैं; तथापि उनमें स्वस्तिकासन, पद्मासन और सिद्धासन- ये तीनों योगसाधन के लिये अत्यन्त उपकारक हैं। इनमें से जिसको जो अच्छा लगे, उसी का अभ्यास कर सावधानीपूर्वक उसी आसन से बैठे- यह आसन का लक्षण है। जिसको और आसनों की जिज्ञासा हो वह 'योगसोपान' नामक पुस्तक में देख ले। पाठकों के ज्ञान के लिये उपर्युक्त तीनों आसनों के लगाने की विधि लिखी जाती है :

स्वस्तिकासन–घुटने और जंघाओं के बीच दोनों पैरों के तलुओं को लगाकर सावधानी से बैठना। यही स्वस्तिकासन कहा जाता है।

पद्मासन–बाई जांघ पर दाहिने पैर को अच्छी प्रकार रक्खे। फिर इसी तरह दाहिनी जांघ पर बाँए पैर को रक्खें और कमर के पीछे से हाथों को लाकर दाहिने हाथ से दाहिने और बाएँ हाथ से बाएँ पैर के अंगूठे को दृढ़ता से पकड़े और ठोडी को हृदय में लगाकर नाक के अग्रभाग को देखें। यह समस्त रोगों के नाश करने वाला पद्मासन कहलाता है।

सिद्धासन–गुदा और लिङ्ग का मध्यभाग जो 'योनिस्थान' कहलाता है, उससे बाएँ चरण की एडी को मिलाकर दाहिने पैर को दृढ़ता से लिङ्ग इन्द्रिय के ऊपर रक्खे तथा ठोढ़ी को भली प्रकार हृदय में स्थिर कर अचल दृष्टि से भ्रुकुटि के मध्यभाग को देखें। यह मोक्षकपाट को

खोलने वाला सिद्धासन कहा जाता है। उपर्युक्त इन आसनों कों गुरु के द्वारा ही सीखे।

मू०– प्राणयाम इति प्राणस्य स्थिरता। रेचकपूरककुम्भक-सङ्घटकरणानि चत्वारि प्राणायामलक्षणानि॥३५॥

सं० टी०–प्राणवायोः स्थैर्यकरणं प्राणायाम इति कथ्यते। स च चतुर्विधः। रेचकः कुक्षिस्थवायोर्बहिर्निःसारणम्। पूरको बाह्यवायोराकृष्यं देहाभ्यन्तरेऽवस्थापनम्। कुम्भक उभयगतिनिरोधः सङ्घटकरणं सर्वेषां मेलनं केवलकुम्भकम्, षोडशचतुष्षष्ठिद्वात्रिंशन्मात्राभिः पूरकादिभवतीतिग्रन्थान्तरे द्रष्टव्यम्॥३५॥

भा० टी०–प्राणयाम–अब योग के चौथे अङ्ग प्राणायाम का वर्णन करते हैं। प्राणायाम प्राणों की स्थिरता के लिये करना चाहिये; क्योंकि हर समय इडा पिङ्गला नाम की नाडियों में प्राणों की स्थूल गति होती रहती है। किन्तु प्राण की सूक्ष्म अवस्था बनाने तथा सुषुम्णा नाडी में संचार करने के लिये रेचक, पूरक, कुम्भक और संघट करण अर्थात् वायुओं को योगक्रिया की सहायता से प्राणायाम के द्वारा परस्पर मिलाना– ये चार प्राणायाम के प्रकट हैं। पूरक प्राणायाम द्वारा शरीर में भरे हुए प्राणवायु को धीरे-धीरे बाहर निकालने को रेचक और बाहर के वायु से शान्तचित्त होकर मन्द-मन्द गति से उदर पूर्ण करने को 'पूरक' तथा उदर में पूरित वायु को कुम्भक (घड़े) की तरह धारणकर निश्चल रखने को 'कुम्भक' प्राणायाम कहते हैं। तथा योगक्रिया के कौशल द्वारा प्राण और अपान वायु को आपस में मिला देने या अकस्मात् प्राणगति का विच्छेद करने को 'संघटकरण' प्राणायाम कहते हैं। यही चार प्रकार के प्राणायाम का लक्षण है।

प्राणायाम की विधि–योगी सबसे पहले समतल भूमि में कुशादि आसन बिछाकर ऊपर वस्त्र बिछाए। उसपर बिद्ध पद्मासन या सिद्धासन से बैठकर अपने गुरु, शिव तथा योग के आचार्य श्रीमत्स्येन्द्रनाथ-आदि को प्रणाम कर भ्रूमध्य में दृष्टि लगा प्राणायाम प्रारम्भ करे। पहले नासिका के दाहिने छिद्र को अङ्गूठे से बन्दकर नाक के बाएँ छिद्र धीरे-धीरे यथाशक्ति वायु को भीतर भरे। तदनन्तर दूसरे नासिकापुट को भी उसी हाथ ही तर्जनी अङ्गुलि से बन्दकर यथाशक्ति प्राण को शरीर

में धारण करे। पश्चात् अंगूठें को सहज में हटाकर धीरे-धीरे वायु को निकाले। इसी प्रकार सूर्यस्वर में वायु को पूर्ण करके युक्ति-युक्त और यथाशक्ति धारणकर चन्द्रस्वर से रेचन करे; अर्थात् निकाले। इसी क्रम से बार-बार अभ्यास करे; अर्थात् एक ओंकार के उच्चारणकाल को मात्रा कहते हैं। अतः जितनी देर तक बारह ओंकारों का स्वाभाविक उच्चारण हो, तब तक पूरक करे तथा सोलह ओंकारों के उच्चारण काल तक, कुम्भक और दश ओंकारों के उच्चारण तक रेचक होता है। ये तीनों मिलकर साधारण प्राणायाम होता है। यही जब द्विगुण मात्रा में होता है तब 'मध्यम प्राणायाम' कहलाता है और त्रिगुण होने से 'उत्तम प्राणयाम' कहा जाता है।

कनिष्ठ	प्रा०	पू० १२	कु० २६।	रे०१०
मध्यम	प्रा०	पू० २४	कु० ३२	रे०२०
उत्तर	प्रा०	पू० ३६।	कु० ४८	रे० ३०

प्रथम प्राणायाम से शरीर में पसीना आता है। मध्यम में कम्पन होता है और जब उत्तम प्राणायाम होता है, जब उस अभ्यासी का आसन ऊपर ऊठने लगता है और जिस पुरुष के शरीर में कफादि दोषों की अधिकता हो, वह पहले नेती-धौती आदि षट्कर्म को करे। उसके बाद उसको भी सहज में ही प्राणायाम सिद्ध हो जाता है। इसके उपरान्त केवल कुम्भक का भी अभ्यास करे। प्राणायाम बहुत उत्तम है। इससे मृत्यु को भी जीत सकता है। इसीलिये ब्रह्मादि देवताओं ने भी यथावत इसका सेवन किया है। इसके बराबर न कोई तप, न दान, न तीर्थ और न यज्ञ है। किन्तु पापरूप इन्धन के लिये तो यह उद्दीप्त अग्निज्वाला के समान है और अनेक काम क्रोध-लोभ-मोह-अहङ्कार-आदि दुष्टग्राह से व्याप्त संसारसागर से पार होने के लिये महासेतु के समान है॥६५॥

मू०–प्रत्याहारमिति चैतन्यतुरङ्गाणां प्रत्याहरणं विकारग्रसनम् उत्पन्नविकारस्यापि निवृत्तिर्निर्भातीति प्रत्याहारलक्षणम्॥३६॥

सं० टी०– चैतन्यस्य आत्मनस्तुरङ्गगा अश्वा इवेन्द्रियाणि बृहदारण्यक श्रुतावपि *'युक्तावै हरयो दशवै शतानि'* हरिरत्राश्वः, तेनात्मप्रकरण इन्द्रियाणां ग्रहणमिन्द्रियाणि हयानाहुरिति रूपकोपन्यासात्, तेषां स्वस्वविषयेभ्यः

प्रत्याहरणं तत्फलं विकारग्रसने विषयविलोचनेऽपि विकाराऽप्राप्तिरपि-शब्दादुत्पन्नविकारस्य न निवृत्तिश्चेति॥३६॥

भा०टी० प्रत्याहार—अब योग के प्रत्याहार नामक पञ्चम अङ्ग का निरूपण किया जाता है। देहरूपी रथ के स्वामी चैतन्य आत्मा की अश्व-(घोड़ा)-रूप इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति स्वभाव से सिद्ध है। उन इन्द्रियों को विषयों से हटाकर आत्मा में लगाना ही 'प्रत्याहार' कहा जाता है।३६॥

मू०— धारणेति साबाह्याभ्यन्तर एकमेव निजतत्त्व-स्वरूपमेवान्तःकरणेन साधयेत् यथा यद्यदुत्पद्यते तत्तन्निराकारे धारयेत् स्वात्मानं निर्वातदीपमिव सन्धारयेदिति धारणा-लक्षणम्॥३७॥

सं० टी०—बाह्याभ्यन्तरे सर्वत्रैकमेवात्मतत्त्वं चित्स्वरूपं शुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभावं वर्तत इति मनसा विचिन्तयेत् यो यो मनसो व्यापारः समुज्जृम्भते तत्सर्वं निराकारे लीनं कुर्यात् वातरहितदीपनिश्चलप्रकाशसम आत्मा चिन्तनीयो वा तत्समं मनः कुर्यात्॥३७॥

भा० टी० धारणा—अब योग के छठे अङ्ग धारण को कहते हैं। शरीर से बाहर और भीतर सब जगह एक ही आत्मा व्यापकरूप से विद्यमान है। ऐसा मानसिक भावना करे और जो जैसा जितना भूत भौतिक प्रपञ्च उत्पन्न होता है, उस सबको निजआत्मरूप निराकार में ही धारण करे कि यह सब प्रपञ्चसमुद्र के तरङ्ग के सदृश ब्रह्म में ही कल्पित है। तथा उसपर ब्रह्म से अभिन्न आत्मा की वायुरहित दीप के समान निश्चल चित्प्रकाश रूप से ध्यान करे। यह धारणा का लक्षण है। इसका विशेष प्रकार निम्नलिखित जानना :

१—अधिष्ठातृदेवता ब्रह्म और लं-बीज से युक्त हरिताल और सुवर्ण-जैसा पीतवर्ण कण्ठ में स्थित चतुष्कोणाकारपृथ्वी तत्त्व विद्यमान है। वहाँ चित्सहित प्राणों का विलयकर पाँच घड़ी पर्यन्त धारणा करे-यह 'पृथ्वी धारणा' है। इस धारणा के प्रभाव से पृथ्वीतत्त्व को स्वाधीन करने से सब वस्तुओं का स्तम्भन करने की सामर्थ्य होती है; अर्थात्

पृथ्वी उसके संकल्पानुसार होती है। और पृथ्वी तत्त्व से वह नष्ट नहीं हो सकता।

२–अर्धचन्द्रकार कुन्द पुष्प के सदृश सफेद तथा अमृतरूप व बीज और अधिष्ठाता विष्णुदेवता सहित कण्ठ में जलतत्त्व विराजमान है। वहाँ पाँच घड़ी तक चित्तसहित प्राण को विलीनकर धारणा (ध्यान) करे। यह अति दारुण कालकूट विष को भी जीर्ण करने वाली 'वारुणी धारणा' है। इसके तत्तत् अभ्यास से जलतत्त्व वशवर्ती हो संकल्पानुकूल कार्य करता है।

३–प्रवाल-(मूंगा)-जैसा चमकीला रक्त वर्ण तेजोरूप रं-बीज और रुद्र के सहित इन्द्रगोप (तींज) समान तालु में स्थित त्रिकोणाकार अग्नितत्त्व है। वहाँ चित्तसहित प्राण की विलीन करता हुआ तन्मय हो धारणा करे। यह 'वैश्वानरी (अग्नि) धारण' है। यह अग्नितत्त्व का जय करती है। इसके अभ्यास से योगी अग्नितत्त्व को वश में कर लेता है। अग्नि से उसका दाह नहीं होता और अग्नि उसके संकल्पानुसार होता है।

४–सूक्ष्म कज्जलपुञ्ज के समान गोल यं-(वायु)-बीज और अधिष्ठाता ईश्वरदेवता सहित भ्रू के मध्य में वायुतत्त्व है। उस वायुतत्त्व में चित्तसहित प्राण को विलयकर पाँच घड़ी पर्यन्त तन्मय हो ध्यान करे। यह 'वायवी-(वायु की)-धारण' योगी को आकाश में गमन कराती है।

५–ब्रह्मरन्ध्र में ओम् रूपी नाद तथा अधिष्ठाता सदाशिव और हं-बीज के सहित अत्यन्त निर्मल नीलवर्ण जल के समान वर्तुलाकार आकाश तत्त्व है। वहाँ उस तत्त्व में चित्सहित प्राणों को विलीन कर स्वयं भी तन्मय हो पाँच घड़ी पर्यन्त धारण करे। यह मोक्षकपाट (द्वार) के खोलने में प्रवीण 'आकाश धारणा' कहलाती है; अर्थात् आकाश तत्त्व साधक के स्वाधीन होता है और साधक आकाशवत् पूर्ण व्यापक हो जाता है। पूर्वोक्त पाँच धारणाओं के साधन से स्तम्भन द्रावण दाह घुमाना और शोषण करने की अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न होती है; अर्थात् पृथ्वी की धारणा से सकल चराचर वस्तुओं को स्तम्भन जल धारणा से सब वस्तुओं को द्रवण (पिंघलाना), अग्नि धारणा से दाह, वायु धारणा से घुमाने और

आकाश धारणा से शोषण करने की सामर्थ्य होती है। जैसे–

स्तम्भनी द्राविणी चैव दाहिनी भ्रामिणी तथा।
शोषणी च भवत्येषा भूतानां पञ्चधारणा॥

वि०मा०॥ ३७ गो०प०॥

मू०– अथ ध्यानमिति कश्चन परमाद्वैतस्य भावः, स एवात्मेति यथा यद्यत्स्फुरति तत्तत्स्वरूपमेवेति भावयेत् सर्वभूतेषु समदृष्टिश्च इति ध्यानलक्षणम्॥३८॥

सं० टी०–अखण्डसच्चिदानन्दो द्वैतरहितः परमात्माऽस्ति स एवास्माकमात्मा। किंच– यथा येन प्रकारेण घटत्वादिरूपेण यद्यद्घटादयो भासन्ते, तत्सर्वं स्वरूपमेवात्मैव। केनाऽपि सह भेदो नास्ति तमित्थं भावयेद् भावना कुर्यात्। श्रुतिरप्याह– *'नेह नानास्ति किञ्चन', 'आत्मैवेदं सर्वम्', 'तत्सत्यं स आत्मा', 'तत्त्वमसि', 'इदं सर्वं यदयमात्मा यो हि अन्यां देवतामुपास्ते', 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति, 'न स वेदपशुरेव स देवानाम्'* इत्यादि भेदनिन्दापूर्वकाभेदभावनाया वरीयस्त्वम्, तेन वास्तविकोऽभेदः प्रतिपाद्यते। न तु कल्पितोऽन्यथा कल्पितबोधकतया वेदस्याप्रामाण्यं प्रसज्येत। किञ्च– कल्पितविषयज्ञानस्यायथार्थतया तेन तत्त्वज्ञानलभ्यमोक्षप्राप्त्याशैव दुर्लभा स्यात्। अतः सिद्धमद्वैतमेव तत्त्वं सर्वभूतेषु समदृष्टिः, एकैवात्मा सर्वभूतेषु श्रुतिरपि– *"सर्वभूतेषु चात्मनं सर्वभूतानि चात्मनि"* इति ध्यानम्॥३८॥

भा० टी० ध्यान– अब ध्यान को बताते हैं। जिसका नाम रूप से निर्देश न किया जाय, ऐसा जो सर्वान्तर्यामी व्यापक अद्वैत ब्रह्म है। उसी की जो सब जगह व्यापक चिद्रूप सत्ता है। बस यही सबका व्यापकरूप आत्मा है। मुझ तथा उस व्यापक आत्मा में औपाधिक सम्बन्ध को छोड़कर कुछ भी भेद नहीं है। अतः जो-जो वस्तु जैसे प्रतीत हो उसको सब जगह आत्मरूप जानकर यह भावना करे कि यह भी मेरा ही आत्मा है और ब्रह्मा से लेकर चीटी पर्यन्त सब प्राणियों में समदर्शी हो– यह 'ध्यान' का लक्षण है।३८॥

मू०– अथ समाधिलक्षणं सर्वतत्त्वानां समावस्था निरूद्यमत्त्वमनयासंस्थितिमत्त्वमिति समाधिलक्षणम्। इष्टष्टाङ्ग–

योगलक्षणम्॥३९॥

इति श्रीशिवावतारयोगाचार्यश्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्ध-सिद्धान्तपद्धतौ पिण्डविचारो नाम द्वितीयोपदेशः।

सं० टी०—सर्वतत्त्वानां समावस्था नास्ति तत्त्वभेदस्थितिर्यस्याम-वस्थायां किञ्चिदपि व्यापारो नास्तीति निरुद्यमपदेन ध्वन्यते। अविद्यात्मकतमो नास्तीति स्वाभाविकावस्थाऽनायासस्थितिपदेन ध्वन्यते। अयमेव राजयोगः। अत एवास्याष्टाङ्गान्यपि तदनुकूलानि पूर्वमुक्तानि अयमाशयो योगानां राजा राजयोगो राजत्वञ्चाङ्गित्वेनान्ये सर्वे गुरुचरणसेवादिकर्मयोगप्राणायामादिहठयोग-ध्यानाद्युपासनायोगा अङ्गानीति सुष्ठु समन्वितं विधाय करुणां प्राणिनामुपर्या-चार्य्यचरणैः॥३९॥

इति श्रीगोरक्षनाथकृतायां सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सर्वतन्त्रस्वतंत्र पं० श्रीद्रव्येशज्ञानिर्मितायां गूढार्थदीपिकायां पिण्डविचारो नाम द्वितीयोपदेशः।

भा० टी० समाधि—अब योग के समाधिरूप अन्तिम अङ्ग का निरूपण करते हैं। सब पदार्थों में समान अवस्था अर्थात् सबको आत्मरूप से देखने तथा समाधि समय में अन्य व्यापार-आदि के अभाव और जिस अवस्था में अनायास ही अखण्ड आत्मस्वरूप में स्थित हो उसी का नाम उन्मनी अवस्था और सहजावस्था है। यही सामान्य समाधि का लक्षण है। भाव यह है कि सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात रूप से समाधि दो प्रकार की होती है। उसी को सविकल्प एवं निर्विकल्प सबीज और निर्बीज समाधि भी कहते हैं। जब तक उस समाधि में ध्याता, ध्यान और ध्येयरूप त्रिपुटी का प्रतिभास हो; तब तक उसको सम्प्रज्ञात सविकल्प या सबीज समाधि कहते हैं। यह भी धारणा-ध्यान की परिपक्व अवस्था होने से सिद्ध होती है तथा जब ध्याता और ध्यान क्रिया का पृथग्भाव न होकर केवल ध्येयाकार वृत्ति हो, तब यह निर्विकल्प समाधि होती है। इसी को असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि भी कहते हैं। इसी की परिपक्व अवस्था को शून्य समाधि या जड समाधि भी कहते हैं। यह हठयोग की क्रिया और दश मुद्राओं के साधन द्वारा निरन्तर अभ्यास से सिद्ध होती है। यह समाधि जब सिद्ध हो जाती है, तब जाग्रत् अवस्था में भी उस योगी की बिना परिश्रम समाधि-सी ही लगी रहती है और शरीर में वंशी-वीणा-

आदि के अलौकिक शब्दों को सुनने से प्राण और मन भी नाद में विलीन सा ही रहता है। और वह समाधि भी नाद के आश्रित होकर रहती है, उस समय अनायास समाधि लग जाती है॥३९॥

॥इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ श्री १०८ पूज्यपादयोगीन्द्र-श्रीपूर्णनाथशिष्येण वेदान्ताचार्येण योगिश्रीभीष्मनाथेन कृतायां सारदीपिकायां हिन्दीटीकायां पिण्डविचारो नाम द्वितीयोपदेशः समाप्तिङ्गतवान्॥

अथ पिण्डसंवित्तिः कथ्यते–

मू०– पिण्डमध्ये चराचरं यो जानाति, स योगी पिण्ड-संवित्तिर्भवति॥१॥

सं० टी०– विचारस्य फलम् (कार्यम्) ज्ञानम्। अथ पिण्ड-विचारानन्तरं तत्फलभूतं पिण्डज्ञानोपदेशस्यावसरप्राप्ततया तदुपदिश्यते।

ननु पिण्डज्ञानं प्रत्यक्षत एव सिद्धम्, तदुपदेशो व्यर्थ इति चेन्न; सर्वेषां चर्मचक्षुर्भिर्मासादिसमुदायतया प्रत्यक्षत्वेऽपि देहे निखिलब्रह्माण्डस्थ पदार्थमात्रसद्भाव इत्यस्याज्ञातत्वेन तदर्थं तदुपदेशस्य परमावश्यकत्वात् तत्फलं निखिलब्रह्माण्डपरिचयः। ततश्च दीर्घकालनैरन्तर्य सत्कारासेवितभावनया पिण्डाण्डयोः समरसं कृत्वाऽजरामरत्वप्राप्तिरित्यनुपदं वक्ष्यते। अतः प्रसिद्ध-फलनिरूपणेन प्ररोचयति-पिण्डेत्यादि। अस्मिन्निति शेषः (पिण्डमध्ये) स्व- शरीरे यो योगी (चराचरम्) चराश्च अचराश्च तेषां समाहारं जानाति, स एव (पिण्डसंवित्तिः) पिण्डज्ञानी भवति नान्यः; पिण्डस्य संवित्तिर्यस्येति व्यधिकरणबहुव्रीहिः॥१॥

भा० टी०–अब शरीररूप पिण्ड के ज्ञान का निरूपण किया जाता है। इस शरीरपिण्ड में ही जो योगी भूत-भौतिक-जड-चेतन-सकल-चराचर जगत् को जानता है, उसका नाम 'पिण्डसंवित्ति' होता है; अर्थात् वह योगी व्यष्टि-समष्टि-रूप– दोनों प्रकार के शरीरपिण्डों का तत्त्ववेत्ता होता है। सारांश यह है कि सृष्टि दो प्रकार की होती है- एक व्यष्टि रूप और दूसरी समष्टि रूप। व्यष्टि में अन्तःकरणाभिमानी अस्मदादि जीव है और समष्टि में विराट्-हिरण्यगर्भादि हैं। तथा शरीररूप पिण्डों का भी दोनों सृष्टियों में प्रादुर्भाव होता है। फर्क केवल इतना है कि

समष्टि शरीर व्यापक अधिक शक्तिशाली तथा चिरस्थायी है और वह शरीराभिमानी सर्वेश्वर सत्यसंकल्प होने से अस्मदादि शरीरों का कारण और नियन्ता है और व्यष्टिपिण्ड क्षणभंगुर तथा विनश्वर है। उसका अभिमानी जीव भी कर्मपाश में बंधा हुआ बार-बार पहले शरीर को छोड़ता हुआ दूसरे शरीर को धारण करता है। अतः दुःखबन्धन से जीवों का उद्धार करने की इच्छा से श्रीयोगाचार्य व्यष्टि समष्टि रूप पिण्ड के अभेद अभिप्राय से समष्टि पिण्डगत कार्य को भी व्यष्टिशरीर में ही समझाते हैं; जिससे कि उक्त पिण्ड के यथार्थ ज्ञानपूर्वक योगध्यान द्वारा सार्वभौम ऐश्वर्य को प्राप्त करता हुआ यह जीव परम शान्त और अखण्डानन्द श्रीआदिनाथस्वरूप मोक्षधाम को प्राप्त हो।

मू०– कूर्मः पादतले वसति पातालं पादाङ्गुष्ठे तलातल-मङ्गुष्ठाग्रे महातलं पादपृष्ठे रसातलं गुल्फे सुतलं जङ्घायां वितलं जान्वोरतलमूर्वोरिवं सप्तपातालं रुद्रदेवाधिपत्ये तिष्ठति पिण्डमध्ये क्रोधरूपीभावः स एव कालाग्निरुद्रः॥२॥

सं० टी०–भुवनाधारः कूर्मावतार इति प्रसिद्धं पुराणेषु। तस्यायं गूढाभिसन्धिः॥ शक्तिसहितस्य शिवस्यैव सृष्ट्यादाववस्था विशेषः, कूर्म इवेति सादृश्यं चात्र यथा कूर्मादङ्गानि निःसरन्ति, तत्रैव च सङ्कुचन्ति, तथा तत एव च सर्वे प्राणिनः निःसरन्ति। तत्रैव काले संकुचन्ति च सर्वेषामाधारः। वेदोऽप्याह- 'स दाधारपृथिव्यां द्यामुतेमाम्', गीतायां- *'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा'।* अतः सुष्ठूक्तं- कूर्मः पादतले वसति। ननु पादाधारस्तु पृथिवी दृश्यते कथमाह- कूर्म इति चेत्! शृणु रहस्यं! यदा ब्रह्माण्ड- पिण्डयोरभेदो ज्ञायते य एव ब्रह्माण्डः स एव पिण्ड इति तदा कथं ब्रह्माण्डाधारः कूर्मो मदीय पिण्डाधारो नेति निषेद्धुं शक्यम् इति हृदयसङ्कोचं विहायोदारचेतसा विवेक्तव्यं तत्राङ्गुष्ठान्त्य देशमारभ्योरूपर्यन्तं पातालादिसप्तलोकभावना विधेयेति निष्कर्षः। मूले यत्र यस्य स्थितिः प्रतिपादिता तत्क्रमेणैव ज्ञेया न तु व्युत्क्रमेणान्यत् स्पष्टम्। अस्य सप्तपातालस्याधिपतिदेवो रुद्रः स एव पिण्डे क्रोधरूपः समष्टौ कालाग्निरुद्रः प्रलयकारकः॥२॥

भा० टी०–समस्त पृथ्वी का धारण करने वाला कूर्म निज चरणतल में पाताल पैर में तलातल अङ्गुष्ठ के अग्रभाग में महातल पैर के ऊपर पृष्ठ भाग में रसातल गट्टों में सुतल पिण्डलियों में वितल घुटनों में अतल जङ्घाओ में बसता है; अर्थात् समष्टि का व्यष्टि में अभेद जानकर ध्यान करे। इस प्रकार सात पातालों का अधिपति भगवान् रुद्रदेव है और इस देह में जो क्रोधरूपी भाव है; वही कालाग्नि रुद्र है।१॥

मू०– भूर्लोकं गुह्यस्थाने भुवर्लोकं लिङ्गस्थाने स्वर्लोकं नाभिस्थाने। एवं लोकत्रयमिन्द्रो देवता पिण्डमध्ये सर्वेन्द्रिय-नियामकः स एवेन्द्रः॥३॥

सं० टी०–लोकत्रयदृष्टिर्गुह्यलिङ्गनाभिषु। गुह्यं लिङ्गादधो गुदा-दुर्द्धवम्मध्ये समष्टि सृष्टौ लोकत्रयस्याधिपतिर्य इन्द्रदेवः स एव शरीरे सकलेन्द्रियवर्गस्य नियामको ध्येयः। अत एवेन्द्रस्येदमिन्द्रियमित्यन्वर्थसञ्ज्ञा प्रसिद्धा लोके शास्त्रे च॥३॥

भा० टी०–मूलाधार में पृथ्वीलोक लिङ्गमूल में अन्तरिक्ष और नाभि स्थान में स्वर्गलोक है। इन तीनों लोकों का इन्द्र देवता है और शरीर में जो सब इन्द्रियों का नियंत्रण करता है, वही प्रकाशमान 'इन्द्रदेव' है- ऐसा ध्यान करे।

मू०–दण्डाङ्कुरे महर्लोको दण्डकुहरे जनोलोको दण्डनाले तपोलोको मूलकमले सत्यलोक एवं लोकचतुष्टये ब्रह्मादिदेवता पिण्डमध्येऽनेकमानाभिमानस्वरूपी तिष्ठति॥४॥

सं० टीका–दण्डाङ्कुर इति मेरुदण्डस्योत्पत्तिस्थानं दण्डाङ्कुरः, ततः ऊर्ध्वं कुहरो मध्यभागो नालः, तेषु यथाक्रमं महर्जनतपोलोका वसन्ति। मूलकमले मूलाधारस्थ कमले सत्यलोकः। एवं चतुर्षु लोकेषु ब्रह्मादि-देवा अनेके नानाभिमानशालिनस्तिष्ठन्ति समष्टिसृष्टौ व्यष्टिसृष्टौ च मेरुदण्डे तेषामाधिपत्यमिति विवेकः सर्वत्र॥४॥

भा० टी०–मेरुदण्ड के मूल में प्रजापति दक्ष का महर्लोक मेरुदण्ड के छिद्र में जनलोक तथा सुमेरुदण्ड के सूक्ष्म में छिद्र के चारों

ओर तपःलोक और मूलकमल में सत्यलोक है- इन चारों लोकों में ब्रह्मादि अधिपति है और वह ब्रह्म इस देहपिण्ड में अनेक मानाभिमानस्वरूप होकर रहता है॥४॥

मू०– विष्णुलोकः कुक्षौ तिष्ठति तत्र विष्णुर्देवता पिण्ड-मध्येऽनेकव्यापारको भवति। हृदये रुद्रलोकस्तत्र रुद्रो देवता पिण्डमध्ये उग्रस्वरूपी तिष्ठति। वक्षःस्थल ईश्वर लोक-स्तत्रेश्वरो देवता पिण्डमध्ये तृप्तिस्वरूपी तिष्ठति। कण्ठ-मध्ये नीलकण्ठलोकस्तत्र नीलकण्ठो देवता पिण्डमध्ये नित्यं तिष्ठति। तालुद्वारे शिवलोकस्तत्र शिवोदेवता पिण्डमध्येऽनुपम-स्वरूपी तिष्ठति। लम्बिकामूले भैरवलोकस्तत्र भैरवोदेवता पिण्डमध्ये सर्वोत्तमस्वरूपी तिष्ठति। ललाटमध्येऽनादिलोक-स्तत्रानादिदेवता पिण्डमध्ये आनन्दपराहन्तास्वरूपो तिष्ठति। शृंगाटे कुललोकस्तत्रकुलेश्वरोदेवता पिण्डमध्ये आनन्दस्वरूपी तिष्ठति शंखमध्ये नलिनी स्थानेऽकुलेश्वरो देवता पिण्डमध्ये निरभिमानावस्था तिष्ठति। ब्रह्मरन्ध्रे परब्रह्मलोकस्तत्र परब्रह्म-देवता पिण्डमध्ये परिपूर्णदशा तिष्ठति। उर्ध्वकमले परापर-लोकस्तत्र परमेश्वरो देवता पिण्डमध्ये परापरभावस्तिष्ठति त्रिकूटस्थाने शक्तिलोकस्तत्र पराशक्तिर्देवता पिण्ड-मध्येऽस्तित्त्वावस्था सर्वासां सर्वकर्त्तृत्वावस्था तिष्ठति। एवं पिण्डमध्ये सप्तपातालसहितैकविंशति ब्रह्माण्डस्थान-विचारः॥५॥

सं० टी०–ब्रह्माण्डे ये विष्णुलोकादयः सन्ति तेषामस्मिन् पिण्डे क्व क्व निवासं मत्वा चिन्तनीयमिति जिज्ञासायां तत्तल्लोकस्थानाद्युपदिश्यते-तत्र स्थानं देवता तत्कार्यविशेषश्चेति वस्तुत्रयं सर्वत्र प्रदर्शितं; यथा विष्णुलोकस्य कुक्षिः नाभिप्रदेशः स्थानं देवता विष्णुः, नानाविध- व्यापारः कार्यम्। एवं सर्वत्र ज्ञेयम्। यद्देवलोकस्य यत् स्थानं सैव तस्य देवता तस्य स्वरूपमेव च कार्यमिति शैली नीत्वा ग्रन्थः संलापनीयः। हृद्देशो रुद्रलोकस्य

स्थानम् उग्रता (अहकारता) कार्यम्। हृदयादुर्द्ध कण्ठादधो वक्षस्थलेन ग्राह्यं तच्चेशानलोकस्य स्थानं देव ईश्वरः (ईशानः) अयं रुद्राद्भिन्नः; अतः कार्यविशेषमाह तृप्तिः। शृंगाटो नाम चतुष्पथः कण्ठदेशः, *'शृंगाटकं भवेद्द्वारि कण्टके च चतुष्पथ इति कोशात्।'* तत् कुलदेवतायाः स्थानम् आनन्ददानमेव कार्यं शंखनाडी भ्रुवोरन्तरे, तत्रैव नलिनीदलं तदकुलदेवस्य स्थानं तस्य निरभिमानतैव कार्य्यं ब्रह्मरन्ध्रं सहस्रारमध्ये तत् परब्रह्मणः स्थानं परिपूर्णता कार्यम्। उर्ध्वकमलं सहस्रारस्योर्ध्वं दलम्। तत् परापरदेवताया स्थानम्। परापरप्रकाशनं कार्यं त्रिकूटं सहस्रारोपरि त्रिशिखात्मकत्रिकोणं तत् परशक्तेः स्थानम्। तस्याः कार्यं शरीरादीनां सत्ता कर्तृत्वादिसम्पादनम्। इत्थं सप्तपाताला:, भूरादिसप्तलोकाः, विष्ण्वादिसप्तदेवाः, तत्समूहो ब्रह्माण्डस्तस्याध्यात्मं विकलने सत्येकविंशतिर्ब्रह्माण्डस्थानानि तेषां 'विचारः' चिन्तनप्रकारः प्रदर्शित इति शेषः। देवगणे पराशक्तेः परिगणने संख्याधिक्येऽपि तस्या विश्वजननीत्वेन ब्रह्माण्डेऽनन्तर्भाव्यैकविंशतिब्रह्माण्डस्थानकथनं सम्यक्तरमिति नीलकण्ठादीनां पाठः क्वचिदधिकोऽत्र॥५॥

भा० टी०—पेट में विष्णुलोक है वहाँ इस देहपिण्ड में रक्षण-आदि अनेक व्यापारों में तत्पर भगवान् विष्णु देव विराजमान हैं। हृदय में रुद्रलोक है, वहाँ महातेजस्वी उग्रस्वरूप भगवान् श्रीरुद्रदेव विराजमान हैं। वृक्षःस्थल (छाती) में ईश्वरलोक है, वहाँ तृप्तिस्वरूप ईश्वरदेव विराजमान हैं। कण्ठ के बीच में नीलकण्ठ लोक है वहाँ नित्य ही नीलकण्ठदेव रहता है। तालुद्वार में शिवलोक है, वहाँ सर्वेष्ट मङ्गलरूप श्रीशिवदेव विराजमान हैं। जिह्वा के मूल में भैरवलोक है, वहां सर्वोत्तम भैरवदेव विराजमान है। ललाट (मस्तक) के बीच अनादिलोक है, वहाँ उत्कृष्ट आनन्द में ही अपने स्वरूप का अभिमान करने वाला अनादिदेव विराजमान है। इस देहपिण्ड में भृकुटि से कुछ ऊपर मस्तक में कुललोक है, वहाँ आनन्दस्वरूप कुलेश्वरदेव विराजमान है। शंखनाडी के ऊपर मध्यनलिनी स्थान में आकुलेशलोक है, वहाँ अभिमान अवस्था से रहित अकुलेश्वर नाम का देव विराजमान है। ब्रह्मरन्ध्र में ब्रह्मलोक है, वहाँ परिपूर्ण अवस्था से युक्त पर ब्रह्मा देवता विराजमान है। सहस्रदलयुक्त ऊर्ध्वकमल में परापरलोक है, वहाँ सर्वत्र समरूप से

व्यापक सदा प्रकाशमान परमेश्वरदेव विराजमान है। सहस्रदल के ऊपर त्रिकूटस्थान में शक्तिलोक है, वहाँ शकल ब्रह्माण्डों की सूक्ष्म कर्तृत्व अवस्था वाली और निजावस्था के सहित पराशक्ति देवता है। इस शरीर में जहाँ जिस देवता का स्थान निर्दिष्ट है, उस स्थान का वही देवता स्वामी है, वहीं पर उस स्थान और गुण विशिष्ट देव का ध्यान करने से उस देव-जैसी सामर्थ्य और उन उन लोकों के साक्षात्कार की शक्ति उत्पन्न होती है। अतः योगाभ्यासी अपने देह में ही पूर्वोक्त विधि से उपर्युक्त देव के साक्षात्कार की योग्यता सम्पदनार्थ ध्यान करे। इस उपर्युक्त रीति से इस देहपिण्ड में ही सात पातालों के सहित इक्कीस ब्रह्माण्डों का विचार समाप्त किया॥५॥

मू०– सदाचारतत्त्वे ब्राह्मणास्तिष्ठन्ति शौर्ये क्षत्रिया व्यवसाये वैश्याः सेवाभावे शूद्राश्चतुःषष्टिकलास्वपि चतुष्षष्टि-वर्णाः॥६॥

सं०टी०– वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानेन विशुद्धसत्वाः संसारानित्यत्व-पर्यालोच्य ततो विरक्ता योग एव परमपुरुषार्थसाधनमिति श्रुतिस्मृतिगुरुभ्यः श्रुत्वाच्च श्रद्दधानास्तदनुकूलयुक्त्या च व्यवस्थाप्य योगमनुष्ठाय सिद्धा मुक्ताश्च भवन्ति, न तु वर्णाश्रमधर्मरहिताः पापाचारपरायोगे तत्साधनमार्गे वा श्रद्दधते प्रत्युत तं द्विषन्ति। अतो वर्णाश्रमधर्मा अवश्यमेवानुष्ठेया इत्युपदिश्यतेसदाचार इत्यादि। तत्रेत्थं व्यवस्थासञ्जाते स्वात्मबोधे तु सर्वेषां वर्णानामाश्रमिणां च ध्रुवो मोक्ष इत्यत्र नास्ति कस्य चिद्वैमत्यम्। किन्तु विविदिषूणां कथमास्तेयमिति सन्दिह्य मार्गद्वयमिति निश्चितम्। तथाहि- ये तु पूर्वजन्माजितपुण्यपुञ्जवशाज्जन्मत एव विरक्तो योगमार्गे च श्रद्दधाना योगसाधनान्नान्यच्चिकीर्षन्ति। ते बाल्यादेव गृहान्निर्गत्य योगिकुले संसाध्य साधनं तत्त्वं विदित्वा मुक्ता भवन्ति। ये तु न जन्मतो विरक्ताः श्रद्धालवश्च तैरीश्वरमियोगधिया वर्णाश्रमविहितकर्माण्यनुष्ठेयानि, तत्रापि योगा अनुष्ठेयाः। सति वैराग्ये विहाय कर्माणि योग एव केवल आश्रयणीय इति क्रमिकगतिः। तदाह श्रुतिः- *'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'*, *'कुर्वन्नेवेह कर्माणीति'* च। किन्तु येऽविरिक्ताः श्रद्धारहिता वर्णाश्रमधर्ममपि नानुतिष्ठन्ति, तेषामधः पातान्नान्यागतिरिति सिद्धपादैरुपदिश्यतेब्राह्मणाः

ब्राह्मणजातयः सदाचारतत्त्वे श्रुतिस्मृतिविहितस्वाश्रमोचितकर्मानुष्ठानपूर्वक-योगमार्गे तिष्ठन्ति, सा स्थितिस्तेषां श्रेयस्करीति ध्वनिः। एवं क्षत्रियाणाम् शौर्ये वैश्यानाम् वाणिज्ये शूद्राणाम् सेवाकर्मणि सनातनशास्त्रानुसारेण स्वे स्वे कर्मणि स्थातव्यमिति निष्कर्षः स्वस्वजात्यनुसारकर्मकौशलं झटिति भवति; तत्र तस्याग्रेसरतेति प्रायेणोपलभ्यते समेषाम्। अन्या अपि चतुष्षष्टिजातयश्चतुष्षष्टिकलासु वर्तन्ते। अतः सांसारिकमर्यादा नोच्छिद्ये-तेत्यानुषङ्गिकोपदेशः॥६॥

भा० टी०—सदाचार में ब्राह्मण युद्धादि शौर्य में क्षत्रिय वाणिज्यादि व्यवसाय में वैश्य और सेवादिभाव में शूद्र हैं तथा चौंसठ कलाओं में चौंसठ वर्ण तत्पर रहते हैं; अर्थात् गीत-वाद्य-आदि चौंसठ प्रकार की कलाओं को जानने वाले पुरुष ही चौंसठ प्रकार के वर्णों में गिने जाते हैं।६॥

मू०— अथ सप्तसमुद्राः सप्तद्वीपाश्च कथ्यन्ते— मज्जायां जम्बूद्वीपोऽस्थिषु शाकद्वीपः शिरासु सूक्ष्मद्वीपस्त्वक्षु क्रौञ्चद्वीपो रोमसु गोमयद्वीपो नखेषु श्वेतद्वीपो मांसे प्लक्षद्वीप एवं सप्त-द्वीपाः॥७॥

भा० टी०— अत्र सर्वत्र दृष्टिः कर्तव्या इत्यर्थो ज्ञेयः। यथा बृहदारण्यके प्रारम्भेऽश्वशरीरे प्रजापतिदृष्टिः कर्तव्यतया विहिता। तत्राश्वस्य प्रत्येकमङ्गेषु प्रजापतेः प्रत्येकाङ्गस्य दृष्टिर्विहिता तेन प्रजापत्युपासना सम्पद्यते, तत्फलं प्रजापतिपदप्राप्तिः प्रतिपादिता। एतादृशी उपासनानुपदमुप-निषत्सु प्रदर्शितेति विदन्ति वेदान्तिनः। तथैवात्रापि स्वपिण्डस्य प्रत्येकमङ्गे ब्रह्माण्डस्थप्रत्यकाङ्गदृष्टिः कर्त्तव्या। तेन ब्रह्माण्डपिण्डयोः समरसभावः, अनन्तरमद्वितीयब्रह्ममणा सह समरसभावः तत्फलमजरामरभावो मोक्ष इति विशेषः। अत्र सूक्ष्मद्वीपः क्वचित् कुशद्वीपसञ्ज्ञा, अत्र गोमयनामान्यत्र गोमेधनाम्, अत्र श्वेतद्वीपकुत्रचित् शाल्मलद्वीपसञ्ज्ञा। प्लक्षद्वीपस्यैव क्वचित् पुष्करद्वीप इति॥७॥

भा० टी०—अब समष्टि ब्रह्माण्ड में स्थित सात समुद्र और सात द्वीपों का इस व्यष्टिदेह में ही वर्णन करते हैं। मज्जा में जम्बूद्वीप, हड्डियों में शाकद्वीप, प्रवाहिका नाड़ियों में सूक्ष्मद्वीप, त्वचा में क्रौञ्चद्वीप

रोमों में गोमयद्वीप, नखों में श्वेतद्वीप और मांस में प्लक्ष-(पुष्कर)-द्वीप है। इस प्रकार इस शरीर में सात द्वीपों को जानकर ध्यान करने से इनके साक्षात्कार की सामर्थ्य और इनमें स्वच्छन्द गति होती है।॥७॥

मू०– मूत्रे क्षारसमुद्रो लालायां क्षीरसमुद्रः कफे दधिसमुद्रो मेदसि घृतसमुद्रो वसायां मधुसमुद्रो रक्त इक्षुसमुद्रः शुक्रेऽमृत समुद्र एवं सप्त समुद्राः॥८॥

सं० टी०– तत्तत्समुद्रदृष्टयोमूत्रादिषु अत्र मधुसमुद्रोऽन्यत्र सुरासमुद्रः प्रतिपादितोऽत्रचामृतसमुद्रोऽन्यग्रन्थे स्वादूदकशब्देन न तावता भेदी ज्ञेयः। शब्दभेदेऽप्यर्थैक्यात्। क्षीरवज्जलानि यस्मिन् स क्षीरसमुद्रः। तथैव सर्वत्र सादृश्यं ज्ञेयन्न तु तदेव॥८॥

भा० टी०– पूर्व में क्षार-(खारा)-समुद्र लार में क्षीरसमुद्र, कफ में दधिसमुद्र, मज्जा में घृतसमुद्र, चर्बी में मधुसमुद्र, रक्त में इक्षुसमुद्र और शुक्र (वीर्य) में अमृत का समुद्र है। इस रीति से शरीर में सात समुद्रों का वर्णन हुआ। इनका यथोक्त विधि द्वारा ध्यान करने से इनके साक्षात्कार की सामर्थ्य होती है।८॥

मू०– नवखण्डा नवद्वारेषु वसन्ति। भारतखण्डः कर्परखण्डः काश्मीरखण्डः श्रीखण्डः शङ्खखण्ड एकपाद-खण्डो गान्धारखण्डः कैवर्त्तकखण्डो महामेरुखण्ड एवं नवखण्डाः॥९॥

सं० टी०– अत्रायं विवेको यावन्तः पदार्था ब्रह्माण्डे वर्त्तन्ते तावन्त एवास्मिन् पिण्डेऽपि ईयानेव विशेषो यत् पिण्डेऽल्पमात्रा विश्वस्मिन् पूर्णमात्रा। तत्रास्ति कश्चन प्रकारः येन शरीरमिदं विश्वरूपं परिणम्येतेति जिज्ञासवे विश्वोपासनामाह- नवखण्डेत्यारभ्य तृतीयोपदेशावधि। उपासकैरेवं चिन्तनीयं यद्विश्वरूपोऽहं तत्सपत्त्यर्थं स्वाङ्गान्यालम्बनीकृत्य प्रत्येकं मूलोक्तरीत्या वैश्ववस्तुदृष्टिर्विधेया। यथा गुह्यलिङ्गमुखनासिकाद्वयकर्णद्वय-नेत्रद्वयेषु नवद्वारेषु नवखण्डाः सन्ति, ते क इतिजिज्ञासोपशमनाय नामानि निर्दिश्यन्ते भारतखण्डेत्यादि॥९॥

भा० टी०–शरीर के नवों द्वारों में नौ खण्ड रहते हैं। उन्हीं का नाम और स्थान निर्देशपूर्वक वर्णन करते हैं। मूलद्वार में भारतखण्ड, उपस्थ (लिङ्गछिद्र) में काश्मीरखण्ड, मुख में कर्परखण्ड, श्रीखण्ड और शङ्खखण्ड क्रम से नासिका के दक्षिणखण्ड व वामखण्ड में एक पादखण्ड (जिसमें १ पाद के आदमी हों) और गान्धारखण्ड क्रमशः वाम और दक्षिण नेत्रों में कैवर्तखण्ड और महामेरुखण्डक्रम से वाम और दक्षिण कर्ण छिद्रो- में इस प्रकार नौ खण्ड इस शरीर में बसते है।६॥

मू०– मेरुपर्वतो मेरुदण्डे तिष्ठति कैलासो ब्रह्मकपाटे वसति हिमालयः पृष्ठे मलयो वामकन्धरे मन्दरो दक्षिणकन्धरे विन्ध्याद्रिर्दक्षिणकर्णे मैनाको वामकर्णे श्रीपर्वतो ललाट एवमष्टकुलपर्वता अन्य उपपर्वताः सर्वाङ्गुलिषु वसन्ति ॥१०॥

सं० टी०–एवं मूलोक्तकुलपर्वतदृष्टयो मेरुदण्डशीर्षकपालपृष्ठ-वामस्कन्धदक्षिणस्कन्धकर्णद्वयललाटेषु यथाक्रमं कर्तव्याः। अन्योपपर्वतदृष्टिः सर्वाङ्गुलिषु विधेया॥१०॥

भा० टी०–अब शरीर में आठ कुल पर्वतो का वर्णन करते हैं। सुमेरुपर्वतशरीर के मेरुदण्ड में, कैलाश मस्तक में, हिमालय पीठ में, मलयाचल बायें कन्धे में, मन्दराचल दाहिने कन्धे में, विन्ध्याचल दक्षिण कान में और श्रीशैल नामक पर्वत ललाट में बसता है। इस प्रकार आठ कुल पर्वतों का वर्णन किया और भी बहुत छोटे-बड़े पर्वत हाथ पैर की सब अङ्गुलियों में रहते हैं।१०॥

मू०– पीनसा यमुना गङ्गा चन्द्रभागा सरस्वती पिपासा शतरुद्रा श्रीरात्रिर्नर्मदा॥ एवं नवनद्यो नवनाडीषु वसन्ति। अन्या उपनद्यः कुल्योपकुल्या द्विसप्ततिसहस्त्रनाडीषु वसन्ति॥११॥

सं० टी०–पीनसादिनवनदीदृष्टिः सुषुम्णातिरिक्तपूर्वोक्तपिङ्गलादि-नवनाडीषु विधेया। तद्भिन्नोपनद्यः कुल्योपकुल्याश्च सकलनाडीषु द्रष्टव्याः॥११॥

भा० टी०– अब पीनसा आदि नदी और उपनदियों का वर्णन करते हैं। पीनसा, गंगा, यमुना, सरस्वती, चन्द्रभागा, पिपासा (व्यासा),

शतरुद्रा (शतलुजा) श्रीरात्री और नर्मदा- ये नौ नदी नौ नाड़ियों में रहती हैं। अर्थात् गंगा, यमुना और सरस्वती- ये तीनों क्रम से इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा में तथा पीनसादि अन्य नदियाँ अलम्बुषादि नाडियों में रहती हैं और भी बहुत-सी छोटी बड़ी नदियाँ बहत्तर हजार नाडियों में रहती हैं।११॥

मू०- सप्तविंशतिनक्षत्राणि द्वादशराशयो नवग्रहाः पञ्चदशतिथय एतेऽन्तर्वलये द्विसप्ततिसहस्त्रकोष्ठेषु वसन्ति॥ अनेकतारामण्डलमूर्मिपुञ्जे वसति॥ त्रयस्त्रिंशत् कोटि देवता बहुरोमकूपेषु वसन्ति। दानवयक्षराक्षसपिशाचभूतप्रेता अस्थि-सन्धिषु वसन्ति। अनेकपीठोपपीठका रोमकूपेषु वसन्ति। अन्ये पर्वता उदरलोमसु वसन्ति। गन्धर्वकिन्नर किम्पुरुषा अप्सरोगणा उदरे वसन्ति। अन्या खेचरीलीलामातरः शक्तय उग्रदेवता वायुवेगे वसन्ति। अनेकमेघा अश्रुपाते वसन्ति। अनन्तसिद्धामति प्रकाशे वसन्ति। चन्द्रसूर्यौ नेत्रद्वये वसतः। अनेकवृक्षलतागुल्म-तृणानि जङ्घारोमकस्थाने वसन्ति। अनेककृमिकीटपतङ्गाः पुरीषे वसन्ति॥१२॥

सं० टी०-अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्व फल्गुनी, उत्तरफल्गुनी, हस्तचित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, श्रवणा, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्र, उत्तरभाद्र, रेवती। एतानि सप्तविंशतिनक्षत्राणि। सार्धद्वयनक्षत्रस्यैको राशिस्तथा च सकलसङ्कलते द्वादशराशयो भवन्ति, एतेषु नक्षत्रेषु दिनमणेर्भ्रमणं, सम्वत्सरेण समाप्यतेऽतो द्वादशमासात्मको वर्षो भवति। किन्तु कुमुदस्य परिभ्रमणं दिनैकेनैकनक्षत्रे पूर्यतेऽतः सप्तविंशति-दिनेष्वेव राशिभोगपूर्त्तिः। अयमेव चन्द्रमासः। पूर्वस्तु सौरमासः। राशिनामानि मेष-वृष-मिथुन-कर्क-सिंह-कन्या-तुला-वृश्चिक-धनु-मकर-कुम्भ-मीनेति। सूर्यचन्द्रभौमबुधगुरुशुक्रशनिराहुकेतवो नवग्रहाः। तिथयस्तु चन्द्रकला दर्शनादर्शनकृताः प्रतिपदादिपञ्चदश, तन्नामानि प्रसिद्धानि। एते देहमध्यस्थ मांसरन्ध्रेषु द्रष्टव्याः। '*बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनसः स्मृतौ।*

शोकमोहौ शरीरस्य जरामृत्युषडूर्मयः' इत्येतेष्वनेकतारादृष्टिः सम्पाद्या। रोमकूपेषु सकलदेवता द्रष्टव्याः। यत्र देवी शक्तिराविर्भूता सती देवताभिमानमुत्पादयति स पीठस्त्रिकोणादियन्त्रप्रभृतिः, तत्समीपस्थोपपीठकः। तद्दृष्टिरपि रोमकूपेष्वेव। एवमेव पर्वतादिष्वपि ज्ञेयं निगदव्याख्यातमन्यन्मूलम्॥१२॥

भा० टी०—अश्विनी-भरणी-आदि सत्ताईस नक्षत्र, मेष-वृषादि बारह राशि सूर्यचन्द्रादि नवग्रह और प्रतिपदादि पन्द्रह तिथियाँ ये सब शरीरस्थ मांस पेशियों के बहत्तर हज़ार कोष्ठों में रहते हैं। अनेक तारामण्डल हड्डियों के रचना विशेष या भूख-प्यास-रूपी ऊर्मिपुञ्ज में रहते हैं। तैतीस करोड़ देवता समस्त रोमछिद्रों में वसते हैं। दानव-यक्ष-राक्षस-पिशाच-भूत और प्रेत-शरीर की हड्डियों के जोड़ों में रहते हैं। त्रिकोणादि यन्त्रसहित देवताओं के स्थान-विशेष को 'पीठ' कहते हैं। वे ही अनेक पीठ और उपपीठ अर्थात् बड़े-छोटे उपासना करने योग्य देवी-देव-स्थान जो रोमछिद्र हैं, उनमें विद्यमान है तथा अन्य पर्वत उदर लोमों में रहते हैं। गन्धर्व, किन्नर और अप्सराओं के समूह उदर में रहते हैं। अन्य अपनी इच्छा से आकाश में गमन करने वाली उग्रदेवतारूप लीला मातृशक्तियाँ प्राणवायु वेग और अनेक मेघनेत्रों के आँसुओं में बसते हैं। अनन्त सिद्ध बुद्धि के प्रकाश में रहते हैं। वाम और दक्षिण-दोनों नेत्रों में क्रम से चन्द्र और सूर्य रहते हैं। अनेक वृक्ष-लता-गुल्म-तृण से जंघा के रोमों में रहते हैं और बहुत से कीट-पतङ्गादि विष्ठा में बसते हैं॥१२॥

मू०— यत्सुखं तत्स्वर्गं यद्दुःखं तन्नरकं गतकर्म तद्बन्धनं यन्निर्विकल्पं तन्मुक्तिः स्वरूपदशायां निद्रादौ स्वात्मजागरः शान्तिर्भवति। एवं सर्वदेहेषु विश्वरूपपरमेश्वरः परमात्माऽखण्डस्वभावेन घटे घटे चित्स्वरूपी तिष्ठति। एवं पिण्डसंवित्तिर्भवति२॥१३॥

॥इति महेश्वरावतारश्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पिण्ड-संवित्तिर्नाम तृतीयोपदेशः॥

सं०टी०—सुखे स्वर्गदृष्टिर्दुःखे च नरकदृष्टि कर्मणि बन्धदृष्टि-

र्निर्विकल्पस्वरूपज्ञाने मोक्षदृष्टिः। निद्रादिसर्वावस्थासु स्वस्वरूपमात्रानुभवे शान्तिदृष्टिश्चोद्यते। पूर्वोक्तप्रकारेण दृढभावनया सर्वत्र स्वात्मचित्स्वरूपः सम्पद्यत इति फलकथनेनोपसमहारि॥१३॥

॥इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सर्वतन्त्रकोविदश्रीद्रव्येशझाकृतगूढार्थद्वी-दीपिकायां तृतीयोपदेशः समाप्तः॥

भा० टी०—इस शरीर में जो सुख है, उसे स्वर्ग और जो दुःख है, उसे नरक जानना। जो सकाम कर्म है, वही बन्धन है। जो निर्विकल्पता है, वही मुक्ति है और वह मुक्ति द्वैतप्रपञ्च की शान्ति से होती है। यद्यपि अज्ञानी पुरुषों की दृष्टि से वह शुद्ध मुक्त अवस्था भी निद्रारूप है, तथापि वह वास्तव में अखण्ड आत्मबोधरूप दशा है। उस बोधदशा में जागते रहना ही आत्मजागरण कहलाता है। इसी को जीवन्मुक्ति कहते हैं। इस पूर्वोक्त रीति से सब देहों में माया के बल से अनेक रूपधारी परमात्मा अखण्ड स्वभाव से घट-घट में चेतन रूप रहता है। अतः उक्त रीति से व्यष्टि समष्टिरूप पिण्ड को अच्छी प्रकार जानने वाला ही पिण्ड को अच्छी प्रकार जानने वाला ही 'पिण्ड संवित्ति' कहलाता है। यहां पर दूसरा पिण्डसंवित्ति उपदेश की समाप्ति का द्योतक है।१३॥

॥इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ योगीन्द्रश्री १०८ श्रीपूर्णनाथशिष्येण योगिपं.श्रीभीष्मनाथेन वेदान्ताचार्येण कृतायां सारदीपिकायां हिन्दीटीकायां पिण्डसंवित्तिर्नाम तृतीयोपदेशः समाप्तिङ्गतवान्॥

अथ पिण्डाधारः कथ्यते

मू०— अस्ति काचिदपरम्परा संवित्स्वरूपा सर्वपिण्डाधारत्वेन नित्यप्रबुद्धा निजाशक्तिः प्रसिद्धा कार्यकारणकर्त्तृणामुत्थानदशाङ्कुरोन्मीलनेन कर्त्तारं करोतीत्यनन्तरावाधारशक्तिरिति कथ्यते। अत्यन्तनिजप्रकाशस्वसंवेद्यानुभवैकगम्यमाना शास्त्रलौकिकसाक्षात्कारसाक्षिणी, सा परा चिद्रूपिणी शक्तिर्गीयते। सैव शक्तिर्यदा सहजेन स्वस्मिन्नुन्मीलिन्यां निरुत्थानदशायां वर्तते, तदा शिवः स एव भवति॥१॥

सं० टी०—जीवस्य शिवशक्तिभ्यां सह भेदाभाव एव समरसः, स एव मोक्षो लक्ष्यस्तस्य प्राप्त्युपाययोगः पञ्चमे वक्ष्यमाणस्तत्र प्रथमशिव-शक्त्योरेव कथं समरसभावावस्था भवतीति जिज्ञासोपशमनाय चतुर्थोपदेशः। तत्र पूर्वं शक्तिस्वरूपं निरुच्य सामरस्यं निवक्ष्यते-अस्तीत्यादि। अपरम्परा नास्ति परम्परा यस्याः स्वजनकं तज्जनकमिति प्रणालीरहिता कूटस्थेति यावत्। संवित्स्वरूपा ज्ञानस्वरूपा नित्यप्रबुद्धा विनाशरहितप्रकाशरूपाऽनेन बुद्धेर्वैलक्षण्यं सूचितं तदीयप्रकाशस्योत्पत्तिविनाशशालित्वात् परमेश्वरस्य निजा स्वकीया शक्तिः आद्या भवानी सर्वपिण्डाधारत्वेन समस्तजगदाधारत्वेन विद्यते। सैव सकलशास्त्रेषु प्रसिद्धा, सा च कार्यकरणकर्त्तृणां कार्यं, शरीरं करणमिन्द्रियाणि कर्ता, जीव एतेषां त्रयाणामुत्थानदशायाः, आविर्भावावस्थाया अङ्कुरं पूर्वरूपं तस्यैवोन्मीलनेन विकाशद्वारा कर्तारम्, ईश्वरदेवादिकं करोति सृजतीत्यर्थः। इयमेव अनन्तरा भेदरहितावाभ्यन्तरङ्गा आधारशक्तिः विश्वधारणशक्तिरपि कथ्यते द्वितीया परमेश्वरस्य या शक्तिः पराशब्देन शास्त्रेषु गीयते सापि अत्यन्तनिजप्रकाशा स्वतश्चिद्रूपा न तु मतान्तरीयमाया-वज्जडानिजाशक्तितो वैलक्षण्यमाह- स्वसंवेद्या स्वेन भास्या निजायान्तु स्वेनापि भास्यभासकभावो नासीत्। अत्र तु स्वभास्यतास्ति, अत एव स्वानुभवैकगम्यमाना अनेन स्वीकृत्य स्ववेद्यतामन्यवेद्यता निराकृता। नन्वस्तु बुद्धितत्त्वमत आह- शास्त्रेत्यादि शास्त्रलोकसकलविषयकबुद्धिवृत्तेः साक्षिणी चिद्रूपिणी न तु जडरूपा बुद्धवत्। सा पराशक्तिः कथ्यते यदा सैव सहजेन स्वभावतः अस्याः प्रेरको नास्ति, किन्तु स्वतन्त्रतेति ध्वन्यते- निरुत्थानदशायां प्रजानां प्रलयावस्थायां स्वस्मिन् स्वरूपे उन्मीलिन्यां स्वस्यायां स्वस्याविर्भावे स्वस्वरूपमवलम्व्यैव यदा स्वस्या आविर्भाव इति यावत् वर्तते सम्पद्यते, तदा विद्यमाना पराशक्तिरेव शिवो भवति। शेते जगदस्मिन्निति व्युत्पत्तिलभ्यार्थ भावः सम्पद्यते, तदानीं नासीत् शिवशक्त्योर्भेद इति हृद्यम्॥१॥

भा० टी०—जीव का शिव और शक्ति के साथ ज्ञानपूर्वक अभेद होना ही समस्तरूप मोक्ष कहा जाता है। वही मोक्ष यहाँ लक्ष्य है, उस मोक्ष की प्राप्ति मुख्य साधन योग है। उसका पंचम उपदेश में वर्णन किया जायेगा, शिव और शक्ति का समरसभाव (अभेद) हो सकता है या नहीं। इस सन्देह को दूर करने के लिये इस चौथे उपदेश में पहले शक्तिस्वरूप का निरूपण करके शिव-शक्ति के समरस भाव का और

भूत-भौतिक सकल पिण्डों की आधारभूत शक्ति का वर्णन किया जाता है। सर्वश्रेष्ठ ज्ञानस्वरूप बुद्धि- आदि के अनित्य प्रकाश से भिन्न नित्य प्रकाशरूप और सकल चराचर जगत् की आधारभूत परमेश्वर की निजा शक्ति वेदादि-शास्त्र और सिद्धों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है। वह शक्ति शरीरादि कार्य तथा उनके पाँच सूक्ष्म कारण और जीव- इनकी जो अच्छी प्रकार से अभिव्यक्ति अवस्था है। उस अवस्थारूप अङ्कुर के प्रकाश से सकल विश्व के कर्ता हिरण्यगर्भादि को भी उत्पन्न करती है। इसलिये वह चिद्रूप शक्ति शिव की अत्यन्त अन्तरङ्ग है। वही शक्तिभूत भौतिक प्रपञ्च की अपेक्षा आधार कहलाती है, इसी से वह सबका उपादानकारण है। वह शक्ति केवल स्वप्रकाशस्वरूप है। अतः निज अनुभव से ही जानने याग्य और लोक तथा शास्त्र-सम्बन्धी बुद्धिवृत्ति को देखने वाली जो चिद्रूप शक्ति है, वही परमेश्वर आदिनाथ की पराशक्ति कही जाती है। वही पराशक्ति जलप्रलयकाल में स्वभाव से अपने शुद्धरूप में विकसित होती है। तब शिवरूप भी हो जाती है; अर्थात् महाप्रलय में विलीन होकर समस्त जगत् जिस में शयन करता है। उसको शिव कहते हैं। वास्तव में उस समय शिव से शक्ति का किंचित् मात्र भी भेद नहीं रहता॥१॥

मू०– अत एव कुलाकुलस्वरूपा सामरस्यनिजभूमिका निगद्यते॥२॥

सं० टी०–[अतएव] अस्मिन् समये शिवशक्त्योर्भेदाभावादेवेयं पराशक्तिः **[कुलाकुलस्वरूपा]** सकलस्वरूपा **[सामरस्यनिजभूमिका]** तुल्यरसस्वभावावस्था शिवो वा शक्तिरित्यादि विकल्पानर्हेति यावत् **[निगद्यते]** योगिभिः शास्त्रेषु प्रतिपाद्यते। एतत्प्राप्त्यै समरसकरणयुक्ति-रग्रेऽभिधास्यते॥२॥

भा० टी०– यह अर्थ महाप्रलय अवस्था को लेकर किया गया है। इसी तरह मोक्षदशा में भी घटता है। पूर्वोक्त चिद्रूप शक्ति ही मोक्षदशा में जब अपने स्वभाव से आत्मस्वरूप में अभिव्यक्त (प्रकट) होती है। तब मुमुक्षु के लिये वही शक्ति कल्याणरूप हो जाती है। इसीलिये जो पराशक्ति कुलाकुलरूप शिव-शक्ति की अभेदावस्थारूप

समरस की प्राप्ति के लिये अच्छी तरह अनुष्ठान करता है, वह भी इस समरस अवस्था को प्राप्त कर लेता है॥२॥

मू०– कुलमिति परा सत्ताऽहंता स्फुरता कला स्वरूपेण सैव पञ्चधा विश्वस्याधारत्वेन तिष्ठति॥३॥

सं० टी०–पूर्वं पराशक्तेः कुलरूपता प्रदर्शिता तत्प्रकारं विवृणोति कुलेत्यादि। परा, सत्ता, अहंता, स्फुरता, कलेति पञ्चधा कुलरूपा शक्तिः सैव निखिलस्याश्रयः॥३॥

भा० टी०– अब पूर्वोक्त 'कुलाकुल' पद में से कुल-पद का व्याख्यान करते हैं। कुल का अर्थ है- परा, सत्ता, अहन्ता, स्फुरता और कला- इन पाँच प्रकार के निजस्वरूपभेदों से कुल अवस्था को प्राप्त हुई वह शक्ति समस्त विश्व का आधार होकर रहती है। इसीलिये इस शक्ति को कुल अवस्था कहते हैं।३॥

मू०– अत एव परापरा निराभासावभासकान् (सूर्यादीन् अवभासयति) प्रकाशस्वरूपा या सा परा॥४॥

सं० टी०–तत्र गूढार्थतया पञ्चसु प्रत्येकं स्वयमेव व्याख्यायते। तत्र क्रमप्राप्तपरापदार्थमाह- अत एवेति। यतः सा [**निराभासो**] अन्यैः सूर्यादिभिर्न भास्यते। सा तु [**अवभासकान्**] लौकिकतेजोरूपान् सूर्यादीन् [**अवभासयति**] प्रकाशयति। अतः परापरा सर्वतः श्रेष्ठा कथ्यते श्रुतिरप्याह- *"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रस्तारकं नेमा विद्युतो भाति कुतोयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥४॥*

भा० टी०–अब कुलपदार्थ के अवयवभूत सत्ता-परा-आदि पाँच पदार्थों में से परापद के अर्थ का वर्णन करते हैं। जिस कारण वह शक्ति पाँच प्रकार से समस्त विश्व का आधार है। इसी से वह शक्ति पराररूप है; अर्थात् सकल वस्तुओं में विद्यमान है और वह शक्ति चेतनप्रकाशस्वरूप है। अतः सूर्यादि जड प्रकाश उसको प्रकाशित नहीं कर सकते। किन्तु वही शक्ति सूर्यादि विकास करने वाली वस्तुओं को भी प्रकाशित करती है। अतः जो सत्ता द्वारा सबको प्रकाश करने वाली शक्ति है, वही परा कहलाती है।

मू०– अनादि संसिद्धंपरमाद्वैतपरमेकमेवास्तीति याऽङ्गीकारं करोति सा सत्ता॥५॥

सं० टी०–सत्ताया लक्षणमाह [**अनादीति**] सजातीयविजातीयस्वगत-भेदरहितः स्वप्रकाशोऽस्तीति प्रतीयमानतैव सत्ता। अत्रेदं बोध्यमनादिपदेन ध्वंसाभावः। संसिद्धपदेन स्वप्रकाशः। परमाद्वैतपदेन विजातीयभेदशून्यम्, एकपदेन सजातीयत्वनिरासः। एवेत्यनेन स्वगतभेदराहित्यं च सूचितमिति॥५॥

भा० टी०–नाशरहित अनादिस्वरूप और स्वतःप्रकाश स्वभाव तथा परम अद्वैत अखण्डस्वरूप एकशिव ही सर्वत्र व्यापक है। इस प्रकार अस्तित्व को स्वीकार करने वाली शक्ति सत्ता कहलाती है।५॥

मू०– अनादिनिधनोऽप्रमेयः स्वभावकिरणानन्दोऽहम-स्मीत्यहं सूचनशीला या सा पराऽहंता॥६॥

सं० टी०–परस्या अहंताया लक्षणं प्रदर्श्यते। अनादीति। आदि-निधनविधुरः [**अप्रमेयेति**] परिच्छेदरहितः [**स्वभावकिरणेति**] स्वप्रकाशः, तादृश "आनन्दरूपोऽहमस्मि" इत्याकारक प्रतीतिर्या सा सर्वोत्कृष्टाऽहंता॥६॥

भा० टी०–अब अहन्तारूप कुल अवस्था का वर्णन करते हैं। आदि अन्त से रहित और इन्द्रिय आदि प्रत्यक्ष से अगम्यस्वभाव प्रकाशस्वरूप आनन्द मैं हूँ; अर्थात् मेरे में और कूटस्थ चित् असङ्ग आदिनाथ में कुछ भी भेद नहीं। इस प्रकार शिव शक्ति तथा आत्मा परमात्मा आदि के अभेद की प्रकाशक जो शक्ति है, वही शक्ति परम अहन्ता कहलाती है। इसी का नाम पराविद्या भी है।६॥

मू०– स्वानुभवचिच्चमत्कारनिरुत्थानदशां प्रस्फुटीकरोति या सा स्फुरता॥७॥

सं० टी०–स्फुरताया लक्षणं निरुच्यते– स्वानुभवचिच्चमत्कार-स्वरूपमात्रविषयस्य स्वकार्यचिद्रूपज्ञानविलासस्य या निरुत्थानावस्था भेदावभास-रहितदशा सा ययाऽनुभूयते, सा स्फुरता॥७॥

भा० टी०–मन-वाणी से अगम्य अपने अनुभव से जानने योग्य जो आत्म अनुभव है, उसी अनुभव के अद्भुत चैतन्य चमत्कार की

निरुत्थान दशा को अर्थात् द्वैत अवभास से रहित मुक्ति अवस्था को जो शक्ति स्पष्ट रीति से अभिव्यक्त करती है, उसी को स्फुरता नाम की चौथी कुल अवस्था शक्ति कहते हैं॥७॥

मू०– नित्यशुद्धबुद्धस्वरूपस्वयंप्रकाशत्वमाकलयतीति या सा पराकलेत्युच्यते॥८॥

सं० टी०– कलाया व्युत्पत्तिरुपदिश्यते- यया नित्यशुद्धबुद्धस्वरूपं निखिलभेदरहितं मुक्तरूपमतः स्वयम् प्रकाशत्वमन्यानवभास्य प्रकाशरूप-माकलयते संख्यायते सा परा कला कथ्यते॥८॥

भा० टी–आत्मा नित्यशुद्धव्यापक सदा स्वयं प्रकाशमान और अखण्डरूप उस आत्मा के स्वाभाविक व्यापकरूप को जो शक्ति बोध रूप से प्रकाशित करे, वही अवस्थारूप कुल पराकला कहलाती है॥८॥

मू०– अकुलमिति जातिवर्णगोत्राद्यखिलनिमित्तत्वेनैक-मेवास्तीतिप्रसिद्धं तथाचोक्तमुमामहेश्वरसम्वादे निरुत्तरेऽन-न्यत्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनन्यत्वान्निधर्मत्वादनामत्वादकुलस्य निरुत्तरमिति॥९॥

सं० टी०–पूर्वोक्तमकुलपदं व्याख्यायते यतोऽस्यामवस्थायां मनुष्यत्व-ब्राह्मणत्वादिजातिशुक्लादिवर्णकुलादिसकलप्राकृतव्यवहारकारणविरहतयैक-तत्त्वस्यैव भानं भवत्यतस्तत्राकुलत्वम्। अत्रैव महेश्वरसम्वादस्यापि प्रामाण्यमुपदर्श्यते-[**अनन्यत्वात्**] प्रतियोगितयाऽनुयोगितया च भेदशून्यत्वा-दन्यपदव्यवहार एव नास्ति। अत एव [**अखण्डत्वात्**] अन्यत्वव्यावृत्तये स्वयं पदव्यवहार्यता रूपखण्डाभावात्। [**अद्वयत्वात्**] विजातीयाभावादत एव [**अनन्याश्रयत्वात्**] विजातीयनिष्ठाधेयतानिरूपिताधिकरणत्वाभावात् [**निर्धर्मत्वात्**] विजातीयनिष्ठाधारता निरूपिताधेयत्वाभावात्। पूर्वेणाधिकरणताया अनेनाधेयतायाश्च निषेध इति निष्कर्षः। जातिगुणक्रियासम्बन्धान्यतममादायैव शब्दः प्रयुज्यते लोकेऽत्र कस्यचनाभावान्नास्ति किञ्चित्पदव्यवहार्यता तदेवोक्तम् अनामत्वादिति। इदमेव सर्वविधद्वैतनिवर्त्तनम् अकुलपदार्थस्य निरुक्तं निर्वचनम्॥९॥

भा० टी०–कुलपदार्थ का वर्णनकर अब अकुलपद के अर्थ का निरूपण करते हैं। अकुल का अर्थ गोत्वादि जाति नील पीतादि वर्ण और कश्यपादि वंश इत्यादि सकल व्यवहार का मुख्य कारण शक्ति है। अतः महाप्रलय में समस्त भूत-भौतिक को अपने में संहारकर कूटस्थ असङ्ग शिव से मिली हुई तथा निजा-आदि नाम से प्रसिद्ध केवल वह शक्ति ही शेष रहती है। यह बात वेदादि शास्त्रों में और सिद्धों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध हैं। यही सिद्धान्त उमा-महेश्वर के संवादरूप निरुत्तर ग्रन्थ में भी कहा है। सकलभेदरहित होने से वह शक्ति अखण्ड रूप से व्यापक है। अतः वह अद्वितीय कहलाती है और उसका अन्य कोई आश्रय नहीं है तथा उसमें भी उस समय अन्य किसी की आश्रंयता का व्यवहार नहीं होता है। वह स्वप्रतिष्ठित और नाम-रूप से रहित है; अर्थात् जाति-गुण-क्रिया- इन का सम्बन्ध न रहने से उस समय उसमें किसी भी शब्द के व्यवहार की योग्यता नहीं रहती। अतः वह अकुल-पद से कही जाती है॥९॥

मू०– एवं कुलाकुलरूपासामरस्यप्रकाशभूमिका स्फुटीकरण एकैव मर्थायासाऽपरंपराशक्तिरेवावशिष्यते अपरंपरं निखिलविश्वप्रपञ्चजालं परतत्त्वं सम्पादयत्येकीकरोतीत्यपरा-शक्तिराज्ञावती प्रसिद्धा॥१०॥

सं० टी०–तद्दशायां प्राकृत यावद् व्यवहारविलोपेऽपि (अपरं परा-शक्तिरवशिष्यते) एकैव सावतिष्ठते। तत्र प्रमाणं किमिति शङ्कां दूरीकरोति कुलाकुलेत्यादि। कुलाकुलयोः सामरस्यस्य भूमिका या स्फूटीकरणमेकमेवार्थः प्रयोजनं यस्याः सा, एनां विना निजनिरतिशयानन्दानुभवाभावः प्रसज्येत्; अर्थात् तद्बलेनैव न कुलं नाकुलं नोभयमपि चेति विलक्षणस्यानुभवस्यावस्था समुद्घाट्यते। किञ्च तत्र समस्तविरञ्चिप्रपञ्चपाशं परतत्त्वरूपमेव समुपद्यते। या अपरं कुलं परमकुलमुभे एकं करोत्यतः साऽपरम्परा शक्तिर्व्यवह्रियते। इयमेवाज्ञावती नाम्ना प्रसिद्धास्ति॥१०॥

भा० टी०–पूर्वोक्त क्रम से कुलाकुलरूप वह शक्ति समरसरूप अभेद के प्रकाश की भूमि के स्फुट करने में पाँच प्रकार के कुल अवस्था भेद से तथा सर्वधर्मरहित अखण्डादिरूप अकुलावस्थाभेद से

तत्पर रहती है। अतः स्थिति, संहार और मोक्ष के देने में समर्थ मुख्य शक्ति ही है। वही शक्ति अपरम्परा निजा-आदि नाम से प्रसिद्ध सकल कार्यप्रपञ्च के आधाररूप से महाप्रलय में अवशिष्ट रहती है। अब अपरंपरा पदार्थ का निरूपण करते हैं। भूत-भौतिक स्थावर-जंगम सकल विश्वप्रपञ्च को परमेश्वररूप परम तत्त्व में संपादन करती हुई जो शक्ति एक कर देती है, इसी से उस शक्ति का अपरंपरा नाम हुआ और वह सर्वेश्वर परमनाथ की आज्ञावती नाम से भी प्रसिद्धा है॥१०॥

मू०– अकुलं कुलमाधत्ते कुलञ्चाकुलमिच्छति जलबुद्-बुद्वन्न्यायादेकाकारः परः शिवः॥११॥

सं० टी०–अकुलमद्वैतावस्था सृष्टिकालेऽकुलं द्वैतत्वमाधत्ते सम्पादयति एवमेव कुलं च प्रलय अकुले करोति। अयमभिसन्धिः- कुले द्वैतमेवानुभूयते अकुले चाद्वैतमेवातो न केवलं सदा कुलं नाकुलञ्च, किन्तु कार्यदर्शनेन द्वयमपि सङ्घटते। अतः समरसो जातः। अत्रैव दृष्टान्तमाह- जलबुद्बुद्वत् यथा कदाचित् बुद्बुदमेव मन्यते कदाचिच्चजलमेव, यदा च तत्त्वतो जलमेव मन्यमानो बुद्बुदमपि प्रातीतिकं मन्यते; तदा उभयोः समरसो जात एतादृश एकाकारः शक्त्यभिन्नः शिवः पायात् रक्षतु नः॥११॥

भा० टी०–शिव से अभिन्नशक्ति ही महाप्रलय में अकुलावस्था युक्त कहलाती है; क्योंकि उस समय नाम-रूप से विस्तृत चराचर समस्त जगत् का उपसंहार कर परमतत्त्व शिव में स्वयं मिल जाती है। अतः वह अकुल कहलाती है और जब सृष्टि का समय आता है, तब वही निजाशक्ति प्राणियों के कर्मों के साथ मिलकर परा-अपरा-सूक्ष्मादि भेद से कुल-रूप-व्यक्त अवस्था को धारण करती हुई सकल विश्व को रचती है, तब वह कुल कहलाती है और फिर प्रलय में अकुलावस्था युक्त ही जाती है। तात्पर्य यह है कि न वह द्वैतरूप कुल है और न अद्वैत रूप अकुल है। जैसे जल का स्वकार्य की अपेक्षा से फेनतरंग बुलबुला आदि नाम होता है और जल भी कहलाता है, परन्तु तत्त्व की दृष्टि से तो वह केवल जल ही है; इसी प्रकार द्वैत और अद्वैत से रहित सर्वाधिष्ठान पर अद्वैतरूप एक शिव ही सच्चा है। इस यथार्थ अभेद को

ही समरस कहते हैं।॥११॥

मू०– अत एवैकाकारो नन्तशक्तिमान् निजानन्दतयाव-स्थितोऽपि नानाकारत्वेन विलसन् स्वप्रतिष्ठां स्वयमेव भजतीति व्यवहारः। अलुप्तशक्तिमान्नित्यं सर्वाकारतयास्फुरन्पुनः- स्वेनैव रूपेण एक एवावशिष्यते॥१२॥

सं० टी०– अत एव द्वैताद्वैतोभयस्य समरसत्वादेव [**एकाकारः**] तत्त्वत एक एव [**अनन्तं शक्तिमान्**] तादात्म्यसम्बन्धेन शक्तिविशिष्टः [**निजानन्दतया**] परिपूर्णखण्डानन्दरूपेण [**अवस्थितोऽपि**] विद्यमानः सन्नपि [**नानाकारत्वेन**] मायिकदृष्ट्या घटपटाद्यनन्तभेदेन [**विलसन्**] विभ्राजमानः [**स्वप्रतिष्ठां**] स्वाश्रयतां [**स्वयमेव भजति**] प्राप्नोति, अयं भावो यथेयं पृथिवी व्यवहारेऽस्मदादिपार्थिवशरीराणामाधारः। तदभिप्रायेण पृथिवी पृथिव्या आश्रय, इतिव्यवहारो नानुपपन्नस्तत्वतरत्वभेदे आधाराधेयभावविरहान् नार्हस्तद् व्यवहारस्तथैव शिवशक्त्योर्भेदं परिकल्प्य, अभिन्नयापि शक्त्याऽऽ- धाराधेयभावोऽपि व्यवहरणीयः तत्त्वतस्तु सोऽपि न। एक एव शिवो वा शक्तिर्वेति सिद्धान्तः। [**अलुप्तशक्तिमान्**] शक्तिरहितः, कदापि न भवतीति राद्धान्तः शक्तेर्नित्यत्वात् न कर्मधारयान्मत्वर्थीय इति न्यायस्य लाघवमूलकत्वेन क्वचित्तदनादरस्यापि दर्शनम्; यथा व्याकरणभाष्येऽसुव्वतः गीतायामनादिमतपरब्रह्मेत्यादिबहवः प्रयोगा उपलभ्यन्ते [**सर्वाकारतया स्फुरन्**] सृष्टिदशायां उच्चावच-विश्वरूपेण भासमानः [**स्वेनैव रूपेणैक एवावशिष्यते**] चिद्रूपतस्तु एक एवावशिष्टो विद्यते॥१२॥

भा० टी०– अतः पूर्वोक्त अभेदरूप समरस की रीति से सबका अधिष्ठान अद्वितीय ब्रह्म ही व्यापकरूप से सर्वत्र विद्यमान है और वही तादात्म्य सम्बन्ध के द्वारा स्वशक्ति से नित्यसम्बद्ध होकर अनन्त शक्तिमान कहलाता है। इसीलिये वह परमेश्वर देव-दानव-मनुष्य, स्थावर-जंगम, जड-चेतन आदि नाना-आकार से व्यवहारदृष्टि द्वारा भासमान होने पर भी वास्तव में वह ब्रह्म स्वयं ही स्व-स्वरूपप्रतिष्ठा में सदा स्थित रहता है, उसका कोई आश्रय नहीं। किन्तु वही सब का आधार है। तात्पर्य यह है कि जैसे शरीर और घटादि का पृथ्वी तथा फेन

तरङ्गादि का जल कारण है, इसी से स्वकार्य शरीरघटादि और फेन तरङ्गादि का पृथ्वी तथा जल व्यवहारदृष्टि से आधार कहलाते हैं। परन्तु तात्त्विक विचार से तो कार्य और कारण अभेद होने से आश्रय-आश्रयी-भाव भी नहीं है। इसी प्रकार भेददृष्टि से वह शिव शक्ति का आधार भले ही भासमान हो, यथार्थ में तो आधार आधेय भाव भी नहीं हो सकता। क्योंकि शिव और शक्ति का नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है; जिसकी शक्ति कदापि कम न हो वही परमेश्वर नित्य सर्वशक्तिमान है। अतः जड-चेतन-स्थावर-जङ्गमादि संसाररूप से भी वह है। अतः जड-चेतन स्थावर-जङ्गमादि समस्त संसार-रूप से भी वह समुद्र के फेन-तरंगादि के समान व्यावहारिक प्रपञ्चावस्था से भासमान हो रहा है। फिर अन्त में वही परमेश्वर निज-व्यापक चिदखण्ड-स्वरूप से एक ही अवशेष रहता है॥१२॥

मू०– अत एव परमकारणं परमेश्वरः परात्परः शिवः स्वस्वरूपतया सर्वतोमुखः सर्वाकारतया स्फुरितुं शक्नोतीत्यतः शक्तिमान्, शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्त्तुं न किञ्चन। स्वशक्त्या सहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत्॥१३॥

सं० टी०–[अत एव] सर्वशक्तिमत्वादेव **[परमकारणम्]** सर्वेषां सूक्ष्मस्थूलपदार्थानां निदानभूतः **[परमेश्वरः]** आदिनाथः **[परात्परः शिवः]** अस्मदादितः परः श्रेष्ठो हिरण्यगर्भादिदेवस्ततोऽपि परः श्रेष्ठः कल्याणरूपो निखिलदुःखोच्छेदहेतुत्वात् **[स्वरूपतया]** चैतन्यरूपेण **[सर्वतोमुखः]** व्यापकः **[सर्वाकारतया स्फुरितुं शक्नोति]** रुद्रविष्ण्वादिनिखिलरूपेणावतरितुमर्हः। अत एव शक्तिसहितोयमिति सिद्धयति शक्तिरहिते विविधरूपत्वस्य स्वप्नेऽप्यसम्भवात्। यदि शिवः शक्तिरहितो भवेत् शक्तिवाचकस्येकारस्य निःसारणे शवो भवति। तदा **[किञ्चन]** किञ्चिदपि कार्यम् **[कर्त्तुं न शक्तः]** विधातुं न क्षमः स एव शक्तिसहितः **[सर्वस्य]** विश्वस्य **[अवभासकः]** निर्माता ज्ञापकश्च भवेदिति व्यतिरेकान्वयाभ्यां शक्तिसहितस्यैव निदानत्वेनोपादेयता॥१४॥

भा० टी०–सर्वशक्तिसम्पन्न होने से ही वह आदिनाथ परमेश्वर स्थूल-सूक्ष्म-सकल-भूत-भौतिक पदार्थों का परम आदिकारण है। इतना

ही नहीं, किन्तु सर्वजीवों से श्रेष्ठ परहिरण्यगर्भादि से भी परम श्रेष्ठ और कल्याणस्वरूप है; क्योंकि वह अपने भक्तों के स्मरणमात्र से ही उनके समस्त दुःखों का समूलोच्छेद कर भोग और मोक्ष देता है और वही शिव अपने चैतन्यस्वरूप से सर्वान्तर्यामी व्यापक है। अतः भूत-भौतिक-जडचेतनादि सब आकार धारण करने में समर्थ है। इसी से वह शिव शक्तिमान् कहलाता है। इस सन्दर्भ से यही भाव निकलता है; कि शक्तियुक्त ही महेश्वर सब काम करने में समर्थ है। अकेला नहीं। शक्तिरहित महेश्वर भी कुछ नहीं कर सकता। अतः वह शिव भी निज शक्तिसम्पन्न ही समस्त संसार की साक्षी कहलाता है॥१३॥

मू०– अत एवानन्तशक्तिमान् परमेश्वरः स विश्वरूपी विश्वमयो भवतीति प्रसिद्धं सिद्धानां च परापरस्वरूपा कुण्डलिनी वर्तते। अतस्ते पिण्डसिद्धाः प्रसिद्धाः सा कुण्डलिनीप्रबुद्धा चेति द्विधा। अप्रबुद्धेति तत्र पिण्डचेतनरूपा स्वभावेन नानाचिन्ताव्यापारोद्यमप्रपञ्चरूपाकुटिलस्वभावा-कुण्डलिनोख्याता सैव योगिनां तत्तद्विलसितविकाराणां निवारणोद्यमस्वरूपाकुण्डलिन्यूर्ध्वगामिनी प्रसिद्धा भवति॥१४॥

सं० टी०–परापरशक्तिः समष्टितया प्रधानं तस्यामेव सकलकार्य-कारिण्योऽवान्तरशक्तयो वर्तन्ते। [**अत एव**] परम्पराशक्तिमत्वादेव [**परमेश्वरोऽनन्तशक्तिमान्**] कथ्यते लौकिकवैदिकेषु। किञ्च स एव [**विश्वरूपी**] सकलरूपधारणपटुः [**विश्वमयः**] संसाररूपो भवतीति प्रख्यातम्। सैव परम्पराशक्तिः कुण्डलिनी भूत्वा योगिनां देहे वर्तते [**अतः कुण्डलिनीबलादेव पिण्डसिद्धाः**] कायसिद्धाः [**प्रसिद्धाः**] प्रख्याताः, कायसिद्धिर्नाम स्थूलशरीरस्यास्य सदा स्थितिः कदापि नाशो न भवतीति। एतत्प्रक्रिया समरसप्रकरणे वक्ष्यते। ननु कुण्डलिनी प्राणिमात्रदेहेषु वर्तते तत् कुतो योगिनामित्युक्तमत आह-सा कुण्डलिनी प्रबुद्धाऽप्रबुद्धेति भेदेन द्विविधा वर्तते। तत्राप्रबुद्धाया सर्वत्र सद्भावेऽपि कार्यसिद्धिहेतुभूता या प्रबुद्धा, सा तु योगिनाम वेत्यत उक्तं योगिनामिति।

सकलसाधारणतया प्रथममप्रबुद्धावर्ण्यतेऽप्रबुद्धतिनाम्ना व्यवह्रियमाण **[तत्र पिण्डेषु]** सकलप्राणिनिकरेषु चेतनरूपा **[स्वभावेन]** परमार्थतो नानाचिन्ता चिन्तातीताऽप्यौपाधिकचिन्तावती **[व्यापारोद्यम]** प्रपञ्चरूपा निखिलप्राकृतचेष्टा सम्पादिकाऽत एव **[कुटिल स्वभावा]** तिर्यग्रूपा मूलाधारस्थलिङ्गात्मक- मांसखण्डे सार्धत्रिवलयात्मिका एषाधोमुखी कुण्डलिनी सर्वत्र ख्याता वर्तते। सैव प्रबुद्धा सती योगिनां विग्रहेषु **[तत्तद्विलसित-विकाराणाम्]** प्राकृतनियमेन निखिलरोगाद्युपद्रवाणां **[निवारणोद्यमस्वरूपा]** विनाशाय व्यापारवती **[ऊर्ध्वगामिनी]** मूलाधारादूर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सञ्चरणं शीला कुण्डलिनी भवतीति प्रसिद्धाः॥१४॥

भा० टी०—सकल विश्व का प्रकाशक होने से ही सर्वशक्तियुक्त वह सर्वेश्वर अनन्तशक्तिसम्पन्न कहा जाता है और अपने शक्ति बल से ही निजभक्तों पर कृपा करने के लिये अनेक रूप धारण करने में समर्थ है या सर्व विश्व का अधिष्ठानभूत आधार होने से विश्वव्यापी कहलाता है। इसलिये सकल विश्वरूप भी वही है; अर्थात् उस चेतन से जगत् की सत्ता पृथक् नहीं है। अपितु वही अन्तर्यामी सब जगह संसाररूप हो जाता है। यह सिद्धान्त वेदादि शास्त्र और सिद्धों में भी प्रसिद्ध है। ईश्वर स्वशक्तिसम्पन्न है। अतः त्रिकालदर्शी और सब कार्य करने में समर्थ भले ही रहे कार्यसिद्धयोगी समर्थ क्यों कहलाते हैं। उनके पास तो ईश्वर जैसी शक्ति नहीं है; जिससे कि वे भी ईश्वर की तरह सत्यसंकल्प हों? इस शंका को समाधान यह है कि पराम्पर स्वरूपा शब्द और अर्थ सृष्टि के उत्पादन में समर्थ चित्त अचिद्रूरूप कुण्डलिनी सिद्धों के भी इस देहपिण्ड में विद्यमान है। यद्यपि वह सर्वत्र व्यापक है, तथपि देह में विशेषरूप से उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः इस देह में ही कुण्डलिनी के उत्थान व ध्यानादि से काया में सिद्ध हुये सकलंशक्ति-सम्पन्न अनेक सिद्ध प्रसिद्ध हैं। वह कुण्डलिनी प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध भेद से दो प्रकार की है। अब मूलाधार में रहने वाली अप्रबुद्ध कुण्डलिनी के कार्य को बतलाते हैं। यद्यपि इस देहपिण्ड में वर्तमान कुण्डलिनी स्वभाव से चेतनस्वरूप है; तथापि जब तक वह जगाई नहीं जाता, तब तक संसारी पुरुषों के लिये नाना प्रकार की शोक मोहादि चिन्ता और व्यापार आदि का संपादन करती हुई सकल जगत् प्रपञ्चरूप से भी वहीं

बन्धन का हेतु होती है। अतः अविवेकियों को जन्म-मरणरूप विपरीत फल देने से विपरीत स्वभाव कुण्डलिनी कहलाती है। अथवा जब तक मूलाधार में टेढ़ी गति और अधोमुखी होकर रहती है, तब तक वही जन्म-मरण-रूप फल देती है। और इस शरीर में जगी हुई वही कुण्डलिनी जब अच्छी तरह सहस्रदल तक संचार करती है, तब योगियों के समस्त जन्म-मरण-दुःख-रूप फलों के देने वाले कर्म और मनों के विकारों को दूर करने में समर्थ होती है। यह बात सिद्धों में प्रसिद्ध है॥१४॥

मू०– ऊर्ध्वमिति सर्वतत्त्वान्यपि स्वस्वरूपमेवेत्यूर्ध्वे वर्तते। अत एव सा विमर्शरूपिणी योगिनः स्वस्वरूपमवगच्छन्तीति सुप्रसिद्धा॥१५॥

सं०टी०–क ऊर्ध्वपदार्थः कथं च तद्गामित्वं कुण्डलिन्या इति विव्रियते, ऊर्ध्वमिति स्वपरिणामभूतानि सकलान्याकाशादि तत्त्वानि तानि सर्वाणि [**स्वस्वरूपमेव**] स्वाभिन्नानि स्वकीयविकृतिरूपत्वात्। अयमाशयः- कारणभूता कुण्डलिनी कार्यरूपाणि च तत्त्वानि कारणं विना कार्यं नावतिष्ठते। अतः कार्यो परिगमनशीलता कारणस्येति कार्यस्य चोद्रेकावस्थातः पूर्वस्योर्ध्वत्वं परिकल्प्य तथा ऊर्ध्वगामिनीत्युक्तं तेन सर्वं प्रति निदानता सूचिता भवतीति। अत एव तस्याः सर्वस्वरूपत्वादेव सर्वैः सह तादात्म्य वेदनेनविमर्शरूपिणी क्वचिद् व्यवह्रियते। एतद्वलादेवयोगिनः स्वस्वरूपम्। अवगच्छन्ति जानन्ती-त्यर्थः॥१५॥

भा०टी०–यहाँ ऊर्ध्व- पद का भाव यह है कि समस्त आकाशादि भूत भौतिक पदार्थ कुण्डलिनी शक्ति से उत्पन्न होते हैं। अतः कार्यों की कारणों से भिन्न सत्ता नहीं। जैसे मिट्टी का कार्य घटादि मिट्टी स्वरूप ही है। इसी तरह सकल प्रपञ्च भी कुण्डलिनीस्वरूप है। इसी से कुण्डलिनी देवी सर्वकार्यों से ऊपर विराजमान है। अतः इसको विमर्शरूप विद्या भी कहते हैं; क्योंकि योगियों के शरीर में जागृत हुई यह कुण्डलिनी उनके शुद्ध व्यापक आत्मा के स्वरूप का भी भली प्रकार ज्ञान करा देती है- यह बात सिद्ध योगियों में प्रसिद्ध है॥१५॥

मू०–

मध्यशक्तिप्रबोधेन अधःशक्तिनिकुञ्चनात्।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम्॥१६॥

सं० टी०–मध्यशक्तिर्नाभिदेशस्थ कुण्डलिनी, तस्याः प्रबोधेन जागरणेन, अधःशक्तिमूलाधारस्थ कुण्डलिनी, तस्या निकुञ्चनादुत्थापनात्। ऊर्ध्वशक्तिः–सहस्रारस्थशिवशक्तिः, तस्यां निपातेन संयोजनेन परमं पदं मोक्षपदं प्राप्यते लभ्यत इत्यर्थः। अथवा मध्यशक्तिः ज्ञानस्वरूपा कुण्डलिनी तस्याः 'प्रबोधेन' जागरणेन अधःशक्तिनिकुञ्चनात् अधःशक्तेर्विषयाभिमुखबुद्धिशक्तेर्निकुञ्चनात् सङ्कोचनादूर्ध्वशक्तिनिपातनेन ऊर्ध्वशक्तेः अहमेव सर्वं नान्यन्मत्तः किञ्चिदिति विमर्शशक्तेः निपातनेन सम्बन्धेन परंपदं, मोक्षपदं प्राप्यते लब्धमेवाविद्यापिधानापनयनेन लभ्यत इत्युपचारः।॥१६॥

भा० टी०–मणिपूर चक्र में स्थित मध्य शक्ति कुण्डलिनी के जगाने से तथा मूलाधारस्थ नीचे की शक्ति के आकर्षण से और ऊपर को शक्ति का पात करने से परपद की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि गुदा से दो अंगुल ऊपर और लिङ्ग से दो अंगुल नीचे चार अंगुल चौड़ा चतुर्दल आधार पद्म है। उस आधार कमल के बीच कर्णिका में सुशोभित त्रिकोणाकार योनि है, इसी को काम पीठ भी कहते हैं। इसी योनिमण्डल के मध्य पश्चिममुख महाशिवलिङ्ग है। उस शिवालिङ्ग को साढ़े तीन चक्र से लपेटकर नीचे को मुँह किये हुये बिजली की प्रभा के समान चमकती हुई सुषुम्णा के रास्ते को रोके हुए महाकुण्डलिनी देवी विराजमान है। उसका अपानवायु के निकुञ्चन तथा ध्यान से उत्थान किया जाता है अर्थात् वह सुषुम्णाद्वार को छोड़ देती है। तथा नाभिचक्र में आठ बार लपेट खाए हुए मध्य कुण्डलिनी विराजमान है। इसका उत्थान जालन्धर उड्डियान मूलबन्ध और हठयोग की क्रियाओं से किया जाता है और प्राणशक्ति को अपान के साथ मिला देना ऊर्ध्वशक्ति पात कहलाता है, या जगी हुई कुण्डलिनी को सहस्रदल में पहुँचा देना ऊर्ध्वशक्तिपात कहा जाता है। अर्थात् प्राण अपान की एकतापूर्वक तीनों बन्धों के अच्छी प्रकार सिद्ध हो जाने से कुण्डलिनी देवी सुषुम्णा में प्रवेशकर ऊपर को जाते समय अपूर्व भावना को प्रकट

करती हुई क्रम से ब्रह्म, विष्णु और रुद्र ग्रन्थियों को भेदन कर सब चक्र कमलों को विकासकर देती है। जब वह ग्रीवा से ऊपर सहस्त्रदल में पहुँचती है, तब प्राण इन्द्रियाँ और मन का व्यापार भी रुक जाता है और शून्य समाधि हो जाती है। उस जगह काल की भी गति नहीं है। उसी परम पद को मोक्ष कहते हैं।

मू०– एकैव सामध्योर्ध्वाधःप्रभेदेन त्रिधा भिन्ना शक्तिरभिधीयते॥१७॥

सं० टी०–वस्तुत एकैव सा कुण्डलिनी मध्योर्ध्वाधोदेशानां भेदात्। **[त्रिधा]** त्रिप्रकारा **[भिन्नां]** पृथक् **[अभिधीयते]** कथ्यते॥१७॥

भा० टी०–यद्यपि वह कुण्डलिनीशक्ति एक ही है, तथापि स्थान और सूम स्थूल भेद से तीन प्रकार की कहलाती है; अर्थात् मूलाधारस्थ कुण्डलिनी सूक्ष्म अबोध रूप और सबका कारण कही जाती है तथा नाभिस्थ मध्यमा कुण्डलिनी बोधरूप कहलाती है। फिर वही शक्ति जब ऊपर को गमन करती है, तब बोधजनक कल्याणकारिणी ऊर्ध्वशक्ति कही जाती है। इस प्रकार एक ही शक्ति मध्य, ऊर्ध्व और अधोभेद से भिन्न-भिन्न कही जाती है।॥१७॥

मू०– बाह्येन्द्रियव्यापारनानाचिन्तामया सैवाधःशक्तिरित्युच्यते। अत एव योगिनस्तस्या आकुञ्चनेरता यस्या आकुञ्चनं मूलाधारबन्धनात् सिद्धं स्यात्॥१८॥

सं० टी०– काऽःशक्तिरिति स्वयमेवं व्याख्यायते। बाह्येति या बाह्येन्द्रियव्यापारकृतसांसारिकविषयचिन्तनपरा सा एवाधःशक्तिरिति कथ्यते। **[अतएव]** सांसारिकत्वादेव योगिनः **[तस्याः]** अधःशक्तेः **[आकुञ्चने]** सङ्कोचने **[रताः]** तत्परा भवेयुरितिक्रियाक्षेपः कस्माद्देशादाकुञ्चनं विधेयमित्युपदिश्यते **[अस्या इति] [अस्याः]** अधःशक्तेः **[आकुञ्चनम्]** सकोचनं **[मूलाधारात्]** मूलाधारदेशत इति पूर्वं वर्णितम्। तत एव **[सिद्धम्]** सम्पन्नं स्यात् भवेत्। अयम्भावो हठप्रक्रिययापानवायोरधोदेशादूर्ध्व आकर्षणं प्राणवायोश्चाधो नियमनं खेचरी जालन्धरमहाबन्धादिद्वारा कर्तव्यं तेन मध्यशक्तेः कुण्डलिन्याः प्रबोधो भवति। ततश्च संसारोच्छित्तिः परमानन्दप्राप्तिश्च करतले तिष्ठति॥१८॥

भा०टी०–अब अधःशक्ति का निरूपण करते हैं। बाहर की इन्द्रियों के व्यापार से जो अनेक चिन्ताएँ होती है, उनका कारण अधःशक्ति कही जाती है; अर्थात् जब तक उसके यथार्थ स्वरूप को न जानकर योगाभ्यास द्वारा उत्थान न किया जाय, तब तक वह संसार के बन्धनों में फंसाये रखती है और नीचे गिरा देती है। अतः यथा नाम तथा गुण के अनुसार अधःशक्ति उसका नाम सार्थक हुआ और जब योगक्रिया द्वारा उसका उत्थान किया जाता है, तब वही चेतन ब्रह्मस्वरूप वाली मोक्ष देने में समर्थ हो जाती है। इसलिये सिद्धयोगिजन उस मूलाधारस्थ शक्ति के आकुञ्चन में तत्पर रहते हैं और इसका आकुञ्चन मूलाधार-आदि के बन्धन से सिद्ध होता है॥१८॥

मू०– यस्माच्चराचरं जगदिदं चिदचिदात्मकं प्रभवति तदेव मूलाधारं संवित्प्रसरं प्रसिद्धम्।

सं० टी०–[यस्माच्चराचरं जगदिदं] निखिलस्थावरजंगमात्मक-संसारोऽयम् **[चिदचिदात्मकम्]** जडचेतनरूपं यस्माच् शक्तितत्त्वात् **[भवति]** उत्पद्यते तदेव शक्तितत्त्वं **[मूलाधारसंवित्प्रसरम्]** ज्ञानप्रसारभूमिः **[प्रसिद्धम्]** सिद्धेषु शास्त्रेषु च॥१९॥

भा० टी०– अब पूर्वोक्त मूलाधार-पद के अर्थ का निरूपण करते हैं, जिससे पहले-पहल भूत-भौतिक स्थावर-जंगम, जड-चेतन-रूप समस्त जगत् का प्रादुर्भाव होता है वही परमकारण मूलाधार नाम से कहा जाता है। यह वर्णन व्यष्टि-समष्टि के अभेद को लेकर किया है। मूलाधार कामपीठ के ध्यान और उसी के प्रसरण तथा संकोचपूर्वक कुण्डलिनी-उत्थान से ज्ञान की वृद्धि होती है और त्रिकालदर्शी बन जाता है तथा जगत् की रचना, स्थिति और संहार की सामर्थ्य होती है। यह बात योगशास्त्र में सर्वत्र प्रसिद्ध है॥१९॥

मू०– सर्वशक्तिप्रसरसंकोचाभ्यां जगत्सृष्टिः संहृतिश्च भवत्येव न सन्देहस्तस्मात्सामूलमित्युच्यते। अतः प्रायेण सर्वे सिद्धा मूलाधाररता भवन्ति॥२०॥

सं० टी०– [सर्वशक्त्यां] समष्टिरूपायां **[मूलशक्तौ]** शक्ति-

संकोचाभ्यां शक्तिपदेनोपचारात् तदीय व्यापाररूपविकाश उच्यते तथा च विकाशसंकोचाभ्यामुन्मेषनिमेषाभ्यामिति यावत् जगत्सृष्टिः जगतः संसारस्य सृष्टिरुत्पत्तिः [**संहृतिः**] प्रलयश्च भवत्येव न सन्देहः कर्तव्यः। तस्मात् सर्वोपादानक्षमत्वात् सा शक्तिर्मूलमित्युच्यते श्रुतिस्मृतिषु। [**अतः**] मूलाधारत्वादेव [**सर्वसिद्धाः**] सकलयोगिनः [**मूलाधाररताः**] मूलाधारस्थ-शक्तिप्रबोधने तत्परा भवन्ति॥२०॥

भा० टी०–जिस मूलशक्ति के बल से ईश्वर जगत् की रचना-आदि का कर्ता है, वही शक्ति योगियों के मूलाधार में है। उस मूलाधार शक्ति के ध्यानादि से जब वह योगी सर्वसमर्थ हो जाता है, तब उसी मूलाधारशक्ति के विकास और संकोच से जगत् की उत्पत्ति-संहारादि कर सकता है- इसमें सन्देह नहीं। अतः जो सब कार्यों के उत्पादन में समर्थ है, उसी को 'मूलशक्ति' कहते हैं। इसी से प्रायः सब सिद्ध मूलाधार शक्ति के ध्यान में तत्पर रहते हैं॥२०॥

मू०– तरङ्गितस्वभावं जीवात्मानं वृथाभ्रमन्तमपि स्वप्रकाशमध्ये स्वस्वरूपतया सदाधारयितुं समर्था या सा कुण्डलिनीमध्याशक्तिर्गीयते स्थूलसूक्ष्मरूपेण महासिद्धानां प्रतीयत इति निश्चयः॥२१॥

सं० टी०–(तरङ्गितस्वभावम्) समुद्रतरङ्गवत् स्वरूपमाचारक्विबन्त-तरङ्गधातोः क्तप्रत्यये तरंगितशब्दस्ततो बहुव्रीहिः। वृथाभ्रमन्तम् अविद्यावशान्मोमुह्यमानतया शाश्वतिकमोक्षोपायमपास्य नश्वरसांसारिक-विषयलिप्सया तत्पथेषु पर्यटन्तम्, अपि शब्दादव्याप्रियमाणं जीवात्मानं स्वप्रकाशमध्ये स्वकीयविततप्रकाशाभ्यन्तरे स्वस्वरूपतया स्वीयसत्तया सदाधारयितुं या शक्तिः समर्था, सा शक्तिः कुण्डलिनी इति गीयते। अयम्भावः। यथा समुद्रो व्यापकस्तस्य तरङ्गास्तदुपरि सञ्चरन्ति तेषामाधारः समुद्रस्य तत्तद्देशस्तथा समुद्रस्थानीया निजाशक्तिर्व्यापिकैका तस्यास्तरङ्गस्थानीया विकारभूता जीवशक्तयस्तासामाधारभूतनिजाशक्तेस्तत्तदेकदेशीयाः शक्तयः। सैव परमात्मजीवापेक्षया मध्याशक्तिः, सैव च कुण्डलिनीपदेन प्रख्यायते। सापि महासिद्धानां दृष्ट्या मणिपूरे स्थूलरूपा मूलाधारे सूक्ष्मरूपा च प्रतीयत इति निश्चयो योगिनाम्॥२१॥

भा० टी०–अब मध्यशक्ति कुण्डलिनी के कार्य का वर्णन करते हैं– वह कुण्डलिनी चिद्रूप होने से जीव का असली स्वरूप है। अतः चंचलस्वरूप तथा व्यर्थ ही विषयरूप मृगतृष्णा में भ्रमण करने वाले जीवात्मा को भी निज-शुद्ध-व्यापक आत्मप्रकाश में सदा स्थापित करने में जो शक्ति समर्थ है, वही मध्य कुण्डलिनी नाम से कही जाती है। तात्पर्य यह है कि जब तक मध्य कुण्डलिनी का उत्थान न किया जाय, तब तक कर्म पाश में बँधा हुआ यह जीवात्मा जन्म-मरण-रूप दुःख-परम्परा का अनुभव करता है और वही जीवात्मा जब पूर्वजन्म में किये हुये पुण्यकर्म के प्रभाव से ईश्वर की कृपा का पात्र हो सिद्ध गुरु की दया से मध्य कुण्डलिनी को विधिपूर्वक जानकर जगा देता है; तब उसका योग सिद्ध हो जाता है। उस समय वह शक्ति ही उसको सहजानन्द आत्मस्वरूप में भली प्रकार से प्रतिष्ठित कर देती है। अतः जगाई हुई मध्य कुण्डलिनी अत्यन्त कल्याणस्वरूप है। वह कुण्डलिनी स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार ही है। इस दो प्रकार की कुण्डलिनी को महासिद्ध ही भलीभांति जानते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं॥२१॥

मू०– स्थूलेति निखिलग्राह्याधारविग्राह्यस्वरूपापि पदार्थान्तरे भ्राम्यमाणा चिद्रूपाया वर्तते, सा कुण्डलिनी साकारास्थूलापुनस्त्वियमेव स्वप्रसारचातुर्यतया वर्तमाना योगिनां परमानन्दतया कुण्डलिनी या निश्चयभूता वर्तते, सा सूक्ष्मा निराकारा प्रबुद्धा महासिद्धानां मते प्रसिद्धा॥२२॥

सं० टी०–स्थूलनिरूपणमन्तरा सूक्ष्मनिरूपणं न सम्यग् बुद्धिमधिरोहतीत्यतः प्रथमं स्थूला, निरूप्यते स्वतस्तु सा कुण्डलिनी चिद्रूपा वर्तते **[यदाऽर्थान्तरे]** यस्मिन्काले रूपादिविषये **[भ्राम्यमाणा]** सञ्चारिणी भवतीति शेषः। तदेत्याक्षेपः **[निखिलग्राह्याणाम्]** रूपादिविषयाणाम् (आधारः) उपरक्तासती (ग्राह्यस्वरूपापि) रूपाद्याकारापि भवति। प्रत्येकं मूलाधारे स्थिता सार्धत्रिवलयान्विता नाडीरूपा सा स्थूला कुण्डलिनी। इदमत्र बोध्यं यदियमपि साधारणलोकदृष्ट्या सूक्ष्मैव सर्वेषामगोचरत्वात् किन्तु योगिदृष्ट्या केवलचिद्रूपापेक्षया स्थूला कथ्यन्त इति। पुनस्तु पूर्वमपि चिद्रूपैवासीत्-साम्प्रतं विषयसम्बन्धेन विषयस्वरूपापि पुनः **[इयमेव]**

विषयस्वरूपा सैवेयं विषयसम्बन्धं विहाय [**स्वप्रसारचातुर्य्यतया**] स्वस्वरूपमात्रसाक्षितया [**वर्तमाना निर्णीता विद्यमाना योगिनां परानन्दतया**] परमानन्दरूपेण [**निश्चयभूता**] निर्णीता या कुण्डलिनी सा [**सूक्ष्मा निकारा, आकाररहिताऽतो न स्थूला**] प्रबुद्धा जागरिता महासिद्धानां मते प्रसिद्धा, महासिद्धेर्ज्ञायते न तु साधारणसज्जनैरितिभावः ॥22॥

भा० टी०—ऊपर स्थूल-सूक्ष्म-नाममात्र से बताई हुई दो प्रकार की कुण्डलिनियों में से पहले स्थूल कुण्डलिनी के स्वरूप को दिखाते हैं। यद्यपि मूलाधारस्थ कुण्डलिनी अति सूक्ष्म है, तथापि शब्दात्मक स्थूल जगत को तथा पञ्चभूतात्मक अर्थ सृष्टि को उत्पन्न करने से वह भी स्थूल कहलाती हैं। अतः कार्यरूप से वह सकल प्राणियों के इन्द्रिय गोचर हुई एवं सब भूत-भौतिक वस्तुओं का अधिष्ठान भूत आधार भी वही है; क्योंकि कारण के बिना कार्य की स्थिति रहना सर्वथा असम्भव है। जैसे मिट्टी के बिना घट कार्य नहीं रह सकता। इसीलिये वह कुण्डलिनी सब कार्यों में अनुगत रूप से विद्यमान है। वास्तव में वह चेतनस्वरूप वाणी से अगोचर और सर्वदेवों से वन्दनीय कामपीठ है तो भी जगत् की रचना में निरन्तर उद्यत रहती है। इसी से स्थूल जगत् की सृष्टिरूप वह कुण्डलिनी साकार स्थूल कहलाती है। फिर निज विस्तार कौशल से नाभिस्थान में वर्तमान वही चिद्रूपा कुण्डलिनी पूर्वोक्त विषय सम्बन्ध को छोड़कर अपने चैतन्यस्वरूप से जब सब जगह व्यापक भाव से विद्यमान होती है। तब वही प्रबुद्ध कुण्डलिनी योगियों को परम आनन्ददायक व्यापार अखण्ड अपने आत्मा का निश्चय कराती है। अतः वह प्रबुद्ध होने से निराकार व्यापक सूक्ष्मरूप से सर्वत्र रहती है। यह योगनिपुण महासिद्धों में प्रसिद्ध है॥२२॥

मू०— सृष्टिः कुण्डलिनी ख्याता द्विधा भागवती तु सा। एकधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्यगात्मिका। अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापकवर्जिता। तस्या भेदं न जानाति मोहिता प्रत्ययेन तु॥२३॥

सं० टी०— [सृष्टिः] सृज्यतेऽनयेति करणं साधनं तथा च

संसारकारिणी शक्तिः। [**कुण्डलिनी ख्याता**] तन्नाम्नी प्रसिद्धा सर्वत्र सा [**द्विधा भागवती**] द्विप्रकारा तत्र या [**लोकानां प्रत्यगात्मिका**] प्रत्येकं प्राणिषु मूलाधारे सार्धत्रिवलयरूपेण विद्यमाना सा स्थूलरूपा व्यवह्रियते। या तु [**अपरा**] अन्या [**सर्वगा**] सर्वगामिनी समष्टिरूपा सा सूक्ष्मा वस्तुतस्तस्या अतीन्द्रियत्वेन व्याप्ति व्यापकभावाद्यनिश्चयेन [**व्याप्तिव्यापक-वर्जिता**] तद्रहिता तदेवाह [**तस्याः**] सूक्ष्मायाः [**भेदं**] स्थितिविशेषकोऽपि न जानाति। अज्ञाने, हेतुमाह– [**प्रत्ययेन**] लौकिकविषयविज्ञानेन [**मोहिता**] आच्छादिता सा शक्तिः॥२३॥

भा० टी०– समस्त प्राणियों के मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी सबका जीवन निर्वाह करती है। इसी से वह प्रत्येक आत्मा में व्यापक और अति सूक्ष्म है। वही परमेश्वर– सम्बन्धी कुण्डलिनी दो प्रकार की कही जाती है। एक स्थूलरूप कहलाती है; क्योंकि वह स्थूल जगत् को रचती है। अतः स्थूल सृष्टि को रचने से वह सृष्टि कुण्डलिनी नाम से भी प्रसिद्ध है। दूसरी नाभिचक्र में प्रबुद्ध की हुई, जब ऊर्ध्वगति वाली होती है। जब वही उपाधि-सम्बन्ध को छोड़कर अवयवरहित अखण्डस्वरूप में प्रतिष्ठित होती हुई सर्वत्र व्यापक कहलाती है। वास्तव में तो उस समय वह व्याप्य व्यापक भाव से रहित लम्पट दुर्बुद्धि पुरुष विपरीत और मिथ्याध्यास से स्त्री-पुत्रादि में आसक्त हुये उस कुण्डलिनी के यथार्थरूप को नहीं जानते। इसी से वे जन्म-मरण-रूप दुःख-परम्परा का अनुभव करते हैं। जो योगी इसके यथार्थरूप को जानकर नाभिचक्र में प्रबुद्ध कर योगाभ्यास द्वारा ऊपर को संचारित करते हैं। उनके लिये वह मोक्ष का द्वार खोल देती है॥२३॥

मू०– तस्मात् सूक्ष्मा परा संवित् स्वरूपा मध्या शक्तिः कुण्डलिनी योगिभिर्देहसिद्ध्यर्थं सद्गुरुमुखाज्ज्ञात्वा स्वस्वरूपदशायां प्रबोधनीया॥२४॥

भा० टी०–[**तस्मात्**] पूर्वोक्तकारणात् [**संवित्स्वरूपा**] चिन्तात्र रूपिणी [**सूक्ष्मा**] विषयरहित [**मध्या शक्तिः**] विषयसंवलितां वा मूलाधार-मणिपूरस्था कुण्डलिनी योगिभिः [**स्वस्वरूपदशायां**] स्वकीयरूपावस्थायाम् [**प्रबोधनीया**] उत्थापनीया स्वस्वरूपज्ञानमन्तरातदुपस्थापनमशक्यमत आह–

[सद्गुरुमुखात्] शास्त्रज्ञोऽनुष्ठानप्रकारज्ञोऽनुष्ठाननिरतश्च सद्गुरुस्तस्य मुखात् तस्य सदुपदेशतो ज्ञात्वा। ननु तत्प्रबोधनेन किं फलमित्याह देहसिद्ध्यर्थं प्रबोधे सति मृत्युभयं विहत्य त्रैलोक्ये यथा कामरूपेण विहरति, ततो देहसिद्धः प्रयोजनम्॥२४॥

भा० टी०–पूर्वोक्त प्रकार से जगाई हुई सूक्ष्मा शक्ति ही ज्ञानस्वरूप व्यापक कहलाती है और अप्रबुद्ध दशा में परिच्छिन्न नाभिप्रदेश में स्थित होने से वही मध्य कुण्डलिनी शक्ति कही जाती है। काल के ऊपर विजय पाने और मोक्ष के लिये देहसिद्धि के निमित्त गुरुमुख द्वारा जानकर अखण्ड आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये उस मध्य कुण्डलिनी शक्ति को जगाना योगियों को जरूरी है; क्योंकि उस कुण्डलिनी के न जागने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। अत एव "ऊर्ध्वशक्ति निपात" का उपदेश किया जाता है॥२४॥

मू०– अथ ऊर्ध्वशक्तिनिपातः कथ्यते– सर्वेषां तत्त्वानामुपरिवर्तमानत्वान्निर्नामपरमं पदमेवमूर्द्ध्वं प्रसिद्धन्तस्याः स्वसंवेदननानासाक्षात्कारसूचनीशीलाया सोर्ध्वशक्तिरभिधीयते। तस्यानिपातनमिति स्वस्वरूपा द्विधाभासनिरासः, किन्तु स्वस्वरूपा खण्डत्वेन भवति।।२५।।

सं० टी०– [अथ] शक्तिकथनादनन्तरम्। मूलश्लोक ऊर्ध्वं शक्तिनिपातः कथ्यते– मूलश्लोकस्थतत्पदीयतात्पर्यं वर्ण्यते। तत्रोर्ध्वत्वं कथमिति सङ्घटयति **[सर्वेषाम्]** प्रकृत्यादीनां पदार्थानाम् **[उपरिवर्तमानत्वात्]** कारणतया कार्यतः प्रागपि विद्यमानत्वात् **[निर्नाम]** नामरहितं **[परंपदम्]** आदिनाथः **[एवमूर्ध्वं प्रसिद्धम्, ऊर्ध्वपदेन शास्त्रे लोके च व्यह्रियते तस्य या स्वसंवेदननानासाक्षात्कारशीला]** स्वप्रकाशासती निखिलविषयकप्रत्यक्षकारणस्वभावा **[अयमाशयः]** अन्यस्य स्वरूपस्य च साक्षात् कारिणी चिद्रूपा कूटस्थचिद्ब्रह्माश्रिता सैर्वार्ध्यशक्तिरभिधीयते। ऊर्ध्वशक्तिपदार्थं प्रदर्श्य तस्य निपातनपदार्थो व्याख्यायते। **[स्वस्वरूपद्विधाभासनिरासः]** स्वस्य स्वरूपस्य द्विधाभासो भेदबुद्धिः **[अहं त्वत्तोभिन्नो मत्तस्त्वं भिन्नो वेत्याकारिका। तस्य निरासः परित्यागः किन्तु स्वस्वरूपा]** स्वरूपमात्रसाक्षिणी **[अखण्डत्वेन भवति]** एतावानिति परिच्छेदबोधः

खण्डस्तद्रहितत्वेन रूपेण भवति। अयमाशयः- स्वरूपभानं भवति किन्तु। अहं त्वमयञ्चेति पुरुषत्रयस्य भानं नास्तीत्येतादृशबोध सम्पादनमेव निर्नामपदार्थः॥२५॥

भा० टी०–सब पदार्थों से ऊपर वर्तमान और नाम-रूपादि सामान्य और विशेष धर्म से रहित अद्वैतरूप परंपद ही ऊर्ध्व संकेत से प्रसिद्ध है। उसपर ब्रह्म के अखण्डस्वरूप का तथा स्वस्वरूप का नाना प्रकार से अद्भुत चैतन्य के साक्षात्कार कराने में जो शक्ति तत्पर होती है वह भी ऊर्ध्व शक्ति कहलाती है, उस शक्ति के निपातन (ऊर्ध्वनिपात) का अभिप्राय यह है कि अज्ञान अवस्था से युक्तजीव अपने को भिन्न मान रहा है कि मैं भिन्न सुख दुःखादि का भोक्ता हूँ और कर्म फल के देने वाला सर्वेश्वर मेरे से अलग है। इस प्रकार द्वैतरूप से आत्मभेद की प्रतीति होना ही बन्धन का मुख्य कारण है। प्रबुद्ध और व्यापक कुण्डलिनी उस भेदरूप आभासमात्र को भी निराकरण कर अपने से अभिन्न जीवात्मा और परमात्मा के व्यापकस्वरूप का ज्ञान करती हुई आत्मा को भली प्रकार से स्वस्वरूप में अवस्थित कर देती है। अतः उस कुण्डलिनी की कृपा से अखण्ड अपने स्वरूप में व्यापक हो जाता है, यह ऊर्ध्व शक्तिनिपात का अर्थ है॥२५॥

मू०– शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेराभ्यन्तरः शिवः। अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरवि॥२६॥

सं० टी०–शिवो व्यापकस्तदीया शक्तिरपि व्यापिकैव तथा च शिवस्य मध्ये शक्तिः शक्तेर्वामध्ये शिव इत्युभय व्यवहारः समुचित एव। किञ्चोभयोर्भेदाभावेऽप्युभयव्यवहारो भवतीति स दृष्टान्तमाहोत्तरार्द्धेन यथा पिण्डीभूतस्य चन्द्रस्य विरलावस्थ चन्द्रिकया सह वस्तुतो भेदाभावेऽपि विरलत्वपिण्डत्वोपाधिप्रयुक्तभेदमादायोभयव्यवहारस्तथैवात्रापि सङ्कोच-विकाशशालीत्वकूटस्थत्वोपाधिवशाद्वस्तुतो भेदाभावेऽपि भेदमादाय शिव-शक्तिव्यवहारः। दृष्टान्तस्य परिच्छिन्नत्वेन वास्तविकमपि विरलत्वं पिण्डत्वञ्च दार्ष्टान्तिके तूभयोर्व्यापकत्वादुपाधी अप्यनिर्वचनीयाविति सूचयितु माह– अन्तरं नैव जानीयात्। नैव भेदं ज्ञातुं शक्नुयादिति प्रकाशत्वेन भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारस्योभयत्र साम्यमादाय दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावो ज्ञेयः॥२६॥

भा० टी०–कूटस्थ, असङ्ग शिव व्यापकरूप से सर्वत्र विद्यमान है एवं उस असङ्गशिव की सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली चिद्रूप शक्ति भी व्यापक है। शिव-शक्ति में है या शक्ति शिव में है। इसका उत्तर यह है कि जब शिव और शक्ति- दोनों ही चिद्रूप और व्यापक हैं। तब यही भाव निकलता है कि पर शिव में शक्ति और शक्ति में शिव नित्य सम्बन्ध होकर रहते हैं। जैसे चन्द्रमा की चाँदनी चन्द्रमा से भिन्न नहीं। केवल प्रकाश के पिण्डसमुदाय का नाम चन्द्रमा है और विरल प्रकाश का नाम चाँदनी है, परन्तु पिण्डत्व और विरलत्व धर्म को छोड़कर प्रकाश में कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार चिद्रूप शिव और शक्ति में भी भेद नहीं है। केवल कूटस्थ असङ्ग चेतन का नाम शिव है और संकोच-विकाश-शालिनी चित् का नाम शक्ति है। अतः कूटस्थपन और संकोच विकासशाली धर्म को लेकर शिव और शक्ति का व्यावहारिक भेद भले ही रहे, परन्तु परमार्थ विचार से शिव शक्ति में कोई भेद नहीं; क्योंकि दोनों चित् और व्यापक होने से नित्य सम्बद्ध हैं॥२६॥

मू०– अत ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन योगिभिः परमं पदं प्राप्यत इति सिद्धम्॥२७॥

सं० टी०–[अतः] उभयोरभेदादेव **[ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन]** कुण्डलिन्याः प्रबोधोत्थानद्वारा सहस्रारस्थपरमात्मशक्त्या सहैक्ये सति **[योगिभिः]** योगाभ्यासशालिभिः। न तु शाब्दिकज्ञानमात्रेणात्मानं कृतकृत्यं मन्वानैरलसधौरेयैः। परं पदं प्राप्यते मुक्तोभवति, **[इति सिद्धम्]**। नात्र सन्देहो विधेय इति॥२७॥

भा० टी०–शिव और शक्ति का अभेद होने से ही ऊर्ध्वशक्ति निपात द्वारा योगाभ्यास की मुद्राओं के अच्छी तरह साधन से कुण्डलिनी के उत्थानपूर्वक महासिद्ध योगियों को परमपद की प्राप्ति होती है॥२७॥

मू०–

सत्त्वे सत्त्वे सकलरचना राजते संविदेका।
तत्त्वे तत्त्वे परममहिमा संविदेवावभाति॥

भावे भावे बहुलतरला लम्पटा संविदेषा।
भासे भासे भजनचतुरा बृंहिता संविदेव॥२८॥

सं० टी०—चिद्रूपस्य व्यापकत्वप्रदर्शनाय सर्वत्र सद्भावः प्रदर्श्यते श्लोकेनानेन [**सत्त्वे सत्त्वे**] सकलद्रव्येषु [**सकलरचना**] समस्तावयव-संश्लेषकारिणी [**एका संवित्**] चिदेव [**राजते**] शोभते चित्सद्भावमन्तरा द्रव्यावयवसंघातस्यासम्भवो भवेदतश्चेतन प्रयुक्तैवावयवसमुदायात्मक-द्रव्यस्थितिः। एवं [**तत्त्वे तत्त्वे**] प्रकृत्यादिनिखिलपदार्थेषु [**परममहिमा**] महत्त्वविशिष्टा सत्ता [**संविदेव**] चिदेव [**अवभाति**] प्रकाशते चैतन्याधीनैव जडसत्तेतिभावः [**भावे भावे**] सकलभावभूतभौतिकपदार्थेषु [**बहुलतरला**] अतिचञ्चला भौतिकपरिणामादिक्रियां चित्यारोप्याधिष्ठानंविनारोपा-सम्भवात्क्रियापि चेतनाधीनैवेतिभावोऽत एव [**लम्पटा**] अव्यवस्थिता [**एषा**] स्वप्रकाशा [**संवित्**] भातीति शेषः किञ्च [**भासे भासे**] सकलमानसिक-व्यापारेषु [**बृंहिता**] मनोवृत्यनुरक्ताऽत एव [**भजनचतुरा**] उपाधिभूतविषय सेवापरा (संविदेव) चिदेव। अतः सर्वाधारो व्यापिका चिदेवेति फलितम्॥२८॥

भा० टी०—जो शुद्ध चेतन योगियों को प्राप्त करने योग्य है और जिस आदिनाथस्वरूप परब्रह्म को प्राप्त होकर इस संसार में जन्म-मरण-रूप दुःख का स्वप्न भी नहीं दिखता। वह ज्ञानरूप ब्रह्म सब जगह व्यापक है। इसी अभिप्राय को श्री योगाचार्य उपर्युक्त पद्य से वर्णन करते हैं। समस्त पृथ्वी-आदि भूत-भौतिक द्रव्यों के अवयवों की रचना करने वाली आदिनाथ से मिली हुई शक्ति ही सर्वत्र विद्यमान है; क्योंकि चेतन के बिना जड वस्तु की स्थिति सर्वथा असम्भव है। इससे सिद्ध हुआ कि चेतन ही सबका आधार है तथा प्रकृति मायादि तत्त्वों में पर महिमासहित शक्ति सर्वत्र प्रकाशमान हो रही है एवं भावरूप स्थिर वस्तुओं में सूर्यप्रभा की तरह व्यापक और सकल कार्यों में अनुगत रूप से यह संविद् शक्ति ही भासमान है और सकल प्राणियों की बुद्धिवृत्ति में निश्चयरूप से बढ़ी हुई भी यह संविद् शक्ति ही है। इसी से वे प्राणी अपने-अपने कार्य में तत्पर रहते हैं या ज्ञान, ध्यानादि में स्थिति कराने वाली भी यही शक्ति है। अतः सर्वत्र व्यापक सर्वाधार महासिद्ध योगियों के ध्यान से ही गम्य चेतन ब्रह्म नाना आकार से प्रकाशमान हो रहा है।॥२८॥

मू०– किमुक्तम्भवति परापरविमर्शरूपिणीसंविन्नाना-शक्तिरूपेण निखिलपिण्डाधारत्वेन वर्त्तते इति सिद्धान्तः॥२९॥

॥इति महेश्वरावतारश्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पिण्डाधारनामा चतुर्थोपदेशः॥

सं० टी०–अनेन श्लोकेन [**किमुक्तं भवति**] कः सारोऽस्येति प्रश्नः। उत्तरयति [**परापरविमर्शरूपिणी**] समष्टिव्यष्टिभूतानुभवरूपा [**सवित्**] चित् [**नानाशक्तिरूपेण**] निखिलपिण्डाधारत्वेन सर्वेषामाश्रयतया [**वर्तते**] विद्यत इति सिद्धान्तो निर्विवादः॥२९॥

॥इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सर्वतन्त्रकोविदश्रीपं०द्रव्येशझाकृत गूढार्थदीपिकायां चतुर्थोपदेशः॥

भा० टी०–इस उपदेश के आद्योपान्त विचार करने से यहाँ भाव निकलता है कि व्यष्टि, समष्टि, भूत भौतिक, छोटी, बड़ी वस्तुओं का अनुभव रूप चेतन ब्रह्म ही निजा, परा, सूक्ष्मा आदि नाना शक्ति रूपों के द्वारा सकल पिण्डों का आधार है॥२९॥

॥श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ श्री १०८ योगीन्द्रवोहराधिपतिश्रीपूर्णनाथशिष्येण योगिश्रीपंडित-भीष्मनाथेन वेदान्ताचार्येण विरचितायां सारदीपिकाख्य-हिन्दीटीकायां पिण्डाधारनामा चतुर्थोपदेशो व्यरंसीत्॥

अथ पिण्डपदयोः समरसकरणं कथ्यते

मू०–महासिद्धयोगिभिः पूर्वोक्तक्रमेण परपिण्डादिस्व-पिण्डान्तं ज्ञात्वा परमपदे समरसं कुर्यात्॥१॥

सं० टी०– पिण्डो व्यष्टिरूपः पदं समष्टिरूपं च तयोः समरसं करणं समरसत्वमैक्यमितिभावः। अयमभिसन्धिः– यद् व्यापकं तत् समष्टि-

रूपं कथ्यते, यच्च व्याप्यं तत् व्यष्टिरूपमभिधीयते। अस्यां दशायां न समरसतोभयोर्भिन्नपदव्यवहार्यत्वात्। यदा तु योगेन पिण्डमिमं व्यापकरूपं व्याप्यरूपं च विधातुं प्रभुर्भवति तदसमरसत्वमायाति॥ उभयपद-व्यवहार्यत्वेनैक्यात्। स्थूलवपुषोऽयं धर्मो यद्भौतिकस्थूलकुण्ड्यादिनाऽस्य-गतिप्रतिबन्धः क्रियते। अत एव सर्वतः प्रतिरुद्धभवनमध्ये स्थितमिदं शरीरं न शक्नोति बहिर्निःसारयितुम्। लिङ्गशरीरस्य च धर्मः केनापि स्थूलभौतिकेन न गतिः प्रतिहन्यते। अत एव शिलान्तर्गच्छति न वह्न्यादिना दह्यत इत्यादि। परन्तु योगाभ्यासाद् यस्य योगिनः कायसिद्धिर्जाता तस्य सर्वतः प्रतिरोधेऽपि स्थूलविग्रहेण सहैव बहिर्निःसरति सः। तेन सिद्धं यत् स्थूलसूक्ष्मोभयशरीरस्य समरसो जातो न केवलस्थूलस्य न च केवलसूक्ष्मस्य धर्मोऽपि तूभयोर्धर्मसमावेशादुभयमपि युगपदेव व्यवहर्त्तुं शक्यम्। तथैव ब्रह्माण्डेन सह पिण्डस्यापि समरसो भवतीति साम्प्रतम्। [**महासिद्धयोगिभिः**] स्वयमनुभवशालिभिर्न तु केवलतर्ककर्कशमानसैस्तार्किकवरैः [**पूर्वोक्तक्रमेण**] गतोपदेशप्रदर्शितसरण्या [**परपिण्डादिस्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा**] परपिण्डाङ्गानि सूर्यादीनि स्वपिण्डे चक्षुरादिषु स्थानेषु स्थितिं विदित्वोभयोरभेददार्ढ्येन [**परमपदे**] परमात्मनि [**समरसं**] ऐक्यं [**कुर्यात्**] कर्तव्यम्॥१॥

भा० टी०—अब व्यष्टि समष्टि के अभेदरूप समरसकरणता का निरूपण करते हैं। पूर्वोक्त उपदेशों में वर्णित पद्धति के द्वारा ब्रह्माण्ड और अस्मदादि शरीर से लेकर परिमित अपने देहपर्यन्त के स्वरूप को भली प्रकार जानकर अखण्ड चेतन शिव-शक्ति-रूप परमपद में समरस अर्थात् एकता करे। जैसे अपने इस देह में स्थित नेत्र हैं, वैसी ही अधिदेव में विराट् समष्टि का सूर्य चक्षु है। वही सूर्य व्यष्टि शरीराभिमानी जीव के नेत्र का अधिष्ठाता देवता है। इसी से सूर्य की भी नेत्र में स्थिति है। अतः व्यष्टिगत नेत्र और सूर्य की एकता मानकर ध्यान करे। उस ध्यान से नेत्रों में सूर्य-जैसी सामर्थ्य आ जाती है। इस प्रकार; प्रत्येक प्राण और इन्द्रिय आदि को समष्टि सूत्रात्मा तथा अधिदेवों की एकता करता हुआ अन्त में परमपद व्यापक असङ्ग शिव में अभेद करे। ऐसा करने से वह भी व्यापक और असङ्ग शिव हो जाता है॥१॥

मू०– परमपदमिति स्वसंवेद्यमत्यन्तभासा भासकमयम्॥२॥

सं० टी०–परमपदस्य संक्षेपेण वास्तविकरूपमाह [**स्वसंवेद्यम्**] स्वानुभवेनैव बुद्ध्यते, न त्वन्यसूर्यादिप्रकाशेन प्रकाश्यते। [**अत्यन्तभासा**] विततस्वकीयप्रकाशेन [**भासकमयम्**] प्राचुर्येण भासकम्। प्राचुर्येमयडत्र। तेन सूच्यते भासकता स्वाभाविको धर्मः सदैव तिष्ठति, किन्तूपाधि-शरीरादिमध्यपातित्वेन भास्यताऽपि, कदाचित्सम्पद्यतेऽहमित्यनुभवविषयत्वात्। इदमेवान्यत्रानुमतम्– *'न तावदयमेकान्तेनाविषय'* ब्र०मी० इति। स्वयन्तु सर्वेषां प्रकाशकमितरेणाप्रकाश्यमिति फलितम्॥२॥

भा० टी०–अब परमपद के अर्थ को स्वयं श्रीगोरक्षनाथजी कहते हैं। अपनी महिमा में प्रतिष्ठित और केवल योगसमाधि द्वारा आत्मा के अनुभव से ही जानने योग्य तथा स्वतःसिद्ध स्वचेतन प्रकाश से जो नित्य प्रकाशित है, उसी को 'परमपद' कहते हैं। इसी से वह परमपद जड प्रकाशरूप सूर्य-चन्द्र-अग्नि-बिजली-आदि का भी प्रकाशक कहा जाता है; क्योंकि चेतन प्रकाश की ही सत्ता को लेकर जड प्रकाश भी देदीप्यमान हो रहा है। यही परमपद का अर्थ है॥२॥

मू०–

यत्र बुद्धिर्मनो नास्ति तत्त्वविन्नापराकला।
ऊहापोहौ न कर्तव्यौ वाचा तत्र करोति किम्॥३॥

वाग्मिना गुरुणा सम्यक्कथं तत्पदमीर्यते।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसंवेद्यम्परं पदम्॥४॥

सं० टी०–[**यत्र**] परमात्मनि [**बुद्धिः**] निश्चायिका वृत्तिः [**नास्ति**] अवभासनक्षमा न भवति [**मनोऽपि**] सङ्कल्पात्मकं गन्तुं समर्थं नास्ति [**अपराकला**] शक्तिः [**तत्त्वविन्न**] वास्तविकतां ज्ञातुं नास्ति शक्ता। ऊहापोहौ केषांचिद् धर्माणामारोप ऊहः। परेषां खण्डनमपोहः, तावपि न कर्तव्यौ स्तः। तदा [**तत्र वाचा**] शब्देन किं करोति साधकः, न किञ्चित् कर्तुं समर्थ इति॥ शब्दस्य सर्वविशेषशून्यबोधने सामर्थ्यविरहात्। ननु स्यात् कश्चनवाग्मी यः प्रतिपादयितुमलं तन्निषेधति– [**वाग्मिना**]

गुरुणा वाचस्पतिनाऽपि [**तत्पदम्**] परमपदम् [**सम्यक्**] वस्तुतः कथमीर्यते कथमपि नेत्यर्थः। तदवर्णने न बुद्धिदोषः। किन्तु विषय एव तादृशो यद्योयस्तदभिधातुमुद्यतः स एवाशक्तः सन् परावर्तते; तस्मात् शिवेनैवोक्तम्। परमपदं स्वसंवेद्यमेव अयमाशयो यथा स्वस्मिन् सन्देहाभावाज्जिज्ञासैवनोदेति तत्कस्य हेतोः सदा स्वप्रकाशमानत्वात्। तथैव परमात्मनाऽभेददार्ढ्ये स्वयमेवाव-भासते नान्यः पन्थास्तदवगमाय॥३॥

भा० टी०—जिस परमपदरूप आत्मा को अपनी वृत्ति का विषय बनाने में निश्चयात्मक बुद्धि और संकल्पात्मक मन की भी गति नहीं है तथा जीवात्मा को अपने स्वरूप में स्थित कराने वाली पराकला भी उस ब्रह्म में परिमित होकर रहती है। व्यापक होकर नहीं या परिच्छिन्न पराकला की भी उसमें गति नहीं एवं खण्डन-मण्डनात्मक तर्क-वितर्क भी जहाँ नहीं बन सकता; तो वहाँ वाणी कर ही क्या सकती है। जब वह परमपद मनवाणी का भी विषय नहीं है, तब परपद को व्याख्यान करने में शास्त्रवेत्ता गुरु भी कैसे कह सकता है? इसी से श्रीमहेश्वर ने कहा है कि उस परमपद को केवल योगसमाधिजन्य अपने अनुभव से ही जान सकते है।॥३॥

मू०— अत एव नानाविधविचार्यचातुर्यचर्चाविस्मयां गत्वाद् गुरुचरणकृपातत्त्वमात्रेण निरुपाधिकत्वेन निर्णेतुं-शक्यत्वात् स्वसंवेद्यमेव परमपदं प्रसिद्धमिति सिद्धान्तः॥४॥

सं० टी०—अत एव नाना विधा विचार्याः। विचार एव विचार्या; स्वार्थे ष्यञ्। तेषु चातुर्यं नैपुण्यम्, तस्य चर्चया विस्मयाङ्गा विचित्रा ये गुरुचरणोस्तेषां भावम् तस्मात् विशिष्टगुरुचरणबलेनैव सुविज्ञेयमिति फलितम्। श्रुतिरप्याह—"आचार्योदेव हि विद्या साधिष्ठा भवति।" ननु निरुपाधिकत्वात् प्रमाणाद्यगमकत्वेन, असदेव न कुतः। अत आह— निर्णीतत्वात्। स्वप्रकाशतया स्वानुभवेनैव निश्चितत्वात् स्वसंवेद्यमेव परमपदं प्रसिद्धं श्रुतिस्मृतिषु प्रगीतमिति सिद्धान्तः॥४॥

भा० टी०—अतः उस परमपद के वर्णन करने में नाना प्रकार के सूक्ष्म विचारों में निपुण विद्वानों को भी हैरान होना पड़ता हैं। किन्तु रूप-आदि धर्म से विवर्जित वह परमपद है। इसीलिये निरुपाधिक परमपद को

केवल परमपद निष्ठ अवधूत गुरुदेव की कृपा होने पर ही अच्छी तरह निर्भयपूर्वक जान सकता है। भावार्थ यह है कि वह व्यापक अखण्ड शुद्ध स्वयंज्योतिरूप परमपद समाधिजन्य स्वसंवेद्य साक्षात्कार से ही गम्य है। यह सिद्धान्त वेदादि शास्त्र और सिद्धों में प्रसिद्ध है॥४॥

मू०– गुरुरत्र सम्यक्सन्मार्गसन्दर्शनशीलो भवति सन्मार्गो योगमार्गस्तदितरः पाखण्डमार्गः। तदुक्तमादिनाथेन॥५॥

योगमार्गेषु तन्त्रेषु दीक्षितास्तांश्च दूषकाः।
ते हि पाषण्डिनः प्रोक्तास्तथा तैः सहवासिनः॥

सं० टी०–अत्र परमपदप्राप्तिविषये सम्यक् समीचीनो गुरुरेव सन्मार्गदर्शनशीलः सदुपायपथप्रदर्शको भवति। ननु अनेके मार्गा दृश्यन्ते तेषु कः श्रेयान् इति जिज्ञासामुपश्यामयति सन्मार्गे योगमार्गः, चेतसो निखिलवृत्तिनिरोधो मुख्यो योगः, तत्साधनमैकाग्र्यमपि योगः; युज्यते निरुध्यतेऽनेन इति व्युत्पत्तेः। तस्य मार्गाः उपाया यमनियमादय उपासना भक्तिश्रद्धादयः श्रौतस्मार्तकर्माणि च साक्षात्परम्परया वा यथाधिकारं ग्राह्याः। तदितरः, चित्तविक्षेपकारकः पाखण्डमार्गः वञ्चक इति यावत्। तत्रैव आदिनाथोक्तं प्रमाणयति-तन्त्रेषु तन्त्रश्रुतिस्मृत्यादिशास्त्राणि तत्प्रतिपाद्येषु योगमार्गेषु पूर्वोक्तयोगसाधनेषु दीक्षितानां दीक्षापन्नानां कर्मोपासनादितत्पराणां ये दूषका निन्दकाः। क्वचिद् दीक्षितास्तांश्च दूषका इति पाठः, तस्यापि भावार्थस्त्वयमेव। किन्तु तस्मिन् पाठे दूषका इत्यत्र तुमुन्ण्वुलौ क्रियायामिति सूत्रेण ण्वुलि रूपम्-तथा च भविष्यत्, कालस्य भावेन अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोरित्यनेन *"कर्तृकर्मणोरित्यस्य निषेधे"* तदिति साधु। तान् दीक्षितान् ये दूषका दूषयन्ति ते पाखण्डिनो भविष्यन्ति इति व्याख्यार्थः। ते हि निन्दकाः पाखण्डिनः सन्मार्गभ्रष्टा व्यर्थजीवनयापिनः, वञ्चकाः, प्रोक्ताः शिष्टैः स्वीकृताः। एवं तैर्निन्दिकैः सहवासिनः सहचारिणोऽपि पाखण्डिन एव। तस्मान्निन्दकपुरुषैः सह वार्त्तादिकं किमपि न विधेयमिति॥५॥

भा० टी०–इस परमपद की प्राप्ति के उपदेश में अच्छी तरह से सन्मार्ग को जानने वाला ही गुरु होना चाहिये। यहाँ 'सन्मार्ग' से योगमार्ग का ही ग्रहण होता है; क्योंकि योगसमाधि से ही वास्तविक आत्मा के अखण्ड व्यापक और स्वसंवेद्य स्वरूप का भान होता है। योगमार्ग से

अन्य मार्गों में आत्मा के असली स्वरूप का साक्षात्कार ही होता। अतः आत्मा के अनुभव से वंचित करने वाले सब पाखण्ड मार्ग हैं। इसी को आदिनाथ शिवजी ने कहा है कि योग और उसके उपायभूत मार्ग नियम-आदि, श्रद्धा-ईश्वर-भक्ति तथा निष्काम कर्मादि के स्वरूप का बोध कराने वाले तन्त्रो में निपुण जो पुरुष हैं, उनकी निन्दा करने वाले अविवेकी जन और उनके सहवासी पाखण्डी कहलाते हैं॥५॥

मू०– यस्मिन् दर्शिते सति तत्क्षाणात् स्वसंवेद्य-साक्षात्कारः समुत्पद्यते। ततो गुरुरेवात्र कारणमुच्यते॥६॥

सं० टी०–परमार्थः गुरुः कीदृश इति नियमयति। येन गुरुणा यत्परमात्मतत्त्वं दर्शितम्-तज्ज्ञानकाल एव स्वसंवेद्यात्मसाक्षात्कारः परमात्मप्रत्यक्षं समुत्पद्यते, स गुरुरयमाशयः– यो हि स्वयमनुभवी सिद्धस्तस्योपदेशे झटिति परमात्मबोधो भवति, सिद्धिश्च त्वरितमुपनमते। ततः पूर्वोक्त- हेतोर्गुरुरेवात्र परमात्मतत्त्वनिरूपणे। कारणं परमसाधनमुच्यते॥६॥

भा० टी०–जिस समय सिद्ध गुरु परमपद के उपायभूत योग मार्ग की दिखलाता हुआ व्यापक आत्मा का बोध करवाता है, उसी क्षण में सिद्ध गुरु की कृपा से अपने अनुभव से जानने योग्य अखण्ड व्यापक-आत्मा को साक्षात्कार और सकल सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है इसी से परमार्थं आत्मतत्त्व के उपदेश और साक्षात्कार कराने में सद्गुरु ही परमकारण है। तात्पर्य यह है कि तीन प्रकार की शिक्षा होती है– औपदेशिक, करुणावलोकन और शक्तिपात। प्रथम और द्वितीय शिक्षा हर एक विद्वान् दे सकता है, किन्तु अन्तिम शिक्षा को देने में सिद्ध और ईश्वर के अतिरिक्त अन्य की शक्ति नहीं है॥६॥

मू०– तस्माद् गुरुकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतया च महा-सिद्धयोगिभिः स्वकीयं पिण्डं निरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियत इति सिद्धान्तः॥७॥

सं० टी०–तस्माद् गुरुकटाक्षमात्रबलमाश्रित्य स्वसंवेद्यतया च स्वानुभवादितरप्रमाणबलानपेक्षणेन महासिद्धयोगिभिः मनोनिग्रहतत्परैः स्वकीयं पिण्डं परिच्छिन्नं शरीरमिदं निरुत्थानुभवेन व्यापकपरपिण्डाभेदोपासनया

समरसमैक्यं क्रियते स्वयं व्यापको भवति; यथा कीटं भ्रमरयति भ्रमरी॥७॥

भा० टी०–अतः गुरु की करुणा दृष्टिमात्र से जानने योग्य स्वसंवेद्य परमपद है। इसीलिये महासिद्ध योगिजन परिमित अपने देह को परपिण्ड के साथ शुद्ध चैतन्य का निश्चल अभेदानुभव रीति से समरस करते हैं। यह सिद्धों का सिद्धान्त है॥७॥

मू०– निरुत्थानप्राप्त्युपायः कथ्यते। महासिद्धयोगिनः स्वस्वरूपतयानुसंधानेन निजावेशो भवति निजावेशान्निष्पीडित-निरुत्थानदशामहोदयः कश्चिज्जायते, ततः सच्चिदानन्द-चमत्कारादद्भुताकारप्रकाशप्रबोधो जायते। प्रबोधादखिलमेतद् द्वयाद्वयप्रकटतया चैतन्यभासाभासकं परात्परपरमपदमेव प्रस्फुटं भवतीति सत्यम्॥८॥

सं० टी०–स्वलक्ष्यात् पुनरुत्थानं न भवति, येन स उपायः कथ्यते। साम्प्रतं महासिद्धयोगिनः महासिद्धपदलिप्सोर्योगिनः साधकस्य स्वस्वरूपतया निजपिण्डभावनानुसन्धानेन मम पिण्डोऽयमहं चेति दृढभावनया निजावेशो भवति परपिण्डे स्वस्वत्वं प्रविष्टं भवति। यथाऽस्मिन् पिण्डे स्वस्वत्वा-वेशेनोत्थानचालनादिसर्वाधिकारस्तथैव परपिण्डेऽपि सर्वाधिकारः सम्पद्यते। स चावेशो न क्षणिकोऽपि तु स्थायी सर्वकालिकः। तदा तस्माद् निजावेशात् स्वस्वत्वावेशबलेन निष्पीडितनिरुत्थानदशामहोदयः, अत्यन्तनिरुत्थानावस्था-महाभाग्यं कश्चिदनिर्वचनीयो गीयते हर्षसूचककरतलनिनादेन उच्चैरुद्घुष्यते। ततः निरुत्थानदशातः सच्चिदानन्दचमत्कारात् परमाह्लादास्वादाद् अद्भुताकारप्रकाशः सर्वातिशायिचिद्रूपसहितः प्रबोधो मानसिकवृत्तिरूपः जायते, आविर्भवति। तस्मात् प्रबोधादखिलं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम्। एतद्वयाद्वयस्य व्यवहारिकद्वैतपारमार्थिकाद्वैतरूपस्य समष्टिव्यष्टिरूपजगतः प्रकटतया स्वाभिन्नत्वेन प्रत्यक्षतया चैतन्यभासास्वप्रकाशेन सर्वेषामितिशेषो भासकं परादपि परमं पदं सर्वोत्कृष्टमिति यावत्। तत्त्वं प्रस्फुटं हस्तामलकवत् प्रत्यक्षं भवतीति सत्यं मन्तव्यन्नात्र संशयलेशस्याप्यवसरः॥८॥

भा० टी०– अब योग द्वारा प्राप्त करने योग्य निरुत्थान (अर्थात् स्वपरपिण्डादि अभेदरूप परमपद) की प्राप्ति के उपाय को कहते हैं।

उस अभेदरूप परमपद को चाहने वाले महासिद्ध योगिजन परमगुरु से बताई हुई स्वपरपिण्डादि की अभेद पद्धति से चराचरसहित परमेश्वर को योगध्यान के द्वारा जब अपने स्वरूप से अभिन्न देखते हैं, तब उन का स्वपिण्ड परपिण्डादि अभेद के अनुभव से अत्यन्त अभेद ध्यान द्वारा सर्वेश्वर के शरीर में भी निजावेश होता है; अर्थात् निज देह के सदृश अभिमान होता है कि यह भी मेरा ही शरीर है। एवं व्यष्टि सूक्ष्मशरीर का समष्टिसूक्ष्म के साथ तथा जीवचैतन्य का परमेश्वर के साथ दृढ एकता की भावना से परमात्मा से भी स्वकीय अभिमान होता है। जैसे अपने व्यष्टिशरीर के संचालन में सामर्थ्य होती है, उसी तरह समष्टिशरीर के संचालन-आदि में भी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। योगी को दृढ़ निश्चल भावना हो जाने पर अखण्ड आत्मा के स्वसंवेद्य अनुभव के चमत्कार से अद्भुत प्रकाश स्वरूप आत्मा का बोध होता है। *'अहंब्रह्मास्मि'*, *'शिवोऽहम्'* इत्यादि प्रकार से सर्वत्र व्यापक आत्मा को ही देखता है। उसी निर्बाध अखण्ड पूर्ण आत्मा के बोध से समस्त द्वैताद्वैतरूप जड-चेतन की हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। अतः वह आदित्यादि का भी प्रकाशक सर्वाधिष्ठानस्वरूप है। तथा समस्त जगत् कार्य की अपेक्षा पर जो अव्याकृतरूप से स्फुट हो जाता है। यह सत्य है॥८॥

मू०– अत एव महासिद्धयोगिभिः सम्यग्गुरुप्रसादं लब्ध्वावधानबलेनैक्यं भजमानैस्तत्क्षणात् परमं पदमेवानुभूयते॥९॥

सं० टी०– अत एव वस्तुत ऐक्यादेव महासिद्धयोगिभिः अस्य अनुभूयते इत्यनेनान्वयः। ओदनं पचतीतिवत् भविष्यद्वृत्या। साधनावस्थायामपि महासिद्धयोगिपदेन व्यवहारो नान्यायः। सम्यग् गुरुप्रसादं लब्ध्वा गुरुप्रसाद एव योगसिद्धौ मुख्यं कारणमतः प्रथमं तत्सम्पादनीयम्। तत्पश्चात् विषयान्तरेभ्यो मनोनिवर्त्यलक्ष्यं स्थापनरूपमवधानङ्कर्तव्यम्। तदाहावधानबलेनेति तेन ऐक्यं भजमानैरभेदोपासनां कुर्वाणैर्योगिभिस्तत्क्षणादुपासनाकालमारभ्य सिद्धिपर्यन्तं परम्पदमेवपरमपिण्डान्नान्यकश्चिदित्यनुभूयते ज्ञायते॥९॥

भा० टी०–अतः पूर्वोक्त रीति से योगसाधन द्वारा भविष्य में महासिद्धि को प्राप्त होने वाले योगिजन अच्छी तरह गुरुदेव को प्रणाम

और सेवादि से प्रसन्न करें; क्योंकि योगसिद्धि में गुरु की प्रसन्नता ही मुख्य कारण है। इसके उपरान्त गुरुमन्त्रादिपूर्वक योगविधि को प्राप्त करते हुये योगिजन जब सावधानतापूर्वक ध्यान द्वारा स्वपिण्ड से लेकर परपिण्डादि पर्यन्त एकता की दृढ भावना करते हैं। तब उसी क्षण अपने से अभिन्न ब्रह्मरूपं परमपद का अनुभव होता है कि जो मैं हूँ, सो शिव है; और जो शिव है, सो मैं हूँ तथा मैं सर्वोपाधिविनिर्मुक्त केवल स्वंयज्योतिस्वरूप अखण्ड व्यापक हूँ॥९॥

मू०– तदनुभवबलेन स्वकीयं सिद्धं सम्यङ् निजपिण्डं ज्ञात्वा तमेव परमपदमेकीकृत्य तस्मिन्प्रत्यावृत्या रूढेवाभ्यन्तरे-स्वपिण्डसिद्ध्यर्थे महत्वमनुभूयते॥१०॥

सं० टी०–तेनानुभवबलेन समानवृत्तिप्रवाहबलेन स्वकीयं निजपिण्डं एतच्छरीरस्य सारभूतं तेजः पुञ्जम्, निजपिण्डपदस्य साङ्केतिकोऽयमर्थः। स्वयमेवाग्रे व्याख्यास्यते सम्यक् सिद्धं व्यापकं जातमिति ज्ञात्वा परिच्छिन्न-शरीरेऽस्मिन्सङ्कुचितमिदं तेजः पुञ्जम्। उपासनाबलात्सर्वतो निःसृतं सद् व्यापकं भवतीति सारांश एतादृशीं सिद्धिं प्राप्याग्रे किं कर्तव्यमित्यत्र प्रकारद्वयं विकल्पतया प्रदर्श्यते। तत्र प्रथमः कल्पः– तमेव निजपिण्डं प्रसृतं स्वकीयतेजः पुञ्जं परमपदे परपिण्ड एकीकृत्य परपिण्डे मेलनेना-भिन्नतामापाकल्पनान्तरमाह। प्रवृत्त्यारूढे वाभ्यन्तरे। परपिण्डे मेलयित्वां पुनः परावर्त्य स्वपिण्डस्याभ्यन्तरे उपसंहृत्य स्वपिण्डसिद्ध्यर्थ एतत्पिण्डस्या-जरामरसिद्धौ महत्त्वं परपिण्डात्मकत्वमनुभूयते स्वकीयपिण्डमवलम्व्य-परपिण्डाभिन्नत्वरूपमहत्त्वं ज्ञायत्ये॥१०॥

भा० टी०–पूर्वोक्त अभेदानुभव के बल से निज देहपिण्ड को अच्छी तरह सिद्ध हुआ जानकर उसी को परमपदरूप परपिण्ड में एक कर बार-बार एकता की आवृत्ति को दृढ़ करे। इसी प्रकार अपने शरीर को भी अवलम्बन बनाकर अपने पिण्ड में ही परपिण्ड की एकता करता हुआ बार-बार एकता की भावना करे। इससे वे महासिद्ध योगिजन अजर-अमररूप परम महत्त्व पद का अनुभव करते हैं। फिर अपने व्यष्टि पिण्ड में ही सार्वभौम ऐश्वर्य और परमानन्द का प्रादुर्भाव होता है॥१०॥

मू०–निजपिण्डपरीक्षा च स्वस्वरूपकिरणानन्दोन्मेषमात्रम्, यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणमेव समरसकरणं भवति॥११॥

सं० टी०–इदानीं निजपिण्डपदस्य स्वसाङ्केतिकार्थमाह– निज-पिण्डमिति। स्वरूपकिरणानां स्वात्मनः सङ्कुचितावयवीभूतप्रकाशानां तदभिन्नानन्दानामुन्मेषमात्रं सर्वतो विकाशः यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणं परावर्त्य स्वस्मिन् स्थापनमेव समरसकरणं जीवात्परमात्मभेदभित्तिं विलाप्यैक्य करणं भवति॥११॥

भा० टी०–अब सिद्ध हुये स्वपिण्ड की परीक्षा को कहते हैं। परमनाथ से अभिन्न जीव का सूर्य की किरणों के सदृश प्रकाशमय आनन्द का विस्तृत विकास होता है। उस आनन्द विकास को फिर अपने देह पिण्ड में समेट लेना ही 'समरसकरण' कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जो यह शरीर लौकिक दृष्टि से परिमित साकार प्रतीत हो रहा है, वास्तव में वह उस परमेश्वर की चिद्रूप शक्ति का परिमाण है। इसी से तेजःपुंज वह शरीर परमेश्वर की स्वयं प्रभारूप है; जैसे सूर्य की किरण प्रभारूप हैं। किन्तु अविद्यादि कर्मपाश के वश से यह शरीर निकृष्टरूप से प्रतीत हो रहा है। जब पूर्वोक्त अभेद की दृढ भावना से समरसकरण होने पर वास्तविक व्यापकरूप से सर्वत्र स्वशरीर का भान होने लगे तभी समरसकरण सिद्ध हुआ जानना चाहिये। इस परीक्षा की कसौटी स्वानुभव ही है॥११॥

मू०– अत एव स्वकीयं पिण्डं महद्रश्मिपुञ्जं स्वेनैवाकारेणप्रतीयमानं स्वानुसन्धानेन स्वस्मिन्नुररीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्ध्यर्थं तिष्ठन्तीति प्रसिद्धम्॥१२॥

सं० टी०–अत एव किरणपुञ्जस्य प्रत्याहरणार्थत्वादेव स्वकीय-पिण्डं महद्रश्मिपुञ्जम्। मदीयपिण्डो विशालतेजः स्वरूपोऽस्ति, न तु जडरूप इति ध्यानबलेन यदा स्वेनैवाकारेण तेजोरूपाकारेण प्रतीयमानमनुभूयमानं यावत् स्वानुसन्धानेन स्वकीयानुभवानुकूलं रूपं स्वस्मिन्नुररीकृत्य हठमङ्गीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्ध्यर्थं कायसिद्ध्यै तिष्ठन्ति ध्यानतत्परा निवसन्ति इति प्रसिद्धं योगिजनेषु॥१२॥

भा० टी०–इसी अभेदरूप समरसकरण की रीति से अपने प्राकृतिक स्वभाव से प्रतीयमान पिण्ड को अपने में देदीप्यमान और सिद्ध हुआ जानकर बार-बार अनुभव करते हुये अजरामरत्वपद की प्राप्ति करने के लिये महासिद्ध योगी बहुत समय तक स्थित रहते हैं। बाद में स्वयं ही कर्ता-धर्ता हो स्वच्छन्द गति से विचरण करते हैं॥१२॥

मू०–

अथ पिण्डसिद्धौ वेषः कथ्यते-
शङ्खमुद्राधारणं च केशरोमप्रधारणम्-
अमरीपानममलं तथा मर्द्दनमुत्तमम्॥१३॥
एकान्तवासो दीक्षा च सन्ध्याजपममायया,
ज्ञानं भैरवमूर्त्तेस्तु तत्पूजा च यथाविधि॥१४॥
शङ्खध्मातं सिंहनादं कौपोनं पादुके तथा
अङ्गवस्त्रं बहिर्वस्त्रं कम्बलं छत्रमद्भुतम्॥१५॥
वेत्रं कमण्डलुं चैव भस्मना च त्रिपुण्ड्रकम्।
कुर्यादेतान् प्रयत्नेन गुरुचन्दनपूर्वकम्॥१६॥

***सं० टी०**–पिण्डसिद्धिफलाय लिङ्गधारणमपि परम्परासहकारि, तथा ह्यसङ्गस्यात्मनः कर्मणा सह सम्बन्धं विना फलसम्बन्धः कदापि न सम्भवति; कार्यकारणयोः सामानाधिकरण्यनियमात्। न जातु हरिद्वारे व्याप्रियमाणः कुलालः काश्यां घटमुत्पादयितुमिष्टे कर्मणा सह सम्बन्धश्च अध्यासात्मकाभिमानादृते नान्यः। अतोऽभिमानरहितत्वेन स्वयं कृतमपि कर्म न फलदानायासम्, अभिमानवशादेव ऋत्विक् पुत्रादिकृतमपि कर्म यजमानजनकादिभ्यः फलं प्रसूत इति। इन्द्रेणाप्यशक्य निवारणायुक्तिः, ईश्वरीयवैदिक धर्मानुयायिनो गेहे गेहे ननर्ति तत्तल्लिङ्गधारणं हि बलात् तत्तद्धर्माभिमानं प्रवर्द्धयति। अतः कार्यसिद्धिफलकोपासनातत्परैरभिमानादिद्वारा शक्तिसञ्चालकानि लिङ्गान्यवश्यं धारणीयानीनि तानि प्रदर्श्यते। तत्र प्रथमं शङ्खमुद्राधारणं शङ्खश्च मुद्रा चेति द्वन्द्वः। तत्र योग्यताबलात् गले हस्ते वा शङ्खधारणं कर्णयो मुद्राकुण्डलद्वयधारणम्, केशरोमधारणं समस्तशरीरे केश-वपनं न कार्यम्। अमरीपानम् खेचरीमुद्रया सहस्रदलपद्मतः प्रक्षरित-*

सुधारसस्यास्वादनं विधेयम्; अस्य क्रियागूढममविद्गुरुमुखादेवावङ्गन्तव्या। योगिजनेषु या प्रसिद्धिः सैव कर्तव्या। अनुष्ठानरहस्यशास्त्ररहस्ययोः क्वचित् क्वचित् पृथक् पथपथिकत्वात्। गुरुं विना स्वमनीषया कर्म नाचरेत् अमरीपानस्य विशेषणम् अमलम्। तस्यायमाशयः प्रथमेऽन्ते च यन्निःसरति, तत् समलं भवति। अतस्तत्परिहेयं माध्यमिकं च पेयमिति ध्वन्यते एवमेवानुष्ठानमार्गे प्रख्यातम्। तथोत्तममर्दनं कुण्डलिन्याः सिद्धासनेन मर्दनम्। एकान्तवासः यत्र चित्तविक्षेपकं वस्तु नास्ति तादृशारण्यपर्वतगुहागङ्गादि-तटेषु निवासः। दीक्षा च श्रद्धेयगुरुद्वारा मन्त्राद्युपदेशः। सन्ध्या सायं प्रातः स्नात्वा शुद्धासने उपविश्य 'ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहा', 'ओं विद्यातत्त्वाय स्वाहा', 'ओं शिवतत्त्वाय स्वाहा', इति मन्त्रेण त्रिराचम्य प्रणवेन भूमौ सप्तधा जलमुत्क्षिपेत्। ततः प्राणायामं विधाय वामहस्ते जलमादाय दक्षिणेनाच्छाद्य 'हं यं रं लँ वँ' इति मन्त्रेणाभिमन्त्र्य सप्तवारं पुनः पुनः प्रणवेन शिरसि जलमुत्क्षिपेत् पुनः पूर्वोक्तमन्त्रेण त्रिराचमनम्। प्रातःकाले वक्ष्यमाणतर्पणमपि सन्ध्याङ्गं न तु सायम्। 'गुरुं तर्पयामि', 'परमगुरुं तर्पयामि', 'परात्परगुरुं तर्पयामि', 'परमेष्ठिगुरुं तर्पयामि', 'देवान् तर्पयामि', 'ऋषीन् तर्पयामि', 'आवरणदेवांस्तर्पयामि', 'भैरवं तर्पयामि', 'ॐ ह्रीं हसः मार्तण्डभैरवाय, प्रकाशसहिताय, श्रीसूर्यनारायणाय, स्वाहा तर्पयामि', 'सिद्धौघान् तर्पयामि', 'स्वेष्टदेवं तर्पयामि' इति सङ्क्षेपसन्ध्या ततः यथाशक्ति जापः, स्वेष्टदेवताया गायत्रीमन्त्रस्य जपः। यमनियमाः पूर्वोक्ताः, ततः स्ववासभवने भैरवमूर्त्तेस्तु ज्ञानं स्मरणं यथाविधिविधिमनतिक्रम्य तत्पूजाभैरव-पूजाशङ्खाध्मातं शङ्खध्वनिं सिंहनादं प्रसिद्धमिदं वाद्यं वादयेत्। कौपीनं पादुकम् काष्ठपादुकञ्च तथैवाङ्गवस्त्रधौतवस्त्रादि बहिर्वस्त्रप्रावरणादि कम्बलं तथा तपादिवारकच्छत्रम्। विलक्षणवेऽत्र वेणुदण्डं कमण्डलुञ्च धारयेत्। तथैव भस्मना भाले त्रिपुण्ड्रकं कुर्यात्। एतद् यत्नतो धारयेत्। सर्वत्र गुरुवन्दनं मुख्यं तन्न हेयम् इति सावधानता प्रदर्शनायाचकथद् गुरुवन्दन-पूर्वकमिति॥१३-१६॥

भा० टी०—अब उपर्युक्त पिण्डसिद्धि के लिये वेषधारण की रीति को कहते हैं। शङ्ख कानों में कुण्डल या खेचरी आदि मुद्रा को तथा केश-रोमों को धारण करना [अर्थात् जटाधारी या मुण्डित मुण्ड रहना] एवं आदि-अन्त को छोड़कर युक्तियुक्त शिवाम्बु का सेवन तथा

आसन-प्राणायाम-आदि के परिश्रम से उत्पन्न पसीने को अच्छी तरह शरीर में ही मसलकर सुखाना; क्योंकि ऐसा करने से शरीर स्वच्छ और हल्का होना है। योगाभ्यास के उपर्युक्त एकान्तस्थान में जल के आश्रय में निवास करना और गुरुमन्त्रधारणपूर्वक योग की दीक्षा लेना एवं निष्कपटभाव से ॐ आदि मन्त्र का जप और योगसन्ध्या-यम-नियमादि का अच्छी तरह पालन करना। भक्तिपूर्वक भगवान् भैरवदेव की मूर्ति का ध्यानादि करना; क्योंकि भैरवदेव सिद्धों के अधीश्वर हैं और योग के आरम्भकाल में रोट-लंगोट-आदि पूजा से प्रसन्न किया हुआ भैरवदेव योग में विघ्न नहीं आने दता। अतः कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिये इन्द्रादि देव भी सिद्ध भैरवदेव की पूजा करते हैं। तथा सायं प्रातःकाल नियम से ऊँचे स्वर से शङ्ख बजाना, कौपीन, खडाऊँ, शीतनिवारण के लिये ओढ़ने का वस्त्र-कम्बल-छाता-वेत-कमण्डलु-मस्तक में त्रिपुण्ड्र रुद्राक्षादि का धारण करना। उपर्युक्त चिन्हों की श्रद्धापूर्वक श्रीगुरुदेव को आदेश (प्रणाम) करता हुआ धारण करे॥१३-१६॥

मू०– तेषां पिण्डसिद्धौ सत्यां सर्वसिद्धयः सन्निधाना-भवन्ति यस्मिञ्ज्ञाते जगत्सर्वं सिद्धं भवति लीलया सिद्धयः स्वयमायान्ति तस्माज्ज्ञेयं परं पदम्॥१८॥

परं पदं न वेषेण प्राप्यते परमार्थतः।
देहमूलं हि वेषः स्याल्लोकप्रत्ययहेतुकः॥१९॥

सं० टी०–तेषामित्थमाचरतां पिण्डसिद्धिर्भवति तस्यां सत्यां सर्व सिद्धयः, अणिमादयः सन्निधाना भवन्ति सम्मुखमुपतिष्ठन्ते। एतदेव पद्यं न द्रढयति, यस्मिन्निति यस्मिन् परमात्मतत्त्वे ज्ञाते सति अभिन्नतामापन्ने सति सर्वं जगत् परमात्माधीनं वस्तु सिद्धम्, स्वाधीनलीलयैव अनायासेनैव भवति। किञ्च सिद्धयः अणिमादयः स्वयमायान्ति उपनमन्ते तस्मात् परमं पदं परमपिण्डमेव ज्ञेयं साधनीयं साधनं विहाय केवललिङ्गधारणेनैवात्मानं कृतकृत्यं मा मन्यतामित्यतः साधनेन सलिङ्गं समुच्चिचीषया केवललिङ्गं निन्द्यते परम्पदं परमार्थतो वस्तुतो वेषेण केवललिङ्गेन न प्राप्यते हि यतः देहमूलं देहो मूलं यस्येति देहगतं वेषं चिह्नं लोकप्रत्ययस्यायमेतद्धर्मसाधक इति ज्ञानस्य हेतुकहेतुरेव हेतुकम् कारणमिति यावत्। अतः साधनसहित-

लिङ्गधारणं कुर्यादित्येव मुख्यतात्पर्यम्॥१८-१९॥

भा० टी०—उपर्युक्त वेष को गुरु से विधिपूर्वक धारणकर योगानुष्ठान के द्वारा जब उन महात्माओं की पिण्डसिद्धि होती है। तब अणिमादि सकल सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। उस समय उन सिद्धियों में आसक्त न होकर केवल आत्मनिष्ठा में ही तत्पर रहे। इसी भाव को आगे के पद्य से श्रीयोगाचार्यजी कहते हैं। जो असङ्ग ज्योतिः स्वरूप आत्मा सर्वत्र व्यापक और अपने से अभिन्न है। उसी के यथार्थस्वरूप को प्रत्यक्ष करना चाहिये। उस निजव्यापक आत्मा के जान लेने पर समस्त भूत-भौतिक-प्रपञ्चरूप जगत् अनायास जाना जाता है और सिद्धियाँ स्वयं ही प्राप्त हो जाती हैं तथा अपने में अनुराग करवाने के लिये कोशिश करती हैं। इसलिये सिद्धों को चाहिये कि उनमें कदापि आ सक्त न हों। केवल आत्मरूप परमपद को ही जानें। पूर्वोक्त वेषमात्र को धारण करने से ही अपने को कृतकृत्य नहीं समझना चाहिये। यथार्थ में योग जन्य ज्ञान के बिना मोक्ष रूप परमपद की प्राप्ति वेष के धारण मात्र में नहीं होती। किन्तु सांसारिक जनों को भी साधुपन का ज्ञान हो जाय। इसलिये देहमूलक बाहर का चिह्न (वेष) धारण किया जाता है॥१८-१९॥

मू०—

लोके निकृष्टमुत्कृष्टं परिगृह्य पृथक्कृतम्।
तत्स्वधर्म इति प्रोक्तो योगमार्गे विशेषतः॥२०॥
योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा॥२१॥

सं० टी०—लोके यद्वस्तु निकृष्टमैहिकफलजनकं सेवाद्युत्कृष्ट-मामुष्मिकफलदं दानादि तत् परिगृह्यादाय पुनः पृथक् कृतम्। त्यक्तम्, तत् स एव त्यागः, स्वधर्म इति ख्यातः कर्तव्यतया विहितः। यद्यप्ययं सार्वजनीनस्तथापि योगमार्गेऽयं प्रकारः विशेषत आद्रियते योगमार्गादन्यः। परः श्रेष्ठो मार्गः पन्थाः श्रुतौ स्मृतौ वा अन्येषु शास्त्रेषु च नास्तीति पुरा शिवेन कथितः॥२१-२२॥

भा० टी०–लोक में प्रत्यक्ष फल देने वाला सेवादि कर्म निकृष्ट तथा स्वर्गादि फलजनक कर्म उत्कृष्ट कहलाता है। यद्यपि अविवेकी जब दोनों प्रकार के कर्मों को प्रथम कामना से करते हैं। तथापि पहले सकामरूप से उस कर्म को ग्रहणकर जब ईश्वरार्पण बुद्धि-विवेक द्वारा वह कर्म करने वाला उस कर्म के फल को छोड़ देता है। तब परम्परा से चित्तशुद्धि द्वारा मोक्ष का उपयोगी वह कर्म 'स्वकर्म' कहलाता है। परन्तु वहाँ पर भी धर्म-शब्द का व्यवहार गौण है। वास्तव में विशेषरूप से योगमात्र को ही धर्म कहना उचित है; क्योंकि योग के बिना दुःखों का समूल नाश और मोक्षरूप परम शान्ति नहीं मिलती। अतः योगमार्ग से बढ़कर उत्तम आत्मा के कल्याण का मार्ग अन्य कोई नहीं है। यह श्रुति-स्मृति और अन्य सब शास्त्रों में शिवजी ने कहा है- *"विना योगेन देवाऽपि न मोक्षं लभते प्रिये।"* इत्यादि॥२२-२४॥

मू०–

योगः संहननोपायो ज्ञानसङ्गतियुक्तिषु॥२२॥
लोके निकृष्टं सततं यं वा यं वा प्रकुर्वते।
तं वा तं वा वर्जयन्ति लोका ज्ञानबलेन तु॥२३॥
मनुष्याणां च सर्वेषां प्राक्संस्कारवशादिह।
शास्त्रयुक्तिसमाचारः क्रमेण भवति स्फुटम्॥२४॥

सं० टी०–लोके जनेषु योगः, योगशब्दः संहननोपायज्ञानसङ्गति-युक्तिषु संहननं सङ्घातस्तस्योपायः सर्वतो वस्तुसंयोजनं, ज्ञानं ज्ञानसाधन-प्रणिधानादिः, सङ्गतिः, मेलनम्, युक्तिस्तर्क एष्वर्थेषु प्रयुज्यते। किन्त्विति शेषः, लोकाः सततं यं यं निकृष्टमनित्यफलदं योगं प्रकुर्वते। तं तं पूर्वोक्तसर्वं ज्ञानबलेन वर्जयन्ति। अतो ज्ञानसाधनायैक एव योगो मुख्य उत्कृष्ट इति तात्पर्यम् नन्वेवं सर्वेषामुत्कृष्टे योग एव कथं न प्रवृत्तिरत आह– सर्वेषां मनुष्याणां प्राक्संस्कारवशात् पूर्वजन्मार्जितवासनाबलात् इह अस्मिन् जन्मनि। शास्त्रयुक्तिः शास्त्रीयतर्कः समाचारो व्यवहारः स्फुटं तत्त्वतः प्रकाशमानं क्रमेण भवति। स्वस्ववासनावशात् व्यवहारस्य तत्त्वं प्रतीयते, तत्र सद्वासनावतोऽल्पतया मुख्ययोगे विरलस्य प्रवृत्तिरिति बोध्यम्॥१६॥

भा० टी०–दो वस्तुओं को मिलाना उपाय, ज्ञान, सङ्गति और युक्ति– इन अर्थों में योगशब्द का प्रयोग होता है। लोक में निरन्तर अनित्य फल देने वाली वस्तुओं में जो योग का अर्थ किया जाता है, वह अर्थ गौण है और ज्ञानसाधनार्थक तथा मोक्ष का उपयोगी सहयोग-शब्द का मुख्य अर्थ है। अतः ज्ञानसम्पन्न विद्वान् उस अनित्यफलदायक गौण अर्थ को छोड़कर मुख्य अर्थ का ही ग्रहण करते हैं। इसी से उनकी मुख्यरूप से योग में निष्ठा होती है।

प्रश्न–यदि अद्वैत आत्मनिष्ठा ही मुख्य है, तब सबकी प्रवृत्ति उसी में क्यों नहीं होती?

उत्तर–यह संसार भिन्नस्वभाव है। इस में अनेक प्रकार के मनुष्य हैं उनमें से कुछ ही पूर्व जन्मोपार्जित पुण्य कर्म के अभाव से शास्त्र और युक्तियों में क्रमशः निपुण होते हैं। अतः विशिष्ट विद्वान् ही योग के यथार्थ अर्थ को जानते हैं। इसीलिये योग में कोई भाग्यवान् ही पुरुष प्रवृत्त होता है॥१६॥

मू०– एवं पिण्डे संसिद्धे ज्ञानप्राप्त्यर्थं तच्च परमं पदं महासिद्धानां मतं परिज्ञाय च तस्मिन्नहं भावे जीवात्मा च सहजसंयमसोपायाद्वैतक्रमेणोपलक्ष्यते॥२५॥

सं० टी०–एवं पूर्वरीत्या पिण्डे स्वशरीरे संसिद्धे प्रथमतो ज्ञाते सति पश्चात् महासिद्धानां मतमङ्गीकृतम्। तत् परमं पदम् चिच्छक्ति-सहिताखण्डसच्चिदानन्दरूपं शिवतत्त्वं परिज्ञाय "यस्मिन्" परमतत्त्वेऽहं भावे सति पूर्वं जीवतत्त्वं पश्चाच्च शिवतत्त्वं विज्ञायोभयोरभेदे सतीति रहस्यम्। जीवात्मा च सहसंयमसोपायाद्वैतैतच्चतुष्टयक्रमेणोपलक्ष्यते परमपदेनेति। शेषः जीवो हि परस्यैकदेशत्वेन परमात्मन उपलक्षणं य एव सोपाधिर्ज्ञायते। स एवोपाधिपरिच्छिेदरहितः सञ्ज्ञायेत, तदा व्यापकः सन् परमात्मा सम्पद्यत इति तत्र प्रकारचतुष्टयस्य प्रतिपदव्याख्यानमनुपदमेवाग्रेऽभि-धास्यते स्वयमेव॥२५॥

भा० टी०–पूर्वोक्त योगरीति से अच्छी तरह देहपिण्ड के सिद्ध हो जाने पर अखण्डज्ञानप्राप्ति के लिये महासिद्धों का अभिप्रेत जो चिद्रूप

शक्ति सहित अखण्ड परम शिव तत्त्व है, वही परमपद कहा जाता है। उसको अपना आत्मा जानकर उसी असङ्ग शिवतत्त्व में यह भाव करे कि मैं परम शिव हूँ। मेरे में और शिव में कुछ भी भेद नहीं। यही वास्तव में अभेदरूप समरस कहलाता है। अतः परमशिव से अभिन्न और व्यापक जो जीव का असली स्वरूप है, वह सहज संयम सोपाय और अद्वैतक्रम से लक्षित होता है।॥१७॥

मू०– तत्र सहजमिति विश्वातीतं परमेश्वरं विश्वरूपेणावभासमानमितिज्ञात्वैकमेवास्तीति स्वस्वभावेन यज्ज्ञानं तत्सहजं प्रसिद्धम्॥२६॥

सं० टी०– परमेश्वरं विश्वातीतं निर्गुणतया विश्वं संसारमतीतमतिक्रान्तमपि विश्वरूपेण मायासहितत्वात् संसाररूपेणावभासमानं संसारं प्रत्युपादानतया तदात्मकत्वादितीत्थं ज्ञात्वा तादृशं परमेश्वरमिति पूर्वोक्ताहम्भावनया ज्ञात्वैकमेव तत्त्वमस्तीति हेतोः स्वस्वभावेन स्वस्वरूपेणाभिन्नं निखिलं वस्त्विति यज्ज्ञानं तत्सहजमिति कथाप्यते॥१८॥

भा० टी०–अब पूर्वोक्त सहज संयमादियों में से सहज ज्ञान का निरूपण करते हैं। यद्यपि सर्वाधार अखण्ड व्यापक स्वयंज्योति परमेश्वर वास्तव में सकल विश्व से अतीत है। तथापि अपनी शक्ति द्वारा नाना जीवादि संसाररूप से भी मूर्खजनों को वही प्रतीत हो रहा है। परन्तु तत्त्वदृष्टि से वह एक ही है। वही मेरा यथार्थ स्वरूप है। अतः मैं असङ्ग और व्यापक हूँ। इस प्रकार जो स्वाभाविक यथार्थज्ञान होता है, वही सहज ज्ञान कहलाता है॥१८॥

मू०– संयम इति सावधानानां प्रस्फुरद्व्यापाराणां निजवर्तिनां संयमं कृत्वाऽऽत्मनिधीयत इति संयमः॥२७॥

सं० टी०–इदानीं संयमपदार्थो विव्रियते– निजवर्त्तिनां स्वस्मिन् विद्यमानानां सावधानानां स्वकार्योत्पादनपटूनां न तु दुर्बलानां प्रस्फुरद् व्यापाराणां प्रस्फुरन्ते ये व्यापारा इति कर्मधारयस्तेषां संयमनं निवृत्तिं कृत्वा विधाय, आत्मनि अखण्डपरमात्मनि धीयते स्थाप्यते; येन स एव संयमः॥१९॥

भा० टी०–अब संयम शब्द का अर्थ बताया जाता है। इन्द्रियाँ

अपने अपने विषयों के ग्रहण करने में तत्पर रहती हैं; क्योंकि इन्द्रियों का विषयों में प्रवृत्त होना स्वाभाविक धर्म है। अतः निरन्तर व्यापार वाली वे इन्द्रियाँ निज देह में वर्तमान हैं। मन के सहित उन इन्द्रियों को विषयों से रोककर आत्मा में लगाने को संयम कहते हैं॥१९॥

मू०– सोपायमिति स्वयमेव प्रकाशमयं स्वेनैव स्वात्मन्येकीकृत्य सदा तत्त्वेन स्थातव्यम्॥२८॥

सं० टी०–अधुना सोपायमधीयते स्वप्रकाशमयमन्यानपेक्षं प्रकाशरूपं स्वयं केवलचेतनं स्वेनैव चैतन्यरूपेणैव स्वात्मनि स्वस्वरूपे चेतनम् एकीकृत्याभिन्नं विधाय सदा तत्त्वेनाविचलितभावतया स्थातव्यं स्थितिर्विधेया येन तत्सोपायम्।

भा० टी०–अब सोपायज्ञान का वर्णन करते हैं। केवल अपने स्वप्रकाश आत्मा को सर्वत्र व्यापकरूप से एक जानकर सदा उसी में आत्मनिष्ठ होकर स्थित रहना ही उचित है। यह स्थिति जिस ज्ञान से होती है, वह 'सोपायज्ञाननिष्ठा' कहलाता है। उसी ज्ञान से अखण्ड आत्मा का भान होता है॥२०॥

मू०– अद्वैतमित्यकर्तृतयैव योगीनित्यतृप्तो निर्विकल्पः सदा निरुत्थानत्वेन तिष्ठति॥२९॥

सं० टी०–कल्पनारहितो योगी सदा निरुत्थानत्वेन कदाचिदपि स्वस्वरूपप्रच्युतिरहितः सन् तिष्ठति स एवाद्वैतपदार्थः॥२९॥

भा० टी०–अब अद्वैत का वर्णन किया जाता है। आत्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि-धर्मशून्य असङ्ग व्यापक और एक है। उस असङ्ग व्यापक अद्वैत आत्मनिष्ठा को प्राप्त होकर निज आत्मा में ही नित्यतृप्त हुआ योगी कदापि उस स्थिति से विचलित नहीं होता। यही अद्वैतरूप परमपद कलाता है।॥२९॥

मू०–

सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः स्वस्वनिग्रहः।
सोपायं स्वस्वविश्रान्तिरद्वैतं परमं पदम्॥३०॥

सं० टी०–उक्तमेव सहजादिपदव्याख्यानं सारांशानुसन्धानायान्ते सङ्क्षेपेणाह– सहजमित्यादि। स्वस्वरूपस्य वास्तविक विज्ञानं सहजं निखिलशरीरेन्द्रियादि व्यापाराणामात्मनि स्थापनं संयमः। स्वस्वरूपे स्थितिः सोपायः, साक्षात् परमपदमद्वैतम्॥२२॥

भा० टी०–जीवात्मा और परमात्मा के अभेद ज्ञान को सहज ज्ञान कहते हैं। विषयों में तत्पर इन्द्रियों के प्रवाह को रोककर आत्मा में लगाने को संयम कहते हैं। योगादि उपायपूर्वक ब्रह्मज्ञान से होने वाली आत्मनिष्ठा को सोपाय कहते हैं। और अन्त में अद्वैत ही परम निर्भय पद है॥२२॥

मू०–

तज्ज्ञेयं सद्गुरो वक्त्रान्नान्यथा शास्त्रकोटिभिः।
न तर्कशब्दविज्ञानान्नाचाराद्वेदपारगात्॥३१॥

वेदान्तश्रवणान्नैव तत्त्वमस्यादिबोधनात्।
न हंसोच्चारणाज्जीवब्रह्मणोरैक्यभावनात्॥३२॥

न ध्यानान्न जपाल्लीनः सर्वज्ञः सिद्धिपारगः।
स्वेच्छो योगी स्वयं कर्त्ता लीलया चाजरामरः॥३३॥

अवध्योदेवदैत्यानां क्रीडति भैरवो यथा।
इत्येवं निश्चलो योऽसौ क्रमेणाप्नोति लीलया॥३४॥

असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सद्गुरोः करुणां विना।
अतस्तुगुरुः संसेव्यः सत्यमीश्वरभाषितम्॥३५॥

सं० टी०–ननु पूर्वोक्तरीत्या स्वयमनुष्ठानेनापि सिद्धिर्भविष्यत्येव किमर्थं गुरुपादसेवनमिति सनातनसम्प्रदायतो विचलितमतीनां शङ्कां दवयति– तज्ज्ञेयमित्यादि। यो हि स्वयं योगानुष्ठानतत्परः स एव सद्गुरुः; तस्यैव वाक्यात् तत्पूर्वोक्ततत्त्वं विज्ञेयं बोद्धव्यं न चान्यथानान्यत्प्रकारेण शास्त्रकोटिभिः। योगोपायविज्ञानं तर्कशास्त्रविज्ञानादपि न भवति न चारात् केवलवेदपाठात्॥२९॥ गुरुरहितेन वेदान्तश्रवणेनैव तत्त्वमस्यादिवाक्यज्ञानात् हंसोच्चारणात् जीव-ब्रह्मणोरैक्यभावनात् गुरूपदिष्टयोगप्रक्रियारहितात् स्वयमाहितभावनात्॥३०॥

ध्यानात् स्वकल्पितोपायकध्यानात् जपात् केवलबाह्यजपात् न सिद्धिर्भवतीति सर्वत्र सम्बन्धस्तथा च कीदृशो गुरुः कर्तव्य इत्यत आह– लीनः, संसारतो विरक्तो ब्रह्मणि लीनः सर्वज्ञः कृतस्थूलसूक्ष्मोभयप्रत्यक्षः। सिद्धिपारगः अष्टसिद्धिसम्पन्नः स्वेच्छो रागद्वेषविधुरः योगीस्वयं कर्ता संसाररचना-कौशलसम्पन्नो भवति। सोऽपि लीलया नत्वाऽऽयासबाहुल्यं किञ्चाजरोवार्द्धक्य-रहितोऽमरोमरणविहीनः सन्॥२१॥ दैवदैत्यानामप्यवध्यो भवति न कोऽपि तस्य हनने समर्थो यथा भैरवः क्रीडति सफलैरवध्यः सन् इतरान् पराजित्य विहरति लोके तथैव सोऽपि साधको भवति तत इत्येवम्। गुरुपूर्वक-पूर्वोक्तसाधनऽनुरक्तः सन् निश्चलः सन्देहरहितो यः साधकोऽपि क्रमेण क्रमशः लीलया गुरुबलेनाभ्यासं विनैव सिद्धिमवाप्नोति गुरुरहितैस्तु सिद्धयोऽसाध्या भवन्ति वर्षशतैरपि न सिद्ध्यन्तीति गुरुदेवपादसेवनध्रुवं विधेलिममिति हृद्यम् अस्यैव सत्सम्प्रदायतां सूचयितुमाह– सत्यमीश्वरभाषितं पूर्वोक्ततत्त्वमेवेश्वरेण भाषितमतस्तदेव सत्यमितरत् सर्वं मनुष्योत्प्रेक्षिततयाऽ-तथ्यमिति फलति॥२३॥

भा० टी०– पूर्वोक्त योगादि तत्त्व को सद्गुरु के मुखारबिन्द से सुनकर ही अनुष्ठान करे, अन्यथा नहीं; क्योंकि गुरु के बिना अनेक शास्त्रों के मनमाने अर्थ से आत्मा को नहीं जान सकता। न शुष्क तर्कों से न केवल आचार से न वेदपाठ से न *'तत्त्वमसि'* आदि महावाक्य के जानने से न हंस मन्त्र के उच्चारण से न जीव-ब्रह्म की अभेद भावना से न ध्यान से और न जप से ही आत्मा को, किन्तु विधिपूर्वक गुरु के द्वारा ही आत्मा को सांगोपांग योगविधि को तथा और भी उपर्युक्त सारभूत तत्त्वों को जान सकता है। इस प्रकार दृढ निश्चय वाला योगी जब सिद्ध गुरु से यथावत् जानकर योगानुष्ठान में तत्पर होता है, तब अनायास ही क्रम से अजरामररूप परमपद को प्राप्त होता है। फिर वह निज आत्मा में मग्न सकल सिद्धियों का पारंगत सर्वत्र स्वच्छन्द गीत और जरामरणादि विकाररहित सबका कर्ता-धर्ता होता हुआ देवऽदेत्यों से भी अवध्य हो जाता है तथा भगवान् भैरव देव के सदृश सर्वत्र स्वतन्त्रगति से विचरता है। अवधूत सिद्ध गुरु के उपदेश बिना योग कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। अतः गुरु का आश्रय परम आवश्यक है- यह शिवजी का वचन सत्य है॥२३॥

मू०—

प्रथमे त्वरोगतासिद्धिः सर्वलोके प्रियो भवेत्।
काङ्क्षन्ति दर्शनं तस्य स्वात्मारूढस्य नित्यशः॥३६॥
कृतार्थः स्याद् द्वितीये च कुरुते सर्वभाषणम्।
तृतीये दिव्य देहेस्तु व्यालैः व्याघ्रैर्न बाध्यते॥३७॥
चतुर्थे क्षुत्तृषा निद्रा शीतातपविवर्जितः।
जायते दिव्ययोगीशो दूरश्रावी न संशयः॥३८॥
वाक्सिद्धिः पञ्चमे वर्षे परकायप्रवेशनम्।
षष्ठे न च्छिद्यते शस्त्रैर्वज्रपातैर्न भिद्यते॥३९॥
वायुवेगी क्षितित्यागी दूरदर्शी च सप्तमे।
अणिमादिगुणोपेतस्तवष्टमे वत्सरे भवेत्॥४०॥
नवमे वज्रकायः स्यात् खेचरो दिक् चरो भवेत्।
दशमे पवनाद्वेगी यत्रेच्छा तत्र धावति॥४१॥
सम्यगेकादशे वर्षे सर्वज्ञः सिद्धिभाग् भवेत्।
द्वादशे शिवतुल्योऽसौ कर्त्ता हर्त्ता स्वयं भवेत्॥४२॥
त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं श्रीभैरवो यथा॥४३॥

सं० टी०—क्रमेणाप्नोतीत्युक्तं तत्र कः क्रम इति जिज्ञासोपशमनाय सिद्धीनां क्रमः प्रदर्श्यते पूर्वोक्तरीत्या कृतसंयमस्य साधकस्य नित्यश आत्मरुढस्य सततमात्मारूढस्य पूर्वं प्रतिपादितरीत्या पिण्डाण्डयोः समरसकरणे परिनिष्ठितस्य प्रथमे वर्षे इति शेषः प्रथमवर्षोपय्यरोगतायाः सिद्धिः रोगरहितो भवति। किञ्च सर्वलोकप्रियो भवेत् न कोऽपि तं प्रतिद्वेषभावमाधत्ते प्रत्युत; यथा स्वात्मनि प्रीतिं विदधति, तथैव तस्मिन्नपि सर्वे प्रीतिमावहन्ति। अतस्तस्य दर्शनं सर्वोपि काङ्क्षति, इदमत्र रहस्यं सर्वत्रात्मभावनोपासनाबलात् सर्वेषां बुद्धावेनं प्रत्यप्यात्मभावः स्वयमेवोदेति। अतः समुचितमेव तं प्रति प्रीतिदर्शनम् इति विदन्ति कोविदाः ॥३६॥ द्वितीयवर्षद्वयपर्यन्तं साधने सम्पन्ने सति कृतार्थः परिपूर्णमनोरथः सन् सङ्कल्परहितो भूत्वेति यावत् सर्वभाषया व्यवहारमित्याहारः कुरुते

सर्वभाषाविज्ञो भवतीत्यर्थः तृतीयवर्षे परिपूर्णे सति दिव्यदेहः सिद्धशरीरो भूत्वा व्यालैः सर्पैर्व्याघ्रैरुपलक्षणमेतत् सकलहिंस्त्रैर्न बाध्यते न हिंस्यत इति।॥३७॥ चतुर्थस्वत्सरे पूर्णे क्षुधा पिपासा निद्राशीतोष्णद्वन्द्वबाधारहितो भूत्वा दिव्ययोगीशो विशिष्टयोगीन्द्रः सन् दूरश्रावी दूरत एव श्रवणशीलो जायतेऽत्र नास्ति संशयः।॥३८॥ पञ्चमे वर्षे व्यतीते वाक्सिद्धिर्भवति यद्यद् वदति तत्तत् सफलं भवत्येव; न जातु वैकल्यं प्रयाति किञ्च परकायप्रवेशनमपि जायते। विद्यमानशरीरं विहाय मृतकशरीरान्तरे प्रविश्य तेनैव व्यवहारं प्रकरोति, यथा परमाचार्यः श्रीमत्स्येन्द्रनाथो राजशरीरे प्रविष्ट इति गाथा प्रसिद्धा। षष्ठे वर्षे तु शस्त्रैर्न च्छिद्यते तस्य शरीरम् इति शेषः; किञ्च वज्रपातैरपि न बाध्यते॥३९॥ सप्तमे वर्षे पृथ्वीं विहाय विहायसा वायुवद्वेगशीलः सन्द्रुतं गच्छति किञ्च दिव्यचक्षुरुन्मेषाद् दूरस्थवस्तूनामपि द्रष्टा भवति। अष्टमे वत्सरे त्वणिमाद्यैश्वर्यसम्पन्नो जायते॥४०॥ नवमे वर्षे वज्रवदभेद्यदेहो भवति। किञ्च आकाशगामी सर्वदिक्सञ्चरणशीलो जायते। दशमे वायुवद् यत्र गमनेच्छा तत्रैव देशे गच्छत्येकादशे सर्वज्ञः॥३९॥ द्वादशवर्षे निर्विघ्नसमाप्तेऽसौ योगी शिवतुल्यः सृष्टेः कर्त्ता हर्त्ता च स्वयं भवेत्। यद्यप्यनादीश्वरसङ्कल्पवशात् शान्तः सन्निमां सृष्टिं न संहरति न चान्यां प्रकुरुते। किन्तु यदेच्छेत् तदा तदपि कर्तुं पारयेदिति योग्यता प्रदर्शनेन शक्तिसद्भावः साध्यते॥४०॥ स सिद्धः त्रैलोक्ये पूज्यत आद्रियते; यथा श्रीभैरव एतत् सत्यं मन्तव्यम्॥४१॥

भा० टी०—जो गुरुभक्त शिष्य गुरुमन्त्रादि योगदीक्षा से दीक्षित होकर जब योगाभ्यास आरम्भ करता है, तब क्रम से जो योगसामर्थ्य होती है, उसी का पूज्य आचार्य नीचे वर्णन करते हैं।

योगारम्भ के प्रथम वर्ष में योगाभ्यासी का शरीर रोगरहित और निर्मल हो जाता है तथा वह सर्वलोक प्रिय हो जाता है क्योंकि वह नित्य अपने आत्मरूप में तत्पर रहता है। अतः उस आत्मरूढ सिद्ध के देवता भी दर्शन करना चाहते हैं। दूसरे वर्ष में वह योगाभ्यासी आत्मानन्द में मग्न हुआ मनुष्यजन्म के सफल होने से कृतकृत्य हो जाता है और देव-पशु-पक्षी-आदि से भी बातचीत करने की शक्ति आ जाती है। तीसरे वर्ष में उसका शरीर देवतुल्य हो जाता है और सर्पव्याघ्र आदि से अवध्य होता है। चौथे वर्ष में वह योगीश्वर भूख-प्यास-नींद-सर्दी-गर्मी-

आदि से रहित हो दूर के शब्द को भी सुनने लगता है। इसमें सन्देह नहीं। पञ्चम वर्ष में वचन की सिद्धि होती है; अर्थात् जो मुख से कह देता है, वह सत्य होता है और दूसरे शरीर में प्रवेश होने की शक्ति हो जाती है। छठे वर्ष में तलवार-आदि तीक्ष्ण शस्त्रों से भी उसका शरीर नहीं कट सकता और उस समय उसके शरीर पर बिजली या इन्द्र का वज्र भी असर नहीं कर सकता। सप्तम वर्ष में वह योगी पृथ्वी को छोड़कर वायु के सदृश वेगवान् होकर ऊपर चलने लगता है और दिव्य दृष्टि से दूर तक की वस्तुओं को भी देखने लगता है। आठवें वर्ष में अणिमादि सकल सिद्धियों से सम्पन्न हो जाता है। नवमें वर्ष में वज्र शरीर हो जाता है और ऊर्ध्व गति होने से आकाशगामी तथा सब दिशाओं में घूमने को सामर्थ्य आ जाती है। दशवें वर्ष में पवन से भी अधिक वेगयुक्त होकर आकाशमार्ग से जहाँ इच्छा होती है, वही शीघ्रगति से चला जाता है। ग्यारहवें वर्ष में अभ्यास के बढ़ जाने से सर्वज्ञ सकल सिद्धियों से युक्त तथा सत्यसंकल्प हो जाता है। बारहवें वर्ष में तो शिवजी की तरह स्वयं ही सकल विश्व का कर्त्ता-हर्त्ता हो जाता है और वह भैरव भगवान् की तरह लोकों में पूजित होता है; यह सत्य है। ॥३६-४२॥

मू०—

एवं द्वादशवर्षैस्तु सिद्धयोगी महाबलः।
जायते सद्गुरोः पादप्रभावान्नात्र संशयः॥४४॥

सं० टी०—एवं पूर्वक्रमानुष्ठानेन सद्गुरोः पादप्रसादात् सद्गुरु-पादसेवनबलाद् द्वादशवर्षैः महाबलः शिवतुल्यः सिद्धयोगी जायतेऽत्र नास्ति संशयः॥४४॥

भा० टी०—इस प्रकार सिद्ध अवधूत गुरुदेव के चरणों की कृपा से बारह वर्ष में महायोग बलशाली हो जाता है॥४४॥

मू०—

अनुबुभूषति योनिजविश्रमं सगुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुसंसरणात्परमं पदं समरसीकरणं न च दूरतः॥४५॥

सं० टी०—यो मुमुक्षुर्निजविश्रमं स्वकं मोक्षमनुबुभूषति अनुभवितुमिच्छति, स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेदाचार्यचरणेन्दीवरसेवेत गुरुरेव मूलमन्त्रेति व्यज्यते। भूयोऽपि तदेवाह— तदनुसरणादिति। गुरुपत्पङ्कजानुगमनात् न दूरतरत्वरितमेव परममुत्कृष्टं चरमावधीति यावत् पदस्थानं समरसीकरणमण्डपिण्डयोरैक्यं भवतीति शेषः चकारोनुक्तसमुच्चयार्थः॥४५॥

भा० टी०—अतः जो मुमुक्षु परमशान्ति चाहता है, वह योगतत्त्व के जानने वाले गुरु के चरणकमलों का आश्रय करे; क्योंकि योग विशारद् गुरु की बतलाई विधि से जब योगानुष्ठान में तत्पर होगा, तभी समरस की प्रणाली से पिण्डसिद्धि और मोक्षरूप परमपद की प्राप्ति सुलभ होगी॥४५॥

मू०— गुरुकुलसन्तानं पञ्चधा प्रोक्तम्। आईसन्तानं विलेश्वरसन्तानं विभूतिसन्तानं नाथसन्तानं योगीश्वरसन्तानञ्चेत्येषामपि सन्तानानां पृथक् पृथक् वैशिष्ट्यं वर्तते॥४६॥

सं० टी०—गुरुकुलसन्तानं योगप्रचाराय आचार्यवंशः वंशो द्विधा विद्यया जन्मना चेति। अत्र विद्ययैवं वंशः कथितः योगविद्यायाः प्रदाता गुरुः पितृस्थानीयः, ग्रहीता शिष्यः पुत्रस्थानीयो बोध्यः। स च वंशः पञ्चधा पञ्चप्रकारकः प्रोक्तः पारम्पर्यात् प्रसिद्धः। तत्राभ्यर्हितत्वात् प्रथमतः प्रादर्श्यते— आईसन्तानमिति। अस्मिन्नेव महासिद्धपुरुषः श्रीमस्तनाथः श्रीगोरक्षनाथावताररूपः सञ्जात एतच्चरित्रवैचित्र्यजिज्ञासुभिर्मत्कृतटीका संवलितपञ्चविंशतिसर्गात्मक— श्रीमस्तनाथचरित्रनामकग्रन्थो द्रष्टव्यः। तत्पादसञ्चारपरिपूततच् शिष्यसंस्थापितोवोहरस्थानस्थ सिंहासनमधिरूढः श्रीपूर्णनाथोयोगीन्द्रः साम्प्रतं राजते विल्वेश्वरसन्तानं द्वितीयविभूतिसन्तानतृतीयं नाथसन्तानञ्च चतुर्थं योगीश्वरसन्तानं पञ्चमं सर्वेषां स्वरूपतो भेदप्रदर्शनाय सर्वत्र चकारः प्रयुक्तो यथाधवश्च खदिरश्चेति द्वन्द्वविग्रहे न च समासः कुतो न कृतस्तस्य वैकल्पिकत्वात्। ननु द्वादशपथाः सन्ति कथं पञ्चधैवेत्यत आह— एतेषामपि सन्तानानां पृथक् पृथक् वैशिष्ट्यं वर्त्तते यत्किञ्चित् वैशिष्ट्यमादायैव द्वाद्वशधा। वस्तुतः सर्वेषामत्रैवान्तर्भावेऽपि न कापि मन्त्रसिद्धान्तयोः क्षतिः॥४६॥

भा० टी०—अब योगविद्या के प्रचारक सिद्धगुरुओं की वंशपरम्परा का वर्णन करते हैं। वह वंश दो प्रकार का होता है। जन्म से विद्या से

जन्मवंश का सम्बन्ध गृहस्थाश्रम में होता है। अवधूत योगसम्प्रदाय में तो केवल विद्याकृत वंश का सम्बन्ध जानना। इसीलिये योगसम्प्रदाय में दीक्षित योगी नाद के कहलाते हैं। बिन्दु के नहीं; क्योंकि जब मुमुक्षु सिद्धसम्प्रदाय में प्रविष्ट होकर गुरुमन्त्रादि दीक्षा से दीक्षित होता है। तभी से वह नाद का योगी कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो नादशक्तिसम्पन्न परब्रह्म परापश्यन्ती आदि क्रम से समस्त ऋग्वेदादि सृष्टि और भूतादि अर्थसृष्टि का कारण है, वही परमनाथ तत्त्व तू है। अतः योगसमाधि में अपनी नादशक्ति को अभिव्यक्तकर अपने अखण्डस्वरूप में प्रतिष्ठित हो। तू भ्रम में न पड़, तू काल का भी काल है, तू व्यापक अखण्ड परब्रह्म है। तू दीन न हो; क्योंकि तू ही परमनाथ है इत्यादि उपदेश से योगसम्प्रदाय में योगीजन शिष्य के दीनभाव को दूरकर नाथ-शब्द से अलंकृत कर देते हैं। वह प्राचीन गुरुवंश प्रणाली पाँच प्रकार की है। आई-नाम विमलाशक्ति का है। इसी को आईनाथ या उदयनाथ भी कहते हैं। अतः आईनाथ देवी की शिष्य परम्परा का आई सन्तान नाम है। जो इस समय आईपन्थ नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी विल्वेश्वर गुरु की वंश प्रणाली है। यद्यपि स्वयं वस्त्ररहित दिसम्बर तपस्वी हैं। तथापि शरणागत दीन दुःखी श्रद्धालु अधिकारी जनों को पवित्र उपदेश देने तथा उनके दुखों को दूर करने में जो समर्थ हैं, वे विल्वेश्वर वंशपरम्परा के कहलाते हैं और अपनी इच्छा से आसन-प्राणायामादि की धारणा में अत्यन्त समर्थ होते हैं। तीसरी विभूति को धारण करने वाली सिद्धगुरु वंश प्रणाली है। जिन्होंने प्रथमयोगधारणादि की अच्छी तरह साधना की है। इसी से वे अणिमादि विभूतियों से सम्पन्न कहलाते हैं। अतः सिद्धगुरु योगसामर्थ्य को चाहने वाले मुमुक्षु शिष्यों को योगचमत्कार दिखाकर उनमें श्रद्धा उत्पन्न करते हुये उनको आत्म कल्याण के मार्ग पर लगाते हैं। यही विभूति सन्तान है। चौथी नाथ सन्तान (वंश) का वर्णन करते हैं। सकल प्रपञ्च की अपेक्षा से जो अव्याकृत और उससे भी परे परमनाथ तत्त्व है, वही लक्ष्यभूत है। उस लक्ष्य में ही आत्मा के व्यापकरूप को दिखलाते हुये सिद्ध गुरु योग्य अधिकारियों को समरसरूप अभेद के उपदेश का प्रणाली से परमपद मोक्ष को प्राप्त करा देते हैं। अतः व्यापक परमनाथ के स्वरूप को प्राप्त

कराने से वे सिद्ध नाथवंश में गिने जाते हैं। अब पाँचवीं योगीश्वर सन्तान का निरूपण करते हैं। पूर्वोक्त व्यापक असङ्ग नाथ तत्त्व में अपने स्वरूप के लय होने पर सृष्टि-आदि क्रिया के करने में भी योगसामर्थ्य का उपयोग करते हुये जो सिद्ध गुरु अधिकारी जनों की योग्यता के अनुकूल उपदेश देते हैं, वे योगीश्वर सन्तान में गिने जाते हैं। उपर्युक्त पाँच प्रकार से जो सिद्धगुरु वंशपरम्परा का संक्षेप से वर्णन किया है। उस परम्परा में भी बहुत से अवान्तर भेद हैं। वे बारह और अट्ठारह शाखाओं में प्रसिद्ध हैं॥४६॥

मू०– परमार्थकः सर्वं पाञ्चभौतिकं न जाताः पुरुषाः सम्बोधमात्रैकरूपशिवस्तदितरत्सर्वमज्ञानमव्यक्तं भवति, तत्र शिवस्तु ज्ञानम्॥४७॥

सं० टी०–परमार्थतः सर्वं वस्तुपाञ्चभौतिकम्। अतः पञ्चधैव सन्तानमुचितमत्र ग्रन्थे सर्वं पञ्चप्रकारेणैव व्याख्यातमिति न विस्मरणीयम् न जाता अनुत्पन्नाः पुरुषाः जीवात्मानः सम्बोधमात्रैकरूपः चिन्मात्ररूपः शिवस्तदितरत् तद्भिन्नं सर्वमज्ञानं जडरूपमव्यक्तं जडोपादानम्प्रकृतिरिति सङ्क्षेपेण पदार्थवर्णनं सृष्टिरेव वंशस्तस्य कर्त्ता गुरुरतः पञ्चभूतस्थानीयाः पञ्चगुरवस्तेषां वंशाः सर्वे॥४७॥

भा० टी०–यथार्थ में संसार की सब वस्तुएँ पाँचभूतों से बनी हैं। इसी से इस ग्रन्थ के उत्पत्तिप्रकरण में प्रत्येक वस्तु का पाँच पाँच प्रकार से निरूपण किया है। अतः सिद्ध गुरुओं की वंशप्रणाली को भी आचार्य ने पाँच भागों में विभक्त किया है। यदि पाँचभौतिक सकल प्रपंच की उत्पत्ति होती है, तो आत्मा उत्पन्न होता है या नहीं? इस शंका का उत्तर यह है–आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि यह आत्मा अखण्ड की उत्पत्ति का निषेध आत्मा में जन्म-मरणादि सकल विकारों के निषेध का भी द्योतक है। आत्मा जन्म-मरण-वृद्धि-ह्रास-आदि विकारों से शून्य आकाश की तरह व्यापक असङ्ग चेतन और सर्वान्तर्यामी है। उसी व्यापक आत्मा के रूप के ज्ञान से अमृतरूप परमपद की प्राप्ति होती है। और आत्मा से भिन्न समस्त प्रपञ्च अज्ञानरूप है; क्योंकि अज्ञान अव्यक्तादि नाम से बोधित माया का कार्य होने से यह जगत् भी मिथ्या

कहलाता है। केवल शिव ही चेतन विज्ञानमय और सर्वत्र व्यापक है॥४७॥

मू०– एतेषामपि सन्तानानां केचित् स्वरूपपराङ्मुखा वेशमात्रसम्पन्नाः क्रयविक्रयादिकं कुर्वन्ति सन्तानभेदं प्रत्यन्योऽन्यमधः कुर्वन्ति योगमार्गं द्वेषयन्ति॥४८॥

रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अतिमन्यवः।
दाम्भिका मानिनः पापाधिक्कुर्वन्तीश्वरप्रियान्॥४९॥

साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरमानन्दलक्षितान्।
स्वेच्छाचारविहारैकज्ञानविज्ञानसंयुतान्॥५०॥

यूयं शिष्टा वयं दुष्टा दुष्टा यूयं वयं तथा।
एवं वदन्ति चान्योऽन्यं प्रमोहेन निरन्तरम्॥५१॥

सं० टी०–एतेषां विद्यमानानां सन्तानानां वंशानां मध्ये केचिज्जनाः स्वरूपपराङ्मुखा आत्मचिन्तनतो विरक्ताः क्रयविक्रयादिकसांसारिकव्यवहारं कुर्वन्ति। अन्योऽन्यं परस्परं सन्तानभेदं प्रति भेदबुद्धिं कुवन्ति रागद्वेष-समाकुला भवन्ति। अत एव योगमार्गं वास्तविकश्रेयः साधनं द्वेषयन्ति निन्दन्ति रजसा रजोगुणबलेन घोरसङ्कल्पाः सांसारिकविषयचिन्तनतत्पराः कामुकाः कामान्धा अतिमन्यवः अत्यन्तकोधिनः स्वात्मानमधिकं मन्यमानाः पापाः पापवन्तोः जनाः ईश्वरप्रियान् परमेश्वरभक्तान्। साधुसङ्गमः साधुसह-वासः सच्छास्त्राणि आत्मपरमात्मबोधकानि योगवेदान्तादिशास्त्राणि यो यः परमानन्दस्तेन लक्षितान् संयुतान् परमानन्दानुभवशालिनः स्वेच्छाचारविहारौ चानियतकर्मनिवासौ एकविज्ञानम् आत्मैक्यबोधसताभ्यां संयुक्तान् संहितान् सज्जनान् धिक् कुर्वन्ति व्यवहारानभिज्ञतानपुंस्कादिदोषप्रदर्श्य निन्दन्ति। कस्यचित् सत्कारणकाले दुष्टत्वेऽपि यूयं शिष्टाः स्वरूपस्य शिष्टत्वेऽपि वयं दुष्टा किञ्च मित्रादिसाहाय्यकाले यदि यूयं दुष्टास्तथा वयमपि भवाम इत्येव प्रमोहेनाज्ञतया निरन्तरं परिवदन्ति॥४८-५१॥

भा० टी०–उक्त वंशपरम्परा में भी बहुत से अपने योगधर्म को छोड़कर केवल वेषमात्र को धारण किये क्रय-विक्रयादि लौकिक व्यापार

में तत्पर रहते हैं और इस वंशपरम्परा में प्रेमीजनों का तिरस्कार कर जो योगमार्ग से द्वेष करते हैं, उन द्वेषी जनों के स्वभाव का निम्न प्रकार से वर्णन किया जाता है। उक्त योग मार्ग के द्वेष और रजोगुणी जनों के मनोरथ भी अति दारुण होते हैं; जिनका पूरा होना भी असम्भव है। इसी से वे भोग्यविषय के इच्छुक होते आदि यदि उनके वाम का विघात हो जाय, तो क्षणभर में अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं। ऐसे कपट स्वभाव दम्भी अभिमानी और राग-द्वेषादि से दूषित अन्तःकरण वाले वे पापी सज्जन साधुओं के संग से और योगादि उत्तम शास्त्रों के अभ्यास से परमानन्दरूप मोक्ष पर को ही लक्ष्य करने वाले स्वच्छन्द गति से विचरने वाले और आत्मा के अनुभव से सम्पन्न ईश्वरभक्तों को धिक्कारते हैं कि तुम लोग अपने को शिक्षित एवं सभ्य मानते हो और हमको दुष्ट समझते हो। परन्तु ऐसा नहीं है! किन्तु तुम ही दुष्ट असभ्य और मूर्ख हो और हम शिक्षित बुद्धिमान् तथा सभ्य है। इस प्रकार अज्ञान से आपस में निन्दित वचनों का प्रयोग करते हैं। अतः जगत् को राग द्वेष से परिपूर्ण देखकर योगी को आत्मनिष्ठ होकर एकान्त में रहना चाहिये॥५१॥

मू०–

पृथ्वीजलं तथा वह्निर्वायुराकाशमेव च।
एते सन्तानो दयास्तु सम्यगेव प्रकीर्तिताः॥५२॥

सं० टी०–शक्तिसम्वलितशिवस्य स्वीयप्रकृत्युत्पादितानि पञ्चभूतानि पञ्चशरीराणि तदधिष्ठातारश्च पुरुषाः पञ्चपुत्रास्ते एव पञ्चदेवाः गुरुकुल-सन्तानपदेनोक्ताः। अत्र विशदव्याख्यायन्ते पृथिव्यादिपञ्चभूतानि सन्तानोदया सम्यगेव प्रकीर्तिताः सन्तानानां निखिलप्रजानां भौतिकशरीराणामुत्पत्तिस्थानानि कारणानि रूपाणि उदीयन्ते अस्मिन्नित्युदया अधिकरणसाधनश्चायम्॥५२॥

भा० टी०–अब पञ्चभूत सन्तान का वर्णन करते हैं- पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश– यह पंचभूत सन्तान कहलाता है और ये सब श्रीआदिनाथ की शक्ति से उत्पन्न हुए हैं। इनकी उत्पत्ति का वर्णन पहले अच्छी प्रकार से हो चुका है॥५२॥

मू०–

काठिन्यं चार्द्रता तेजो धावनं स्थिरता खलु।
गुणा एते च पञ्चैव सन्तानानां क्रमात्स्मृताः॥५३॥

ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
एताश्च देवताः प्रोक्ता सन्तानानां क्रमेण तु॥५४॥

सं० टी०– पृथिव्याः काठिन्यं गुणः ब्रह्मा तदधिष्ठाता देवः, जलस्यार्द्रता गुणो विष्णुश्चाधिष्ठातृदेव एवं यथासङ्ख्यक्रमेणैकैकभूतस्यैको गुणः देवश्च संलापनीयः। अयमाशयः– पराशक्तिसहितः परमात्मा शिव आदिनाथः प्रोच्यते, स एवाकाशं समुत्पाद्य तदधितिष्ठन् सदाशिवशब्देन वायुमुत्पाद्य तदभिधातृत्वेन ईश्वरपदेन तेजोधिष्ठाता रुद्रनाम्ना जलाभिमानी विष्णुसञ्ज्ञया पृथिव्यन्तर्यामी ब्रह्माभिधया च व्यवह्रियते। तथा च भौतिक-प्रजानामेते पञ्चदेवाः गुरवः तेषामप्यादिनाथो गुरुरतः सर्वेषां गुरुरादिनाथः सर्वतो गरीयानिति प्रकरणरहस्यं पञ्चदेवोपासनायाश्चेदमेव तत्त्वं यत्कार्य-रूपेणावस्थाभेदेन च पञ्चानां परस्परं स्वरूपभेदेऽपि कारणरूपेणादिनाथाभिन्नतया ऐक्यमेव॥५४॥

भा० टी०–अब पाँच भूतों के गुण और अधिष्ठाता देवों का वर्णन करते हैं। पृथिवी का कठोरता-आदि गुण और ब्रह्मा अधिष्ठातृदेवता है। जल का द्रव (गीलापन) गुण और विष्णु देवता है। अग्नि का उष्ण गुण और रुद्र देवता है। वायु का चलना गुण और ईश्वर देवता है। आकाश का स्थिर (अचल) गुण और सदाशिव अधिष्ठाता है॥५३॥

मू०– स्थूलसूक्ष्मकारणतुर्यं तुर्यातीतमिति पञ्चावस्थाः क्रमेण लक्ष्यन्ते एतेषामपि सर्वेषां विज्ञाता यः स योगो स सिद्धपुरुष स योगीश्वरेश्वर इति परमरहस्यं प्रकाशितम्॥५५॥

सं० टी०–यथैव पूर्वं सर्वं पञ्चात्मकं व्याख्यातं तथैवावस्थापि पञ्चधैव प्रतिपाद्यते जाग्रत् स्थूलावस्था। स्वप्नः सूक्ष्मावस्था सुषुप्तिः कारणावस्था। समाधिः तुर्यावस्था। अस्यामपि वृत्तिसद्भावः तस्या विनाशे शुद्धमुक्तावस्था। तुर्यातीतावस्था। एताः क्रमेण पर्यायेण न तु युगपत्

लक्ष्यन्ते लोकैः स्वयमेवानुभूयन्ते। एतेषां पूर्वोक्तवस्तूनां योजताऽनुभविष्णुः स साधने काले पश्चात् स योगी योगीश्वरेश्वरः सिद्धपुरुषः सम्पद्यत इति परमरहस्यं प्रकाशितमनेनाचार्यस्य प्रजासु कारुण्यातिशय इति व्यज्यते॥४९-५५॥

भा० टी०—जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति— ये तीन अवस्थाएँ एवं तुर्य (समाधि) और मोक्ष— ये पाँच अवस्थाएँ लक्षित होती हैं। भाव यह है कि योग की सात भूमिकाएँ होती हैं। नित्यानित्य वस्तु के विवेकपूर्वक तीव्र मुमुक्षारूप शुभेच्छा को योग की प्रथम भूमिका कहते हैं। इसके उपरान्त गुरु के पास से गुरुमन्त्रादि योगदीक्षा की ग्रहणकर उपनिषद् और योगशास्त्र के श्रवण और मननात्मक दूसरी विचारणा नाम की भूमिका है। मन में अनेक संकल्प-विकल्पों का जो प्रवाह उठता है, उसका आसन प्राणायामादि और निदिध्यासन के बल से आत्मा में विलय कर केवल आत्मरूप सूक्ष्म पदार्थ के ग्रहण में तत्पर होना तनुमानसानाम की तीसरी योगभूमिका है। ये तीन साधनभूमिकाएँ जाग्रत् कहलाती हैं; क्योंकि इनमें भेदबुद्धि से प्रतीत होने वाला यह जगत् द्वैतरूप से स्फुरित रहता है। पूर्वोक्त तीन भूमिकाओं के अच्छी तरह साधन से जब अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। तब वह योगी *"अहं ब्रह्मास्मि"* (मैं ब्रह्म हूँ)— इस प्रकार सब जगह दृढ अभेदात्मक द्रष्टा हो जाता है और समस्त प्रपञ्च को स्वप्नतुल्य देखता है; क्योंकि अद्वैत आत्मपदार्थ के स्थिर हो जाने से उस योगी को समाधि के अभ्यास से समस्त जाग्रत स्वप्न की तरह मिथ्या प्रतीत होने लगता है। अतः केवल आत्मा को ही दृढरूप से बोधन करने वाली और आत्मा से भिन्न समस्त जगत् को मिथ्या दर्शाने वाली यह सत्त्वापत्ति नाम की चौथी भूमिका है। इसी को स्वप्नावस्था भी कहते हैं; क्योंकि इस अवस्था में आत्मा से भिन्न सबको स्वप्नवत् मिथ्या देखता है। यह योगभूमि उक्त तीन योगभूमिका साधनों के बिना सिद्ध नहीं होती।

इस चतुर्थ भूमिका को प्राप्त हुआ योगी ब्रह्मवित् कहलाता है। आगे की तीन भूमिकाएँ क्रम से जीवन्मुक्तिरूप कहलाती हैं; क्योंकि चौथी भूमिका से ही जब सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। तब उनमें आसक्त न होना ही असंसक्ति नाम की पञ्चम योगभूमिका सिद्ध हो जाती है। इसको सुषुप्तिरूप भी कहते हैं; क्योंकि निर्विकल्पयोग समाधि

की परिक्वनिष्ठा से केवल आत्मानन्द में मग्न हुआ योगी सांसारिक बाह्य व्यापार से सोया-सा रहता है। इस योगभूमिका को जब योगी प्राप्त होता है, तब उसको ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ कहते हैं और उस समय वह योगी समाधि से स्वयं ही प्रबुद्ध हो जाता है। जिसमें ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरे पदार्थ की भावना न कर केवल योगाभ्यास से चिरकाल तक आत्मानन्द में ही स्थिर रहता है। उसको पदार्थाभाविनी नाम की छठी भूमिका कहते हैं। इसको गाढ़ सुषुप्ति भी कहते हैं; क्योंकि इस भूमिका में जब योगी पहुँचता है। तब वह अन्य सिद्ध के बोधनमात्र से ही जाग्रत् हो जाता है। अन्यथा एकाग्र समाधि में शून्याकार ही रहता है। तब वह योगी ब्रह्मविद् वरीयान् कहलाता है। तुर्यगा नाम की सातवीं योग भूमिका है। इसमें प्राप्त हुआ योगी तो दूसरे के व्यापार से भी नहीं जागता। इस भूमिका को प्राप्त हुआ योगी ब्रह्मविद् वरिष्ठ कहलाता है। यानि छठी भूमिका से सातवीं भूमिका में पहुँचने वाला योगी कभी कुछ निमेष-उन्मेष-आदि व्यापार करता हो या न करता हो 'विदेहमुक्त' कहलाता है; क्योंकि उसको देह का ज़रा भी भान नहीं रहता। इसलिये सप्तमी योगभूमिका विदेहमुक्तिरूप भी कहलाती है। यह सब योगभूमिकाओं की चरम सीमा है और मन-वाणी से भी अगोचर है–

ज्ञानभूमिशुभेच्छाख्या प्रथमा परिकीर्तिता।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा॥

सत्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥

भूमिका तृतीयं त्वेतद्रामजाग्रतमिति स्थितम्।
यावद्भेदबुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते॥
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थी भूमिकामिता॥

पञ्चमी भूमिकामेत्यसुषुप्तिपदनामिकाम्।
षष्ठी गाढसुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम्॥

षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमी भूमिमाप्नुयात्।
किञ्चिद्वेवेशसम्पन्न त्वथवैषम किञ्चन॥

विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका।
अगम्या वचसां शान्ता सासीमा योगभूमिषु॥

पूर्वोक्त योगभूमिकाओं के साधन से योगी अजरामर व्यापक और स्वयं शिव हो जाता है। इसी से मूलग्रन्थ में कहा है : जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या, तुर्यातीत इत्यादि। यहाँ आगे अपि-शब्द भी आया है, उससे यह भाव निकलता है कि योग की सात भूमिकाएँ भी उक्त पांचों अवस्थाओं के अवान्तर भेद हैं। इनको जो योगी योग के अनुभव से जानता है, वही यथार्थ योगी और वही काल को जीतने वाला सिद्ध पुरुष भी है। अधिक क्या कहें; जीवन्मुक्त भी वह साक्षात् परब्रह्मस्वरूप होने से योगीश्वरों का भी ईश्वर है– यह परम रहस्य है॥५५॥

मू०– अत एव सम्यङ् निजविश्रान्तिकारकं महासिद्ध-योगिनं सद्गुरुं सेवयित्वा सम्यक् सावधानेन परमं पदं सम्प्राद्यं तस्मिन्निजपिण्डे च समरसभावं कृत्वाऽत्यन्तनिरुत्थानेन सर्वानन्दत्वे निश्चलं स्थातव्यम् ततः स्वयमेव महासिद्धो भवतीति सत्यम्॥५६॥

सं० टी०–समरसभावनाया मोक्षादिसिद्धिप्रदत्वादेव सम्यग् निजविश्रान्तिकारकम्। यो हि स्वयमेव संसारचक्रारूढोऽनवरतं वंभ्रम्यमाणः, स च कथमन्यं विश्रामधामाधिरोहयेत्। अतः यो हि समीचीनतया निजस्य स्वस्य विश्रान्तिः मोक्षाख्यविश्रामस्तस्य कारकं साधकमत एव महायोगिनं योगिराजं तं सद्गुरुं सेवयित्वा व्युत्थानदशायां गुरुसेवनं न तु समाधाविति सूचनाय क्त्वाप्रयोगः (सम्यग्) अशेषतः सावधानेन भ्रमप्रमादरहितः सन् परमं पदं सम्पाद्य परमात्मस्वरूपमवगत्य तस्मिन् परमात्मनि निजपिण्डे स्वकीयपिण्डे समरसभावं पूर्वोक्तरूपेणाभेदभावनां कृत्वा विधायात्यन्त-निरुत्थानेन सांसारिकविषयोन्मुखता परिहारेण। आत्यन्तिकात्मनिष्ठतया सर्वदानन्दत्वे सच्चिदानन्दवने निश्चलं नियतकालावधिं पुनरुत्थानवर्जितं यथास्यात् तथा स्थातव्यम्, समुपासितव्यं तादृशदृढाभ्यासात् स्वयमेव प्रयत्नान्तर-निरपेक्षतयैव महासिद्धो भवतीति सत्यं नास्ति सन्देहावसरः स्वानुभवाव-सानत्वात्॥५६॥

भा० टी०–अत एव पूर्वोक्त तुर्यादि आत्मनिष्ठा सम्पादन के लिये अच्छी तरह निज आत्मनिष्ठारूप परमशान्ति को कराने वाले महासिद्ध योगिराज सद्गुरु की सेवाकर बड़ी सावधानी से परमपद को जानकर व्यापक परमपद में और व्यष्टि-निजपिण्ड में पूर्वोक्त परस्पर धेयावलम्वन की रीति से अभेदरूप समरस करके अनादि अज्ञानरूप माया से सचेत हुआ वह योगी सर्वानन्द व्यापक अपने आत्मा में अचल भाव से स्थित हो जाय। उसके बाद स्वयं महासिद्ध हो जाता है। ऐसा महासिद्ध हो जाने पर उसका कर्तव्याकर्तव्य कुछ भी बाकी नहीं रहता॥५६॥

मू०–

न विधिर्नैव वर्णश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना।
न भेदो निधनं किञ्चिन्नाशौचं नोदकक्रिया॥५७॥
योगीश्वरेश्वरस्यैवं नित्यतृप्तस्य योगिनः।
चित्स्वात्मसुखविश्रान्तिभावलब्धस्य पुण्यतः॥५८॥
सम्यक्स्वभावविज्ञानात् क्रमाभ्यासान्न चासनात्।
न वैराग्यान्न नैराश्यान्नाहारात्प्राणधारणात्॥५९॥
न मुद्राधारणाद्योगान्मौनकर्मसमाश्रयात्।
न विरक्तौ वृथायासान्नकायक्लेशधारणात्॥६०॥
न देवार्चनाश्रयाद्भक्त्यानाश्रमाणां च पालनात्।
न षड्दर्शनकेशादिधारणान्न च मुण्डनात्॥६१॥
न जपान्न तपोध्यानान्न यज्ञतीर्थसेवनात्।
नानन्तोपाययत्नेभ्यः प्राप्यते परमं पदम्॥६२॥

सं० टी०–कुलकमेते श्लोका अतो व्युत्क्रम्यव्याख्येयाः पुण्यत इह जन्मनि पूर्वजन्मनि वा समुपार्जितपुण्यपुञ्जप्रभावेण सम्यग् यथार्थतः स्वभावस्यात्मस्वरूपस्य विज्ञानात्। आचार्योपदेशजनितज्ञानबलात् पश्चात् क्रमाभ्यासात् पूर्वोक्तक्रमेणाभ्यासबलात् चित्स्वात्मसुखविश्रान्तिभावलब्धस्य परमानन्दैकविश्रामधामसमीयुषः, नित्यतृप्तस्य क्षुत्पिपासादिरहितस्य योगिनः साम्प्रतं योगीश्वरेश्वस्य कृते सिद्धावस्थायां न विधिः प्रेरणा नैव वर्णाः न

च वर्ज्यावर्ज्यकल्पनेदं वर्जनीयमिदं न वर्जनीयमित्यादि आज्ञानिषेधो न भवतः। न भेदो न च निधनं मरणं न च मरणादिजन्यम् अशौचं नोदक-क्रियातर्पणादि। इदमत्र रहस्यं मोक्षरूपसिद्धिं प्रति गुरुद्वारात्मविज्ञान तदभ्यास एव साक्षात् कारणं नान्यत्। आसनवैराग्यदयस्तु परम्परया तत्त्वज्ञानोत्पादने साहाय्य सम्पादनद्वारा कारणं न तु साक्षात्। अत एव साक्षात् कारणस्य तत्त्वज्ञानस्य प्रशंसायै, अग्रे निषेधति न चासनात् वैराग्यादिभ्यः परं पदं प्राप्यत इति न त्वासनवैराग्यादीनां सर्वथा वैयर्थ्यबोधनाय तेषां स्वस्वफलैः सकलत्वादन्यत् सर्वं स्पष्टम्॥६२॥

भा० टी०—पूर्वजन्म में उपार्जित पुण्यकर्म के बल से सिद्धगुरु के उपदेश द्वारा आत्मा को अच्छी प्रकार से जानकर क्रम से योगाभ्यास की परिपक्व निष्ठा से चेतन व्यापक आनन्दघन निज आत्मा के सुख-रूप विश्रान्ति भाव को प्राप्त होने पर आत्मानन्द में तृप्त हुआ योगी जब परब्रह्मस्वरूप हो जाता है, तब वह महासिद्ध अवस्था को प्राप्त होने से योगीश्वरों का भी ईश्वर कहलाता है। ऐसे सिद्ध के लिये न शास्त्रीय विधि और न निषेध है, न वर्णाश्रम और वर्ज्यावर्ज्य का विचार और न ग्रहण या त्याग की कल्पना है। न भेद है, न उसका जरामरण है; क्योंकि वह काल का भी काल है। उसके लिये न अशुद्धि और न जलक्रिया ही है। भावार्थ यह है कि मोक्षरूप परमपद की प्राप्ति के लिये गुरुमुख द्वारा आत्मज्ञान और योगानुष्ठान का अभ्यास ही आत्मा के साक्षात्कार में कारण है। उक्त साधन के बिना न केवल आसन न वैराग्य, न निराशा न प्रत्याहार, न प्राणायाम, न मुद्राधारण, न योग, न मौन रहना, न तितिक्षा न देवपूजा, न आश्रमसेवा, न षड्दर्शन-केशादि-धारण, न मुण्डन, न जप-तप-ध्यान, न यज्ञ, न तीर्थसेवन और न अनन्त उपायों से परमपद प्राप्त होता है॥६२॥

मू०— एतानि साधनानि सर्वाणि दैहिकानि परित्यज्य परमपदेऽदैहिके स्थीयते सिद्धपुरुषेरिति॥६३॥

सं० टी०—एतानि पूर्वोक्तानि आसनवैराग्यादीनि सर्वाणि दैहिकानि स्थूलदेहसम्बन्धीनि साधनानि परित्यज्य सिद्धावस्थायां कृतकार्य तया विहाय परस्मै पदे दैहिके परमात्मरूपदेहे सिद्ध पुरुषैः स्थीयते सिद्धाः परमात्मस्था

भवतीति यावत्॥६३॥

भा० टी०–उपर्युक्त सब साधन देहसम्बन्धी हैं। अतः इन अनात्मपदार्थों में आसक्त न होकर आत्मरूप परमपद में ही सिद्ध योगिराज स्थिर रहते हैं। अतः परमपद से आत्मनिष्ठा में ही ऊपर के साधनों का उपयोग होना उचित है; अन्यथा नहीं॥६३॥

मू०– तत् कथङ्गुरुदृक् पातनात् प्रायो दृढानां सत्यवादिनां सस्थितिर्जायते॥६४॥

कथनाच्छक्तिपाताद्वा यद्वा पादावलोकनात्।
प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम्॥६५॥

सं० टी०– ननु तत् कथम्प्राप्यते। इति प्रश्नपूर्वकमुत्तरमाह– गुरुदृक् पातनादाचार्यकरुणाकटाक्षोन्मेषात्, किं सर्वेषां नेत्याह प्राय इत्यादि प्रायो दृढानां प्रबलविक्षेपं विना स्थिरचित्तानां सत्यवादिनां मिथ्याभिभाषणा बहिर्मुखाणां सा स्थितिः परमात्मनिष्ठा जायते। गुरुकृपैव श्रद्धादिद्वारात्मनिष्ठतां प्रति मुख्यकारणमितिभावः तत्र प्रकारमाह– स्वगुरोः जयः जयो भवत्विति कथनादाशीर्वचनादिति भावः शक्तिपाताद्वा अकथयित्वैव किञ्चिदपि सूक्ष्म-व्यापारेण शिष्येषु शक्तिं सञ्चारादथवावलोकनाद् दृष्टिमात्रात् किं वा प्रसादान् मनः सन्तोषात् मानसिकप्रीतिरेव परमं पदं प्राप्यते। गुरुणा शिष्य इत्यध्याहारोप्यन्तात् प्रयोज्य कर्मणि लट् श्रीगोरक्षनाथैरेव वाक्यपदीयकार-भर्तृहर्यादिषु शक्तिसञ्चारः पूर्णादिषु कृपावलोकनं कृतमिति च प्रसिद्धम्॥६५॥

भा०टी०–जिस आत्मनिष्ठा में सिद्ध योगी स्थित रहते हैं, वह आत्मनिष्ठा किसको कैसे प्राप्त होती है; इसका उत्तर सुनिये– गुरुभक्त श्रद्धालु धीर सत्यवादी शिष्यों को वह आत्मनिष्ठा पूज्य गुरुदेव की करुणादृष्टि के पात से सुलभ हो जाती है। श्रुति में भी कहा है कि जिसकी महेश-आदि देवों के समान पूज्यगुरु में भी भक्ति है, ऐसे गुरुभक्त श्रद्धालुजनों को आत्मनिष्ठा-आदि पदार्थ प्रकाशित होते हैं। औपदेशिक, शक्तिपात्, करुणावलोकन– भेद से तीन प्रकार की शिक्षा होती है। औपदेशिक शिक्षा वह कहलाती है; जिससे गुरु संसार को स्वप्नतुल्य मिथ्या बतलाता हुआ आत्मा के शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव निरंजन अखण्ड ज्योतिःस्वरूप में शिष्य को योगादि साधन द्वारा भले

प्रकार से स्थिर करे। जो आस्तिक श्रद्धालु शिष्य अत्यन्त मन्दबुद्धि है, किन्तु गुरु उसको उसी क्षण कृतार्थ करना चाहता है। उस समय सिद्धयोगिराज गुरु निज कृपापात्र शिष्य में अपनी अलौकिक योगशक्ति का पात करता है, तब वह शिष्य भी गुरु-जैसा ही समर्थ और त्रिकालदर्शी हो जाता है। जैसे योगाचार्य श्रीगोरक्षनाथजी ने अनेक भर्तृहरि-आदि शिष्यों को इसी शक्तिपात की शिक्षा से अमर किया है। *"जब लग धर्त्री तब लग भर्तृ, जायेगी धर्त्री रहेगे भर्तृ"* इत्यादि कहावतें भी प्रसिद्ध हैं। इसी को शक्तिपात शिक्षा कहते हैं। इस शिक्षा को महासिद्ध योगी और ईश्वर के बिना दूसरा नहीं दे सकता। जिसको प्रेमभरी दृष्टि से देखकर कृतार्थ किया जाय, जैसे योगाचार्यजी ने विकल अङ्ग पूर्णभक्त को करुणावलोकनमात्र से ही सर्वाङ्ग सजीव और अमर किया था, इसको करुणावलोकन शिक्षा कहते हैं। यह शिक्षा भी सिद्धयोगी और ईश्वर की ही सफल होती है। अतः उपर्युक्त तीन शिक्षाएँ और आशीर्वाद-आदि गुरुप्रसाद से ही मोक्षरूप परमपद की प्राप्ति होती है॥६५॥

मू०– अत एव शिवेनोक्तम्।

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकम्।
शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः॥६६॥

सं० टी०–शिवशासनतः शिवोपदेशाज्ज्ञायते यद्गुरोरधिकमुत्तमं साधनं न किमप्यस्ति महीतलेऽत्र वीप्सायां द्वित्वेन आवश्यकतां ध्वनयति॥६६॥

भा० टी०–अत एव शिवजी ने भी कहा है कि मोक्ष के कपाट खोलने में गुरु से बढ़कर अन्य कोई भी उपाय नहीं। इसी बात को पुष्ट करने के लिये शिवोक्त श्लोक में चार आवृत्ति की हैं। अतः लाचौरासी के फंदे को आत्मज्ञान द्वारा समूलोच्छेदकर परममोक्ष के देने वाले अवधूत सिद्ध गुरु को साक्षात् शिव ही समझे॥६६॥

मू०–

वाङ्मात्राद्वाथदृक्पाताद्यः करोति च तत्क्षणात्।
प्रस्फुटं शाम्भवं वेद्यं स्वसंवेद्यं परं पदम्॥६७॥

करुणाऽखण्डपातेन च्छित्वा पाशाष्टकं शिशोः।
सम्यगानन्दजनकः सद्गुरुः सोऽभिधीयते॥६८॥

सं० टी०–किञ्च [**करुणाऽखण्डपातेन**] दयारूपाखण्डदृष्टिपातेन [**शिशोः**] शिष्यस्य [**पाशाष्टकम्**] जन्ममृत्युजराव्याधिधर्माधर्मद्वेषात्मकं बन्धनजालं [**छित्त्वा**] दूरीकृत्य [**सम्यगानन्द जनकः**] परिपूर्णानन्दात्मक-निजदेहोत्पादकः [**यः**] सः सद्गुरुः अभिधीयते, कथ्यते। अतोऽन्यः साधारणो गुरुरितियुग्मतया सद्गुरुलक्षणमाह [**वाङ्मात्रात्**] आशीर्वचनादेवं [**अथवा दृक्पातात्**] अवलोकनमात्रात् [**तत्क्षणात्**] तस्मिन्नेव क्षणे [**प्रस्फुटम्**] स्पष्टम् [**वेद्यं ज्ञातव्यम्**] [**शाम्भवम्**] शिवसम्बन्धि [**परमपदम्**] वास्तविकतत्त्वम् [स्वसंवेद्यम्] शिष्यस्य स्वानुभवावसानं करोति॥६७-६८॥

भा० टी०–जो गुरु क्षणमात्र में अपने अनुभव से जानने योग्य परमपद मोक्ष को मधुर उपदेशमात्र से या करुणा दृष्टिपात से अभिव्यक्त कर देता है तथा उस कृपादृष्टि से शिष्ट के जरा मरण काम क्रोध-लोभ-मोह-अहंकार और अविद्या– इन आठ बन्धनों का विनाश कर आत्मज्ञान के द्वारा अच्छी तरह आनन्द को प्राप्त कराता है, वह सद्गुरु कहलाता है॥६७-६८॥

मू०–

निमिषार्धार्धपाताद्वा यद्वा पादावलोकनात्।
स्वात्मानं स्थिरमाधत्ते तस्मै श्रीगुरवे नम्॥६९॥

सं० टी०–यस्य निमिषचतुर्थांशपातात् कटाक्षलेशादपीति यावत् यद्वा पादावलोकनात् चरणदर्शनात्, शिष्य इति शेषः स्वात्मानं स्वान्तः-करणं स्थिरं निश्चलं समाधत्ते कुरुते तस्मै प्रभावशालिने श्रीगुरवे नमः प्रह्वीभावोऽस्तु॥६९॥

भा० टी०– शिष्य के द्वारा निज चरणकमल के ध्यान से प्रसन्न हुआ गुरु निमेष के चतुर्थांशं दृष्टिपात से शिष्य को निज आत्मानन्द में स्थिर कर देता है। अतः उस परमपद शान्तिदाता श्रीगुरुदेव को प्रणाम है॥६९॥

मू०–

नानाविकल्पविश्रान्तिं कथया कुरुते तु यः।
सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु मिथ्या विडम्बकः॥

अत एव परमपद प्राप्त्यर्थं स सद्गुरुः सदा वन्दनीयः॥७०॥

सं० टी०–किञ्च यः कथया स्वोपदेशेन नानाविकल्पविश्रान्तिम् निखिलसांसारिकविषयकविविधकोटिकविज्ञानविनाशं समस्तसंशयोच्छेदमिति यावत् कुरुते विधत्ते, स एव सद्गुरु र्विज्ञेयो न तु मिथ्याविडम्बकः–आपात-रमणीयमायिकवस्तूपदर्शनेन वञ्चकः। अत एव गुरोः प्रधानत्वादेव सः सद्गुरुः सदा वन्दनीयः सर्वदा पूजनीय इति॥७०॥

भा० टी०–आत्मस्वरूपबोधक पवित्र और आध्यात्मिक कथाओं से शिष्य के मन में स्थित नाना संकल्प-विकल्प-भेद-आदि विकार की शान्ति को करने वाला ही सद्गुरु कहलाता है; आत्मकल्याण से वंचित करने वाला मिथ्यावादी धूर्त नहीं। अतः परमपद की प्राप्ति के लिये सद्गुरु सदा वन्दनीय है॥७०॥

मू०– गुरुरिति गुणातिशं सम्यक् चैतन्यविश्रान्ति-मुपदिशति विश्रान्त्या स्वयमेव परात्परं परमपदमेव प्रस्फुटं भवति, तत्क्षणात् साक्षात्कारो भवति॥७१॥

सं० टी०–यो गुरुः गृणातिशम् कल्याणमाधत्ते यत्सम्यक् चैतन्यं परिपूर्णविज्ञानघनं तस्मिन् विश्रान्तिं निष्ठामुपदिशति, विश्रान्त्या तन्निष्ठया स्वयमेव साधनान्तरनिरपेक्षं सत् परान् अस्मदाद्यपेक्षया हिरण्यगर्भदेवादि-परं ततोऽपि परं समुत्कृष्टं परमपदं शिवतत्त्वं प्रस्फुटं भ्रमसंशयरहितं निश्चितं भवति तत्क्षणात् तत्कालं शिवस्य साक्षात्कारो भवति॥४०॥

भा० टी०–अब गुरु-शब्द के अवयवार्थ का वर्णन करते हैं। शिष्य के अन्तःकरणस्थ अज्ञानपटल का समूलोच्छेद कर जो कल्याण का मार्ग बतलावे अर्थात् वास्तविक निज आत्मानन्द चैतन्य विश्रान्ति का जो उपदेश दे, वही सद्गुरु है; क्योंकि उस उपदेश से आत्मनिष्ठारूप शान्ति के द्वारा स्वयं ही सर्वोत्तम मोक्षरूप परमपद स्फुट होने लगता है और उसी क्षण में साक्षात्कार हो जाता है।

मू०– अत एव महासिद्धानां मते प्रोक्तं वाङ्मात्रेण सम्यगवलोकनेन वा तत्क्षणान्मुहुर्विश्रान्तियुक्तं करोतीति यः स सद्गुरुर्भवति। नोचेन्निजविश्रान्तिं विना पिण्डपदयोः समरसकरणं न भवतीति सिद्धान्तस्तस्मान्निजविश्रान्तिकारकः सद्गुरुरभिधीयते नान्यः। पुनर्वागादिशास्त्रदृष्ट्यनुमानतर्क-मुद्रयाभ्रामको गुरुस्त्याज्यः॥४१॥

सं०टी०–गुरुं विना अकृतार्थत्वादेव महासिद्धानां मते प्रोक्तम् सिद्धमते कथितं यत् वाङ्मात्रेण मन्त्रोपदेशेन, अथवा सम्यगवलोकनेन दृष्ट्या तेनैव तत्क्षणात् मुहुर्विश्रान्तियुक्तम् परमात्मतत्पराणां सिद्धानां मध्ये विश्रमयुतं करोति विदधाति यः, स सद्गुरुर्भवति। नो चेद् यदि शिष्यस्य प्रथमतः परमात्मनिष्ठां न कुर्यात्तदा निजविश्रान्तिम् आत्मनिष्ठां विना पिण्डपदयोः आत्मपरमात्मनोः समरसकरणम् अभेदभावनं न भवतीति निश्चितं सर्वमेते। तस्माद्धेतोर्निजविश्रान्तिकारकः परमात्मनिष्ठासम्पादकः सद्गुरुरभिधीयते कथ्यते; न त्वन्य इति आत्मचर्चारहितसंसारप्रदर्शककेवल-शब्दाडम्बरशास्त्रीयविषयनिजाऽनुमानमात्रकुशलः। तर्कमुद्रया युक्तिच्छलेन भ्रामको भ्रमोत्पादको गुरुस्त्याज्यो दूरतः परिहर्तव्यः॥७२॥

भा० टी०–इसी से महासिद्धों के मत में कहा है कि उपदेशमात्र से या करुणाकटाक्ष से जो गुरु तत्काल शिष्य को बार-बार परम शान्ति युक्त करता है, वही सद्गुरु कहलाता है। यदि उपर्युक्तलक्षणयुक्त गुरु में नहीं है, तो वह स्वयं भी आत्मनिष्ठ न होने से शिष्य के लिये भी पिण्डपद के समरसकरण में सर्वथा असमर्थ है। इसलिये शिष्य को आत्मविश्रान्ति कराने वाला और श्रेष्ठ कल्याण मार्ग का प्रदर्शक ही सद्गुरु कहलाता है; दूसरा नहीं। किन्तु शुष्क वागाडम्बर द्वैतशास्त्रदृष्टि अनुमान तथा निष्फल आत्मशून्यवाद से शिष्य को भ्रम में डालने वाला गुरु सर्वथा त्याज्य है।॥७२॥

मू०–

ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मित्यावादी विडम्बकः।
स्वविश्रान्तिं न जानाति परेषां स करोति किम्॥७३॥

सं० टी०–ज्ञानहीनः स्वकीयानुभवरहितः केवललौकिककृत्य-कुशलः मिथ्यावादी ससारस्यैवं मिथ्यात्वात् तद्वादी मिथ्यावदनशीलः। अत एव विडम्बकः विडम्बनाकारको गुरुस्त्याज्यः परिहेयः। यतो यः स्वविश्रान्तिं ब्रह्मनिष्ठतां न जानाति, नानुभवति स परेषां शिष्याणां किं करोति॥७३॥

भा० टी०–आत्मज्ञान से वंचित करने वाला मिथ्यावादी और ज्ञानहीन गुरु त्यागने योग्य है; क्योंकि जब स्वयं ही आत्मनिष्ठारूप शान्ति को नहीं जानता, तो वह दूसरे को कैसे आत्मनिष्ठा में कल्याण का भागी बना सकता है। इसमें दृष्टान्त भी देते हैं॥७३॥

मू०–

शिलया किं परं पारं शिलासङ्घः प्रतार्यते।
स्वयं तीर्णो भवेद्योऽसौ परान्निस्तारयत्यलम्॥७८॥

विकल्पसागराद् घोराच्चिन्ताकल्लोलदुस्तरात्।
प्रपञ्चवासनादुष्टग्रहजालसमाकुलात्॥७५॥
वासनालहरीवेगान्न स्वं तारयितुं क्षमः।
स्वस्थेनैवोपदेशेन निरुत्थानेन तत्क्षणात्॥७६॥

सं० टी०–अत्रैव दृष्टान्तमुच्यते– शिलया सुरसरित्प्रवाहे पतितेन पाषाणेन तत्र स्थितः शिलासङ्घः परं पारम् अपरं कुलं नावेव किं प्रतार्य्यते, उत्तार्यते न हि वर्षं पूगैरपीत्याक्षेपस्तथैव स्वयमसिद्धोगुरुः शिष्यं भवाम्बुधेस्तारयितुं नालम्। अतो यो हि स्वयं तीर्णो भवेत् स्वानुष्ठानेन परमात्मनिष्ठोऽसौ परान् शिष्यान् अलम् प्रभूतं तारयति; यथा स्वयं क्रिया सहिततरिः स्वक्रिययैव निरुद्धमपि पाषाणादिं तारयतीति न्यायः। यो हि परमात्मनिष्ठाविहीनः, स चिन्ताकल्लोलदुस्तरात् चिन्तैव कल्लोलावुद्वुदा-स्तैर्दुस्तरात्, दुःखेन तीर्यत इति तस्मात् प्रपञ्चानां सांसारिकविषयाणां वासनाः संस्कारास्त एव दुष्टग्राहास्तेषां जालैर्विस्तारैः समाकुलात् सङ्कीर्णात्। वासनापुनर्जायमानसंस्कार एव लहर्य्यावेगो यस्मिन्, तस्मात् विकल्पसागरात् विविधकोटिकसंशय- रूपसमुद्रात् स्वात्मानं तारयितुं न क्षमो न हि समर्थो भवति॥७६॥

भा० टी०–जैसे शिला, शिला के समूह को नदी पार करने में

सर्वथा असम्भव है। इसी प्रकार आत्मज्ञान से शून्य गुरु-शिष्य के बन्धनों को नहीं छुड़ा सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो आत्मनिष्ठ अवधूत सिद्ध गुरु स्वयं संसार के बन्धन से मुक्त है, वही दूसरे को भी बन्धन मुक्त कर सकता है। अन्य नहीं और चिन्तारूप तरंगों से घोर दुस्तर तथा जगत् की वासनारूप दुष्टग्राहसमूह से व्याप्त जो मोह-ममता-आदि-रूप संसार है तथा उस वासनारूप तरंगों के वेग से युक्त संसार से पार कर मोक्षपद को देने वाले यथा सुन्दर उपदेशों से क्षणमात्र में पार करने में जो समर्थ है, वही यथार्थ में गुरु है। ऐसा ही समर्थ गुरु शक्तिपात के उपदेश या करुणाकटाक्ष से शिष्य को अवश्य संसार से पारकर परम मोक्षपद में पहुँचाता है॥७६॥

मू०–

तारयत्येव दृक्पातात् कथनाद्वा विलोकनात्।
तारिते स्वपदं धत्ते स्वस्वमध्ये स्थिरो भवेत्॥७७॥
ततः समुच्यते शिष्यो जन्मसंसारबन्धनात्।
परानन्दमयो भूत्वा निष्कलः शिवतां व्रजेत्॥७८॥
कुलानां कोटिकोटीनां तारयत्येव तत्क्षणात्।
अतस्तु सद्गुरुं साक्षात् त्रिकालमभिवन्दयेत्॥७९॥
सर्वाङ्गप्रणिपातेन स्तुवन्नित्यं गुरुं व्रजेत्।
स जनः स्थैर्यमाप्नोति स्वस्वरूपमयो भवेत्॥८०॥

सं० टी०–यस्तु स्वयं स्थिर आत्मनिष्ठः स स्वस्थैर्येण निरुत्थानेन उपदेशेन निश्चयात्मकोपदेशबलेन कथनात् वा विलोकनात् कृपाकटाक्षाद्वा तत्क्षणादेव तारयति, स सद्गुरुरिति शेषः। तारिते गुरुणोद्धारिते सति शिष्यः **[स्वपदं]** स्वलक्ष्यं **[धत्ते]** धारयति किञ्च **[स्वस्वमध्ये]** स्वस्वरूप-परमात्मनि **[स्थिरो भवेत्]** निश्चलो जायेत। **[ततः]** तदा जन्मसंसार-बन्धनात् उत्पत्तिमरणप्रबन्धप्रपञ्चात्, स मुच्यते मुक्तो भवति। **[परानन्द-मयः]** ब्रह्मस्वरूपः **[निष्कलः]** इन्द्रियादिरहितः सन् **[शिवतां]** शिवस्वरूपं **[व्रजेत्]** प्राप्नोति। स्वयं तरतीति। किं चित्रं **[कोटिकोटीनां]** अनेकस्व-कुलानां शेषे षष्ठी तत्क्षणादेव तारयति। **[अतः]** पूर्वोक्तहेतोः **[नित्यम्]**

प्रत्यहं [**सद्गुरुम्**] अभिवन्दयेत् प्रणमेत् [**सर्वाङ्गप्रणिपातेन**] दण्डवद् विनिपातेनेति पूर्वान्वयः, यः स्तुवन् प्रशंसन् गुरुं व्रजेत्। [**स जनः**] स्थैर्यं परमात्मनिष्ठामाप्नोति लभते [**स्वस्वरूपमयः**] साक्षात् शिवस्वरूपो भवेत्॥७७-८०॥

भा० टी०—योगविद्या में निपुण सिद्ध गुरु-शिष्य का अपनी शक्तिपात या आत्मज्ञान के उपदेश से या करुणकटाक्ष द्वारा इस दुस्तर असार संसार से अवश्य निस्तार कर देता है। अतः उपर्युक्त विधि के द्वारा गुरु शिष्य को जब अज्ञान निद्रा से जगाता है, तब वह शिष्य केवल लक्ष्यरूप अद्वैत आत्मनिष्ठा धारण में ही तत्पर होता है। पीछे व्यापक असङ्ग परमज्योतिःस्वरूप आत्मा में स्थिर हो जाता है। इसी से गुरु का कृपापात्र शिष्य योग के द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्त हो जन्ममरणरूप संसारबन्धन से सदा के लिये छूट जाता है। पश्चात् वह सर्वदोषशून्य असङ्ग अभेद आत्मदर्शी स्वकीय वास्तविक परमानन्दस्वरूप को प्राप्त होकर व्यापक सर्वाधार केवल असङ्ग शिवरूप मोक्ष को जीवनकाल में ही प्राप्त कर लेता है। महासिद्ध गुरु असंख्य कुलों को भी अल्प समय में ही निज योगविद्या के प्रभाव से जन्ममरणरूप संसारचक्र से छुड़ा देता है या जिस कुल में जो साधु होता है, वह यदि सद्गुरु की कृपा से योगसिद्धि को प्राप्त कर ले; तो उसके योगविद्या के पुण्य प्रभाव से उस कुल में उत्पन्न होने वाले अनेक जनों का भी उद्धार हो जाता है और वह सद्गुरु की कृपा से मोक्षरूप परमपद को प्राप्त होता है। इसका तो कहना ही क्या है? इसीलिये साक्षात् शिवरूप योगविद्या के दाता सद्गुरु को तीनों समय श्रद्धापूर्वक प्रणाम करें। दण्डवत् प्रणाम के द्वारा भक्ति-श्रद्धा से स्तुति करता हुआ नित्य गुरु के पास जाय और वहां गुरु के सत्सङ्ग से योग में ज्ञान-ध्यान-विषयक अपने सन्देह की निवृत्ति कर इस क्रम से जब योगाभ्यास करता है। तब वह योगाभ्यासी शिष्य स्थिरता को प्राप्त होता है। इसके अनन्तर वह अपने को ब्रह्मरूप से सर्वत्र व्यापक और असङ्ग देखता है॥७७-८०॥

मू०—

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्र कोटिशतेन च।
दुर्लभाचित्त विश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम्॥८१॥

चित्तविश्रान्ति लब्धानां योगिनां दृढचेतसाम्।
स्वस्वमध्ये निमग्नानां निरुत्थानं विशेषतः॥८२॥

सं० टी०—अत्र बहुनोक्तेन अनल्पजल्पनेन किं शास्त्रकोटिशतेन च केवलस्वबुद्धिसंलापितानेकशास्त्रैः परां श्रेष्ठां गुरुकृपामाचार्यानुकम्पां विना चित्तविश्रान्तिः मनोवृत्तिनिरोधे दुर्लभा बहुलायाससाध्या। चित्तं विश्रान्तौ फलं प्रदर्शयति— चित्तेति। चित्तविश्रान्तिलब्धानां मनोव्यापारनिरोधं प्राप्तवतामत एव दृढचेतसामुपस्थितेऽपि विषयेऽविचलितचेतसां स्वस्वमध्ये स्वकीयात्म-स्वरूपे परिनिष्ठितानां योगिनां निरुत्थानं स्वरूपभावनातोऽप्रच्युतिर्विशेषतो विशेषरूपेण जायते॥८१-८२॥

भा० टी०—अधिक क्या कहें सिद्ध गुरु की कृपा के बिना करोड़ों शास्त्रों के अभ्यास से भी विशेषरूप से चित्त की शान्ति होना दुर्लभ है। अतः सिद्धगुरु की अनुकम्पा से सकल इन्द्रियसमूह के सहित मन को अच्छी तरह जीतने वाले और परम शान्ति की प्राप्ति हुये अखण्ड ज्योतिःस्वरूप व्यापक निज आत्मानन्द ही में मग्न योगिराजों का विशेषरूप से अविद्यारूप निद्रा से जागरण होता है; क्योंकि अनादि अज्ञान निद्रा में सोया हुआ यह जीव ईश्वर कृपा होने पर जब गुरु से जगाया जाता है, तब वह अपने को जन्म-मरण-रहित व्यापक असङ्ग और चेतनरूप से देखता है। जैसे पर्वत के ऊँचे शिखर पर चढ़ा हुआ व्यक्ति भूमि में स्थित प्राणियों को अत्यन्त छोटे आकार में देखता है। इसी प्रकार वह योगी सकल जगत को अज्ञाननिद्रा में धंसा हुआ देखकर विचार करता है कि ये लोग आत्मानन्द से वंचित हुये विपरीत मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं, यही तो माया का खेल है। यहाँ ज्ञानी और अज्ञानी का मार्ग भिन्न होता है। जिस अखण्ड आत्मानन्द को न जानने से सब प्राणियों के लिये वह रात्रिरूप है। इसी से उसमें समस्त प्राणी सोये हैं और योगिराज उसमें जागता है। जिस भोग्य विषयरूप तृष्णा रात्रि में मूर्खजन आसक्त रहते हैं। वह सर्वत्र एक अखण्ड ज्योति आत्मा को देखने वाले योगिराज की रात्रि होती है। उसमें वह सदा के लिये सो जाता है। यही निरुत्थानपद का भाव है॥८१-८२॥

मू०–

निमिषात् प्रस्फुटं भाति दुर्लभं परमं पदम्।
यस्मिन् पिण्डो भवेल्लीनः सहसा नात्र संशयः॥८३॥

सं० टी०–ततश्च निमिषात् झगिति दुर्लभमपि परमं पदं प्रस्फुटं भाति यस्मिन् परमात्मनि पिण्डोऽयं देहः सहसा हठाल्लीनोऽभिन्नो भवति। नास्त्यत्र संशयः॥८३॥

भा० टी०–अबः जब योगी की निरुत्थान (अखण्ड आत्मबोध) दशा सिद्ध हो जाती है, तब पलभर में ही दुर्लभ परमपद भी स्फुटरूप से प्रतीत होने लगता है। जिस व्यापक परमपदरूप पिण्ड में व्यष्टि पिण्ड का अभेद रूप समरस होता है; अर्थात् व्यष्टि स्थूलशरीर का समष्टि शरीर के साथ तथा व्यष्टि सूक्ष्मशरीर का समष्टि सूक्ष्म के और व्यष्टिचेतन का समष्टिचेतन के साथ अभेद होता है; इसमें सन्देह नहीं। ऐसा होने पर योगी में सर्वेश्वर जैसी सामर्थ्य आ जाती है। अन्त में वह योगी अजर अमर होता हुआ स्वेच्छा से परमनाथ तत्त्वरूप परब्रह्म में लीन हो जाता है॥८३॥

मू०–संवित्क्रियाविकर्णोदयचिद्विलासो विश्रान्तिमेव भजतां स्वयमेव भाति। ग्रस्ते स्ववेगनिचये पदपिण्डमैक्यं सत्यं भवेत्समरसं गुरुवत्सलानाम्॥८४॥

॥इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पिण्डपदसमरसकरणो नाम पञ्चमोपदेशः॥

सं० वी०– संवित्क्रियायाः बुद्धिवृत्तेर्विकरणो विस्तारः तस्योदय उत्पत्तिस्तेन यश्चिद्विलासः केवलात्मप्रकाशस्तस्मिन् विश्रान्तिस्थितिमेव न तु सांसारिकविषयकचिद्विलासविश्रान्तिमित्येव पदेन व्यज्यत भजताम् सेवमानानां शिष्याणां स्ववेगनिचये स्वीयमानसव्यापारे ग्रस्ते निरुद्धे सति पदपिण्डम् समष्टिव्यष्टिरूपं स्वयमेव भाति प्रकाशते। किञ्चैक्यं समरसं गुरुवत्सलाना-माचार्यकृपाभाजां सत्यं ध्रुवं भवेदित्याचार्यप्रतिज्ञा॥८४॥

॥इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीपं. द्रव्येशझारचितायां गूढार्थदीपिकायां टीकायां पञ्चमोपदेशः॥

भा० टी०–बुद्धि के व्यापार का जो सांसारिक बाह्य विकाश होता है, उसकी शान्ति करने से उसी सत्त्वप्रधान बुद्धि दर्पण में अभिव्यक्त और आत्मविषयक अखण्डाकार वृत्ति में परमनिष्ठारूप शान्ति का आश्रय करने वाले जो गुरु के कृपापात्र शिष्य हैं; उनको स्वयं ही सम्पूर्ण मानसिक वृत्तियों के अस्त हो जाने पर जीवात्मा और परमात्मा का अभेद रूप समरस अवश्य होता है– यह सत्य है॥८४॥

॥इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पूज्यपादवोहराधिपतियोगीन्द्रश्री १०८ श्रीपूर्णनाथशिष्येण वेदान्ताचार्येण पण्डितश्रीभीष्मनाथेन कृतायां सारदीपिकायां हिन्दीटीकायां पञ्चमोपदेशः॥

अथावधूतयोगिलक्षणं कथ्यते

मू०– अथ कोऽवधूतयोगिनामेत्यपेक्षायामाह– यः सर्वान् प्रकृतिविकारानवधुनोतीत्यवधूतयोगी। योगोऽस्यातीति योगी धूञ् कम्पने धूञिति धातुः कम्पनार्थे वर्तते कम्पनं चालनं देहदैहिकप्रपञ्चादिषु विषयेषु सङ्गतं मनः परिगृह्य तेभ्यः प्रत्याहृत्य स्वधाममहिम्निपरिलीनचेताः प्रपञ्चशून्यआदि-मध्यान्तनिधनभेदवर्जितः॥१॥

सं० टी०–अथ गुरुं समासाद्यं तदुपदर्शितसमरसकरणानुष्ठानेन सिद्धिप्राप्त्यनन्तरमवधूतयोगी भवति। तस्य परिचयाय लक्षणं कथ्यत इति प्रकरणसङ्गतिः प्रदर्शिता भवति। कोऽवधूतनामा योगीति कस्यापि जिज्ञासोदये तदुपशमनाय लक्षणं प्रदर्श्यते– अवधूत इति सार्थकमिदं न तु केवलरूढम्। तत्रैव शाब्दिकरीत्या व्युत्पत्तिः प्रदर्श्यते। अवधूनोति कम्पयति चालयति स्वस्मात् त्यजतीति यावत् किमित्यपेक्षायामाह– सर्वानिति। तत्र किञ्चित् परित्यागे मानाभावात् किन्त्वात्मस्वरूपस्य हातुमशक्यतयाऽनात्मभूतान् प्राकृत-सर्वपदार्थांस्तथा च निखिलप्राकृतमलपरिरहितो विशुद्ध एवावधूतपदार्थः इति निर्गलितः कम्पनेऽपि गतेः सद्भावेन गत्यर्थकत्वात् "गति बुद्धि" इति सूत्रेण कतरिक्तः, योगः परमात्मना सकलशक्तिमता सह सम्बन्धोऽस्यास्तीति योगी अवधूतश्चासौ योगीति कर्मधारयः। 'धूञ् कम्पने' इति शाब्दिक-प्रक्रियामादाय स्वयमेव तस्यार्थमाह– धूञिति धातुः कम्पनार्थे वर्तते कम्पन-

पदार्थमाह– कम्पनचालनं परित्याग इति यावत् साम्प्रतमवधूतयोगीति पदद्वयस्य निर्गलितार्थं सञ्चित्याह– देहदैहिकप्रपञ्चादिषु विषयेषु संसारेषु। अत्र दैहिकपदेन देहसम्बन्धिकलत्रपुत्रधनादयो ग्राह्याः "सङ्गतम्" आसक्तम् मनः चित्तं परिगृह्य ध्यानाद्यभ्यासेन वशीकृत्य तेभ्य प्रत्याहृत्य दोषदर्शनादिजन्य-वैराग्येण विषयेभ्यो विनिवर्त्त्य। ननु तस्य क्व स्थितिः कर्तव्येत्यत आह– स्वधाममहिम्नीति। सर्वशक्तिसम्पन्नपरमात्मनि विलीनचेताः विलीनं चेतो यस्येति सः। तथा च चेतसो लयः। अत एव प्रपञ्चशून्यः प्राकृतसकल-सम्बन्धोज्झितः। तस्मात् आदिमध्यान्तभेदवर्जितः समस्तभेदशून्यः अद्वितीयरूप-मुख्यावधूतयोगी सञ्जातः किन्त्वोदनं पचतीतिवदेतदर्थं साधनदशापन्नोऽप्यव-धूतयोगीति ध्वन्यत इत्यग्रे स्फुटीभविष्यति॥१॥

भा० टी०–सद्गुरु के चरणों की कृपा से समस्त करण के अनुष्ठान द्वारा जो सिद्ध हो जाता है, वह समस्त सांसारिक कर्तव्यबन्धन से विमुक्त होकर अवधूत योगी कहलाता है। इसीलिये समरसकरण का प्रकार पंचम उपदेश में निरूपण करके अब इस उपदेश में अवधूत योगियों का लक्षण कहा जाता है; क्योंकि लक्षण से ही वस्तु का निर्णय होता है। अतः अवधूत योगी कौन है– इस अकांक्षा को हटाने के लिये लक्षण कहना भी आवश्यक है। अवधूत-पद तथा योगी-पद का व्याकरण की रीति से जो अर्थ निकलता है, वही उनका लक्षण है। देह और देह-सम्बन्धी पुत्र-कलत्र-मित्र-धनादि समस्त सांसारिक पदार्थों में आसक्त मन को हटा लेना अवधूत-पद का अर्थ है, क्योंकि व्याकरण में धू-शब्द का अर्थ कम्पन है। जैसे घोड़ा अपने देह को हिलाकर समरस धूलि को झाड़ देता है, वैसे ही आत्मा से अतिरिक्त देह-इन्द्रिय-आदि सब जडवर्गरूप मल को अलग करने वाला अवधूत कहलाता है। योगी-पद का अर्थ है कि मन को परमात्मा में लीन कर देना। इन दोनों पदों के मिलने से यह अर्थ हुआ कि समस्त प्राकृत सम्बन्ध से विमुक्त होकर अखण्ड स्वप्रकाश शिव-शक्ति-रूप समरस करना आदि-मध्य-अन्त तथा मृत्यु आदि सकलभेदरहित अपने स्वरूप में स्थित रहने वाला मुख्य अवधूत योगी कहलाता है। जो इस अवस्था की प्राप्ति के लिये साधना कर रहा है। वह भी अवधूत योगी कहलाता है।

मू०–

यकारो वायुबीजं स्याद्रकारो वह्निबीजकम्।
तयोरभेद ओङ्कारश्चिदाकारः प्रकीर्तितः॥२॥

सं० टी०–वाच्यवाचकयोस्तादात्म्यमिति नियमेन तत्तदर्थवाचको वर्णरूपः पदरूपो वा शब्दरतदर्थरूप एव कथ्यते, अत एवोपनिषत्सु ब्रह्मवाचकः प्रणवो ब्रह्मरूप एवेति गीयते। बिन्दुः पदवाच्यः शिवो बीजपदवाच्या शक्तिरिति तान्त्रिकसङ्केतः। एव च पृथिवीतत्त्वस्य या शक्तिः सा पृथिवी-बीजम्। तस्या वाचको लकारवर्णः, अतो लकारपृथिवीबीजम्। एवमेव जलादिभूतचतुष्टयेषु योज्यम्। अनया रीत्या जलबीजं वँ तेजो बीजं रँ मूले बाहुलकाद् रादिफ इत्यभावेकारप्रत्यये रकारपदं साधु। वायुबीजं यँ आकाश-बीजं हँ। अत्र श्लोके दिग्दर्शनन्यायेन वायुवह्न्योरेव बीजे कथिते। तथा च; तयोरिति पदेनोपलक्षणतया सर्वेषां बीजानां ग्रहणम्। अतः सर्वेषां बीजानां सर्वासां शक्तिनामिति निष्कर्षः अभेदः उपादानकारणतया तादात्म्यप्राप्नुवन् ओकारः पञ्चभूतबीजशक्तियुक्तः प्रणवः चिदाकारः परमात्मरूपः प्रकीर्तितः कथितः। अवधूतोऽपि कार्यरूपं परित्यज्य कारणरूपमापन्नतया तद्रूपोभवतीति व्यज्यते। अत एव अवधूतलक्षणं प्रकारणेऽयमुपन्यस्तः॥२॥

भा० टी०–संज्ञा और संज्ञी अर्थात् नाम और नाम वाला– इन दोनों में अभेद का व्यवहार लोक और शास्त्र में होता है। लोक में जैसे यह कौन है? राम। राम कौन है? यह। इस प्रकार 'यह' और 'राम' में अभेदरूप से ही व्यवहार होता है। वेद में भी ओंकार को ब्रह्मरूप कहा गया है; क्योंकि वाच्य वाचक का अभेद सम्बन्ध होता है। तान्त्रिकसंकेत से बिन्दु का अर्थ शिव और बीज का अर्थ शक्ति है। इस रीति से पृथ्वीबीज का अर्थ पृथ्वी तत्त्व की शक्ति हुआ और उसी शक्ति का नाम लकार है और बिन्दु शिव कहा गया है। अतः पृथ्वीबीज लकार कहलाता है। इस तरह पाँचों भूतों के पांच बीज हैं– लँ वँ रँ यँ हँ। इनमें लँ-बीज पृथ्वी का, वँ, जल का, रँ वह्नि का, यँ वायु का और हँ आकाश का बीज है। यद्यपि इस श्लोक में दो ही बीजों का वर्णन है, तथापि प्रकरणवश पाँचों बीजों का ग्रहण करना इष्ट है; अर्थात् पांच भूतों का अभेद अपने पांच बीजों से होता है। और उन बीजों का भी अभेद

ओंकार से होता है; क्योंकि ओंकार ही सकल बीजमन्त्र और शब्दों का उपादानकारण है। जैसे पृथ्वी से उत्पन्न घट-पटादि और स्थावर-जंगम सभी पृथ्वी कहलाते हैं। इसी प्रकार ओंकार से उत्पन्न सब बीज ओंकाररूप हैं। उस ओंकार से चिद्रूप शक्ति का अभेद है; क्योंकि संज्ञा और संज्ञा का अभेद होता है॥२॥

मू०–तदेतद्व्यक्तमुच्यते–

क्लेशपाशतरङ्गाणां कृन्तनेन विमुण्डनम्।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते॥३॥

सं० टी०–[**तदेतत्**] पूर्वोक्तश्लोके च व्यङ्ग्यतया कथितम्। यत्तदेवात्र [**व्यक्तम्**] स्पष्टतरम् [**उच्यते**] कथ्यते मयेति शेषः। क्लेशपाशेति अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशास्त एव पाशबन्धकास्तेषां तरङ्गाणां व्यापाराणां [**कृन्तनेन**] उच्छेदनेन [**विमुण्डनम्**] परित्यागं यः करोतीति शेषः [**स सर्वावस्थाविनिमुक्तः**] जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभिर्बाल्यादिभिर्वा रहितोऽवधूतोऽभिधीयते॥३॥

भा० टी०–पूर्व श्लोक में व्यंग्य रूप से जो अवधूत योगी का लक्षण किया है, वही यहाँ स्पष्टरूप से कहा जाता है। जिसके अविद्यादि पाँच क्लेशरूप जाल के वेग का उच्छेद कर त्याग दिया है और बाल्य यौवन-वार्धक्य तथा जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति– इन तीनों अवस्थाओं के प्रपञ्च से जो मुक्त हो गया, वह अवधूत कहलाता है॥३॥

मू०–

निजस्मरविभूतिर्यो योगी स्वाङ्गे विभूषितः।
आधारे यस्य वारूढिः सोऽवधूतोऽभिधीयते॥

सं० टी०–पुरस्तादन्तरङ्गमभिधायाधुनाबहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गेण बहिङ्गस्य सामरस्यञ्चाह। तथा च द्विविधोऽवधूतो मुख्यो गौणश्च तत्रोभयलक्षणलक्षितो मुख्यः। अन्यतरलक्षणसहितो गौण इति व्यज्यते। [**यो योगी**] साधकः [**स्वाङ्गे**] स्वविग्रहे [**निजस्मरविभूत्या**] स्वरूपस्मारकभस्मना [**विभूषितः अलङ्कृतः आधारे**] आचार्यपरम्परावलम्बितमार्गे [**यस्य**] साधकस्य [**रूढिः**] दृढाध्यवसायः सोऽवधूतः। वा शब्दपूर्वोक्तान्तरङ्गलक्षणाभिप्राये चकारार्थको वा। तेन समुच्चयः॥४॥

भा०टी०– अविद्यादि पाँच क्लेशों का वर्णन मंगलश्लोक की व्याख्या में हो चुका है। वहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि उन पाँचों में एक अविद्या क्षेत्ररूप अर्थात् कारण है और अस्मिता आदि चार कार्य रूप हैं, वे कार्य अविद्या में प्रसुप्त तनुविच्छिन्न और उदार– इन चार भेदों से विद्यमान रहते हैं। जिस समय सूक्ष्मरूप होकर अविद्या में छिप जाते हैं और उनका बीजपना तत्त्वज्ञान से दग्ध नहीं हुआ है। अतः आगे उत्पन्न होने वाले हैं, उस समय वे 'प्रसुप्त' कहलाते हैं। योगियों के अस्मिता-आदि क्लेश प्रसुप्त नहीं कहे जाते हैं; क्योंकि उनके क्लेशों में बीजपना नष्ट हो चुका है। साधक योगियों के क्लेश तनु कहे जाते हैं; क्योंकि उनमें दोष देखकर वैराग्य भावना से सूक्ष्मता हो जाती है। जैसे जिस समय में एक स्त्री में राग वर्तमान है, उस समय में अन्य स्त्री का राग दवा हुआ है; वह 'विच्छिन्न' कहलाता है। वैसे ही दबे हुये क्लेश 'विच्छिन्न' कहलाते हैं। अपने स्वरूप से विद्यमान् काल में 'उदार' कहलाते हैं। इन उपर्युक्त क्लेशों को समूल नष्ट करने वाला और प्रपञ्चावस्था से विमुक्त अवधूत योगी होता है॥४॥

मू०–

लोकमध्ये स्थिरासीनः समस्त कलनोज्झितः।
कौपीनं खर्परोऽदैन्यं सोऽवधूतोऽभिधीयते॥५॥

सं० टी०–[लोकमध्ये] संसारे **[स्थिरासीनः]** स्थिरं निश्चलं यथा स्यात्तथा **[आसीनः]** रागद्वेषविनिर्मुक्तो मध्यस्थश्चेति यावत् **[समस्त-कलनाभिः]** अयं ब्राह्मणः क्षत्रियो वेत्यादिसांसारिकनिखिलगणनाभिः, **[उज्झितः]** शून्यः **[अदैन्यम्]** यस्य **[कौपीनम्]** कटिवस्त्रम् **[खर्परम्]** हस्ते पात्रं सोऽवधूतोऽभिधीयते॥५॥

भा० टी०–पहले अवधूत योगी का मुख्य लक्षण कहकर अब बहिरंग लक्षण का निरूपण करते हैं। अपने स्वरूप का स्मरण कराने वाले विभूतिरूप अलङ्कार से जो सुशोभित तथा निज गुरु के बतलाये हुये आसन पर आरूढ है, वह अवधूत योगी कहलाता है। जिसने इस संसार में ही समस्त राग-द्वेषादि प्रपञ्च का परित्याग किया है। इसीलिये समस्त कल्पनाओं से मुक्त और स्थिर आत्मानन्द में स्थित है तथा जिसके

कटिदेश में कौपीन और हाथ में खप्पर है एवं दीनभाव से भी रहित है, वह, पक्का अवधूत है॥५॥

मू०–

शं सुखं खं परं ब्रह्म शङ्खं सङ्घट्टनाद् भवेत्।
सिद्धान्तो धारितो येन सोऽवधूतोऽभिधीयते॥६॥

सं० टी०–शङ्खशब्दघटकः शं-शब्दः सुखवाचकः खशब्दश्च व्यापकब्रह्मवाचकः। एवं च खसमभिहारात् लौकिकसुखस्य शमिति समभिहाराच्च जडात्मकाकाशस्य च व्यावृत्तिः परस्परसमभिहारबलेनाखण्डः सच्चिदानन्दो गृह्यते। तथा चाखण्डसच्चिदानन्दरूपः शङ्खो येन धारितोऽधारिसः "अवधूतः" कथ्यते। अवधूतस्य यानि लिङ्गानि तानि सकलानि सच्चिदानन्द-ब्रह्मस्मारकतया ब्रह्मलिङ्गानि कथ्यन्ते। तत्र द्विविधा दृष्टिः। अभेदेन भेदेन च प्रथमा यथादित्यो ब्रह्मेत्यत्राभेदभावनयाऽऽदित्यदर्शनेन ब्रह्म स्मर्यते। अयमपि सच्चिदानन्द एवेति। न चेत्थं प्रतीकोपासना स्यात्। तथा च प्रतिकोपालम्बान्नयतीति चेन्नेत्यादि व्याससूत्रोक्तसिद्धान्तानुसारेण तस्य मोक्षो न स्यादिति वाच्यम्। तस्य तात्पर्यान्तरत्वात्। तथाहि– यस्यातिरिक्त-सच्चिदानन्दस्वरूपब्रह्मपदार्थज्ञानं नास्ति किन्त्वस्यादित्यपिण्डस्य यादृशस्व-रूपन्तदेवब्रह्मपदार्थो नान्यादृगिति बुद्ध्योपासन स एव प्रतीकोपालम्बनस्त-स्यैवातत्क्रतुत्वहेतुं प्रदर्श्य मोक्षो वारितस्तत्र न तु यस्यातिरिक्तसच्चिदानन्द-ब्रह्मपदार्थविज्ञानं तदभिन्नतयाऽऽदित्यादीनां तस्य प्रतिकोपालम्बनत्वं तस्य च तत्क्रतुत्वेन ब्रह्मभावनया मोक्षो ध्रुव एवेति रहस्यं मर्मविदो विदन्ति। तथैवावधूतेन स्वधारितशंखलिङ्गे सुखात्मकव्यापकब्रह्मबुद्धिराधीयते। नैतावता प्रतीकोपालम्ब- नत्वम्, अपितु ब्रह्मज्ञानित्वमेव। अतस्तेन मोक्षो हस्तयित एव इदमेव रहस्यं सनातनधर्मावलम्बिनां मूर्तिपूजासु न जातु कश्चिद् बटुकोऽपि जानाति यदियमेव प्रतिमा परमेश्वरः। अपितु, अस्ति कश्चित् शक्तिशाली परमेश्वरः स्वमहिम्निप्रतिष्ठितः। किन्तु प्रतिमापि तस्यैव रूपमेवावगच्छन्ति सर्वे तावता ब्रह्मज्ञानित्वस्य न क्षतिः। किन्तु ब्रह्मज्ञतायाद्रढीयरत्वमेव सम्पद्यतेऽतो ब्रह्मज्ञैरपि प्रतिमापूजनीयेत्युपदिश्यते। अथवा यो हि ब्रह्मपदार्थानभिज्ञस्तस्य त्वरितमतिरिक्तब्रह्मपदार्थज्ञानस्या-शक्यतयाऽन्तःकरणादिशुद्धिफलाय तावत् प्रतिमापूजाविधेयैव शुद्धे मनसि

स्वयमेवातिरिक्तं ब्रह्मज्ञायते। यथाऽन्नं ब्रह्मेति क्रमिकविज्ञानादन्ते विशुद्ध-ब्रह्मविज्ञानं भृगोर्बभूवेति तैत्तिरीयोपनिषदि प्रसिद्धं ततश्चावधूतवदेव प्रतिमा-पूजनेऽपि न मोक्षप्रतिबन्धः। अपितु ब्रह्मज्ञानस्य परिपूर्णतयैव परिचीयते। एवं च ज्ञान्यज्ञान्युभयोरपि सर्वावस्थासु विदेहकैवल्यात् प्राक् प्रतिमा-पूजनीयेत्याद्यभेद्यतर्कार्गलमिमं सनातनसिद्धान्तं मनसि निधायोपदिशन्ति शं सुखेत्यादि। द्वितीयप्रकारोभेदेन दृष्टिरत्र पक्षे मूर्तिस्तूपाधिस्तेन तदुपहितं ब्रह्म स्मार्यते॥६॥

भा० टी०–"शम्" शब्द का अर्थ सुख और 'ख' पद का अर्थ आकाश सदृश व्यापक पर ब्रह्म है। इन दोनों शब्दों का परस्पर मेल होने से शङ्ख शब्द सिद्ध हुआ। शंख-शब्द का अर्थ सुखरूप व्यापक पर ब्रह्म होता है। यही अद्वैतरूप सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का पालन करने वाला अवधूत योगी कहलाता है तथा इसी सिद्धान्त के स्मारक शङ्खरूप वाद्य विशेष का धारण करना अवधूत योगियों का बाह्यचिन्ह है॥६॥

मू०–

पादुका पदसंवित्तिर्मृगत्वं स्यादनाहता।
शेली यस्य परासंवित् सोऽवधूतोऽभिधीयते॥७॥
मेखला निवृत्तिर्नित्यं स्वस्वरूपं कटासनम्।
निवृत्तिः षड्विकारेभ्यः सोऽवधूतोऽभिधीयते॥८॥
चित्प्रकाशपरानन्दौ यस्य वैकुण्डलद्वयम्।
जपमालाक्षविश्रान्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते॥९॥
यस्य धैर्यमयो दण्डः पराकाशञ्च खर्परम्।
योगपट्टो निजाशक्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते॥१०॥

सं० टी०–एवं यस्य [**पदसंवित्तिः**] पद्यत इति पदा सा च संवित्तिस्तत्त्वज्ञानं सैव प्राप्तव्येत्यर्थः [**पादुकाः**] या चरणे धार्यते। यस्य चाङ्गोपरि [**मृगत्वक्**] मृगचर्म [**अनाहता**] अनाहतनादरूपास्यात्। किञ्च [**परासंवित्**] पराशक्तिज्ञानस्वरूपा च [**शेली**] गले स्यात्। तथा चान्तरङ्ग-विहिरङ्गयोः सामरस्यमेव व्याख्याने फलितं सः अवधूतोऽभिधीयते॥७॥ यस्य कटौ [**निवृत्तिः**] वैराग्यरूपा [**मेखला**] मौञ्जी नित्यं वर्तते

[**स्वस्वरूपं**] आत्मरूपम् [**कटासनम्**] कटशय्यास्ति। पूर्वनिवृत्तिरित्युक्तं तत्रावध्यंशे नित्यसाकाङ्क्षतया कस्मान्निवृत्तिरित्यपेक्षाया माह–[**षड्-विकारेभ्यः**] काम- क्रोधलोभमोहभयेर्ष्याभ्यः सोऽवधूतः॥८॥ यस्य **"चित्प्रकाशपरानन्दौ तद्भूपौ कुण्डलौ"** कर्णयोर्भूषणे भवतः *"अक्षविश्रान्तिः इन्द्रियविरामरूपा जपमाला रुद्राक्षमाला कण्ठे हस्ते वा वर्तते सः अवधूतः"*॥९॥ यस्य [**दण्डः**] दण्डस्थानीयः धैर्यमयः, प्रचुरधैर्यमेवार्थ च चतुर्थाश्रमे यद्दण्डधारणं तदिह धैर्यधारणम् *"पराकशं, हृदयाकाशरूपं वा खपरम्, तत्पात्रम् योगपट्टः, काष्ठनिर्मितो योगिनां विश्रामदायकः"*। सा *"निजा शक्तिः स्वशक्तिमेव योगपट्टमन्यत इति भावः सोऽवधूतः"* पूर्ववत्॥१०॥

भा० टी०– लक्ष्यभूत परमात्मा के ज्ञान की बोधक खडाऊओं को जिसने पैरों में धारण किया है तथा देह पर अनहद नादरूप मृगचर्म ओढ रक्खा है और सर्वोत्कृष्ट ज्ञान की परिचायक शेली (जनेऊ) को जिसने गले में धारण किया है, वह अवधूत कहलाता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक अन्तरङ्ग साधन का द्योतक प्रत्येक बाह्य चिह्न है। जिसकी नित्य ही काम-क्रोध-लोभ-मोह भय ईर्ष्या इन विकारों की निवृत्तिरूप तगड़ी है तथा स्वस्वरूप आत्मानन्द में निरन्तर मग्न होना ही स्थिर आसन है; वह अवधूत है। जिसके कानों में चित्प्रकाश और परमानन्द-यही दोनों कुण्डल हैं और इन्द्रियों का विषयों से उपरत होना ही रुद्राक्ष जपमाला है। ऐसी माला जिसके कण्ठ में या हाथ में हो वह अवधूत है। जिसके आत्मसंयम में धैर्यरूप ही दण्ड है तथा पराकाश **परमात्मरूप** खप्पर है और जिसका निजाशक्तिरूप ही योगपट्ट आशा है; वह अवधूत कहलाता है॥१०॥

मू०–

भेदाभेदौ स्वयं भिक्षां कृत्वा स्वास्वादने रतः।
जारणा तन्मयी भावः सोऽवधूतोऽभिधीयते॥११॥

अचिन्त्ये निजदिग्देशे स्वान्तरं वस्तुगच्छति।
एकदेशान्तरीयो यः सोऽवधूतोऽभिधीयते॥१२॥

स्वपिण्डममरीकर्तुमनन्ताममरीं च यः।
स्वयमेव पिबेदेतां सोऽवधूतोऽभिधीयते॥१३॥

अचिन्त्या वज्रवद्गाढा वासनामलसंकुला।
सा वज्री भक्षिता येन सोऽवधूतोऽभिधीयते॥१४॥

आवर्तयति यः सम्यक् स्वस्वमध्ये स्वयं सदा।
समत्वेन जगद् वेत्ति सोऽवधूतोऽभिधीयते॥१५॥

सं० टी०—स्वयं भेदाभेदौ द्वैताद्वैतो भिक्षां कृत्वा भक्षयित्वा स्वास्वादने स्वस्य स्वस्वरूपस्य आत्मन आस्वादने निजानन्दानुभव इति यावत् रतः संलग्नः। जारणा रागद्वेषयोर्भेदयोर्वा पाचनं जागरापाठपक्षे जागरणं तन्मयी भावः-आत्मनिष्ठतारूपजागरणं यस्य सः अवधूतः॥११॥ केवलप्राकृत-तीर्थादिदिग्देश एव भ्रममाणो नावधूतोऽपि तु यः एकदेशान्तरीयः लौकिकदृष्ट्यैकदेशमध्यस्थितोऽपि। 'अचिन्त्ये' चिन्तनातीतेऽपरिमिते 'निजदि-ग्देशे' वास्तविकस्वकीयव्यापकप्रदेशे स्वान्तरम् स्वकीयान्तःकरणं गच्छति मेलयति सः 'अवधूतः' कथ्यते। अयम्भावः स्थूलदेहापेक्षया परिच्छिन्नदेशे समासीनोऽपि मनसा सर्वदेशस्थितो यः सोऽवधूतः॥१२॥ यः 'स्वपिण्डम्' प्राकृतस्वस्थूलशरीरम् 'अमरी कर्तुम्' अनमरनमरं कर्तुं मृत्युं विजेतुम् 'अनन्ताम्' अविनश्वरशीलाम् 'अमरीम्' पूर्वोक्तां खेचरीमुद्रया निःसृत-सुधां स्वयमेव पिबेत, सः अवधूतः कथ्यते॥१३॥ या 'मलसं कुला' सांसारिकविषयरूपमलव्याप्ता। अत एव अचिन्त्या वाङ्मनो विषयातीता वज्रवद्गाढा वज्रवद्घनीभूता दुर्भेद्या सा 'वज्री तन्नाम्ना व्यवहरणीया येन भक्षिता' समूलोत्पाटिता सः अवधूतः कथ्यते, येन वज्रोलीकृता सोऽवधूत इति भावः॥१४॥ स्वस्वमध्ये सकलात्मसु सदा सततं यो योगी स्वयं स्वस्वरूपं 'सम्यगावर्तयति' अभेदेन सङ्घटयति। अत एव समत्वेन स्वाभिन्नत्वेन जगत् संसारं 'वेत्ति' अनुभवति, सः 'अवधूतः' कथ्यते॥१५॥

भा० टी०—भेद और अभेद— इन दोनों की भिक्षाकर अर्थात् उन भेदाभेदों को त्यागकर जो स्वयं आत्मानन्द के रसास्वादन में तत्पर है और उन दोनों को ब्रह्मानन्द में लीन होने से जीर्ण करने वाला अवधूत कहाता है। केवल बाहर घूमने से ही अवधूत नहीं होता। किन्तु जो देश-

कालादि से अपरिमिति परमात्मा में ही अपने व्यापक आन्तरिक आत्मा को प्राप्त करने वाला इसीलिये साधारण जनों की दृष्टि से वह एक देश में स्थित प्रतीत होने पर भी वास्तव में ब्रह्मरूप से सर्वत्र व्यापक अखण्ड ज्योतिरूप है; वही अवधूत कहलाता है। जिसने इस प्राकृतिक स्थूलशरीर को अमर बनाने के लिये खेचरीमुद्रा द्वारा स्वयं ही अनन्त अमरीपान किया है, उसको अवधूत कहते हैं। जिसने वासनारूप मलों से भरी हुई, अतएव चिन्तातीत और वज्र की तरह दुर्भेद्य वज्रीनाडी को स्वाधीन कर लिया है; वह अवधूत कहलाता है। सबकी आत्माओं में अपनी तथा अपने में सबकी जो अभिन्नरूप से भावना करता है कि मैं ही सर्वत्र व्यापक हूँ। इस प्रकार समस्त संसार को निज आत्मरूप से जानने वाला अवधूत कहलाता है॥१५॥

मू०–

स्वात्मानमवगच्छेद्यः स्वात्मन्येवावतिष्ठते।
अनुत्थानमयः सम्यक् सोऽवधूतोऽभिधीयते॥१६॥

अनुत्थाधारसम्पन्नः परविश्रान्तिपारगः।
धृतिचिन्मयतत्त्वज्ञः सोऽवधूतोऽभिधीयते॥१७॥

अव्यक्तं व्यक्तमाधत्ते व्यक्तं सर्वं ग्रसत्यलम्।
स सत्यं स्वान्तरे सन्नः सोऽवधूतोऽभिधीयते॥१८॥

अवभासात्मको भासः प्रकाशे सुखसंस्थितः।
लीलया रमते लोके सोऽवधूतोऽभिधीयते॥१९॥

क्वचिद् भोगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत्।
क्वचिद्राजा क्वचाचारी सोऽवधूतोऽभिधीयते॥२०॥

सं० टी०–[स्वात्मानमवगच्छेत्] स्वस्वरूपं प्रत्यक्षतो जानाति स्वात्मन्येव स्वस्वरूपमात्रे, अवतिष्ठते सदा रमते। किं निमेषमात्रं न किन्तु अनुत्थानमयः अनुत्थानशीलः **[सोऽवधूतः]** अत्रात्मज्ञानस्य मुख्यतां तन्निष्ठतायाश्च दुर्लभतां प्रदर्शयति पुनः पुनर्वाद इति न पुनरुक्तेः शङ्का कार्या॥१६॥ अनुत्थेति नोत्तिष्ठतीत्यनुत्थः कूटस्थः, स चासवाधारो

जगतामधिष्ठानात्मभूतः परमात्मा। तत्र सम्पन्नोऽभिन्नतां गतः परविश्रान्ति-पारगः परविश्रान्तिः सत्संपत्तिस्तस्या पारगो निःशेषपरिलब्धा धृतिचिन्मय-तत्त्वज्ञः धृत्या धैर्येण सम्यक्तयेति यावत् [**चिन्मयतत्त्वम्**] आत्मतत्त्वं तज्जानाति सः अवधूतः॥१७॥

[**अव्यक्तम्**] विलीनं स्वस्वरूपं क्वचिद्भक्तविशेषे [**व्यक्तम्**] प्रकटरूपम् [**आधत्ते**] करोति भक्ताय दर्शनं ददातीति भावो यथाचाय-पादः समये समये प्रादुर्भवति। अथवा 'अव्यक्तम्' सूक्ष्मतत्त्वम् 'व्यक्तम्' प्रकटं करोति, तथैव व्यक्तमपि सर्वं ग्रसति वा [**अव्यक्तम्**] परमेश्वरम् [**व्यक्तम्**] प्रत्यक्षं करोति निजभक्तिप्रभावाद् व्यक्तं च सर्वं जडवर्गं [**ग्रसति**] परमात्मबुद्ध्याऽऽच्छादयति। अत एव सः स्वान्तरे स्वाभ्यन्तरे [**सत्त्वम्**] परमात्मानम् [**सन्नः**] प्राप्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते॥१८॥ [**अवभासात्मकः**] सकलप्रकाशकः [**भासः**] प्रकाशः भवतीति शेषः। ननु सति प्रकाशेऽपि दुःखं स्यादत आह–प्रकाशे सुखं स्थितः सुखेन सम्यग् सम्पन्नः। ननु जडीभूततया मृतकल्पः किम्। अत आह– [**लीलया**] अनायासेन लोके रमते, सः "अवधूतः"॥१६॥

भा०टी०–जो सकल चराचर को आत्मरूप जानकर सदा आत्मनिष्ठा रहता है, कभी भी आत्मस्वरूप से विचलित नहीं होता; वह अवधूत कहलाता है। जिस समय सिद्धपूर्ण ब्रह्मज्ञाननिष्ठा को प्राप्त हो जाते हैं, उस समय उन सिद्धों के लिये सब बाह्यचिन्ह आत्मरूप से भासने लगते हैं। अतः उनको बाह्यचिन्हों की आवश्यकता नहीं रहती। हाँ! साधनावस्था में बाह्यचिन्ह धारण करना अनिवार्य है; क्योंकि बाह्यचिह्न आत्मविज्ञान और वैराग्यादि अन्तरङ्ग साधनों के स्मारक हैं। और उनमें भी आत्मबुद्धि रहने से वे अवधूतपन के बाधक न होकर साधक बन जाते हैं। इसी अभिप्राय गीता में भी *"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविरित्यादि"* रूप से स्पष्ट वर्णन किया है॥१६॥ सकल चराचर जगत् से अधिष्ठानभूत कूटस्थ परमात्मा में धैर्य से जीवात्मा और परमात्मा की एकता सम्पादन करने वाला इसीलिये परमानन्द की अन्तिम सीमा को प्राप्त हुआ और वास्तविक तत्त्व को पहिचानने वाला अवधूत कहलाता है॥१७॥ जो ब्रह्मनिष्ठ अपने स्वरूप को कदाचित् किसी प्रिय शिष्य के कल्याणार्थ प्रकट कर देता है। और कभी प्रकट शरीर को भी छिपा देता है इसलिये वह अपने

शरीर में ही अखण्ड व्यापक ज्योति चित्स्वरूप को प्राप्त हुआ। अवधूत कहलाता है या अव्यक्त प्रकृति ही व्यक्तरूप को धारण करती है। अतः प्रकृति का विकार होने से व्यक्त स्वर्गादि सब भोग्य-विषयक प्रपञ्च अनित्य क्षणभंगुर और जल बुद्बुद् की तरह विनश्वर है। इसी से समस्त कार्य-कारण-रूप भूत-भौतिक-प्रपञ्च से विरक्त और सदा अचल, सत्य आत्मानन्द में तृप्त रहने वाला अवधूत योगी कहलाता है।॥१८॥ जो सदैव अखण्ड व्यापक आत्मसुख में स्थित रहता है। अतः असङ्ग ब्रह्मस्वरूप होने से जगत् के प्रकाशक सूर्य-चन्द्रादि का भी प्रकाशक है और मायावी के समान लीला से स्वच्छन्द गति के द्वारा विचरने वाला अवधूत कहलाता है॥१८॥

मू०– एवंविधनानासङ्केतसूचको नित्यप्रकाशे वस्तुनि निजस्वरूपी सर्वेषां सिद्धान्तदर्शनानां स्वस्वरूपदर्शने सम्यक् सद्बोधकोऽवधूतयोगीत्यभिधीयते स सद्गुरुर्भवति यतः सर्व-दर्शनानां स्वस्वरूपदर्शने समन्वयं करोति, सः "अवधूतयोगी स्यात्"॥२०॥

सं० टी०–[नित्यप्रकाशे] स्वरूपानुभवे सञ्जाते **[एवंविधेति]** एवंविधानां सकलानां सङ्केतानां सूचकः पूर्वोक्तप्रकारेण नानामतप्रदर्शकः **[निजस्वरूपी]** स्वस्वरूपानुभवनिष्ठः **[सर्वेषां]** आस्तिकनास्तिकानाम् **[सिद्धान्तदर्शनानाम्]** विभिन्नमतप्रदर्शकशास्त्राणाम् **[स्वस्वरूपदर्शने]** परमात्मस्वरूपबोधने **[सम्यक्]** समीचीनतया बोधकः समन्वयद्वारा तत्त्वोपदेशकः **[अवधूतयोगीति कथ्यते]** स एव च सद्गुरुर्भवति **[यतः]** यस्मात्कारणात् **[सूर्यदर्शनानाम्]** सकलशास्त्राणाम् **[आत्मदशने]** समन्वयं संलापनं करोति, सः "अवधूतयोगी" स्यान्नतु भेदक्रोधजरागान्तः कलुषितः॥२०॥

भा० टी०– जो शुद्ध, बुद्ध, व्यापक, नित्य प्रकाश, ज्योतिःस्वरूप आत्मानन्द में ही मग्न है। इसी से परम्पर विरुद्ध मत वाले जनों के सिद्धान्त दर्शन को भी निज अखण्ड व्यापक स्वरूप में ही उक्त रीति से अनेक नाम संकेतों को भी परमार्थ अवस्था में ही घटानेवाला अवधूत योगी कहलाता है। और वही योगी अच्छी प्रकार से नित्य अखण्ड

आत्मोपदेश में समर्थ होता है; क्योंकि आत्मनिष्ठ होने से जब वह जीवन्मुक्त संसार-मोह-बन्धन को तोड़ चुका है, तब दूसरे को भी आत्मोपदेश द्वारा पार कर सकता है; इसमें सन्देह नहीं। अतः वास्तविक हितचिन्तक होने से वह अवधूत योगी ही सद्गुरु कहलाने योग्य है; क्योंकि वह अभेदात्मदर्शी विरुद्ध सिद्धान्त के प्रतिपादक मतों का भी वास्तविक अभिन्न निज स्वरूप में ही अभेद रूप से समन्वय कर लेता है; अर्थात् आत्मरूप में देखता है। वही यथार्थ में अवधूत है॥२०॥

मू०–

अत्याश्रमी च योगी च ज्ञानीसिद्धश्च सुव्रतः।
ईश्वरश्च तथा स्वामी धन्यः श्रीसाधुरेव च॥२१॥

जितेन्द्रियश्च भगवान् स सुधी कोविदो बुधः।
चार्वाकश्चार्हतश्चेति तथा बौद्धप्रकाशवित्॥२२॥

तार्किकश्चेति साङ्ख्यश्च तथा मीमांसको विदुः।
देवतेत्यादि विद्वद्भिः कीर्तितः शास्त्रकोटिभिः॥२३॥

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति पुनः स्वयम्।
अस्ति तत्त्वं परं साक्षाच्छिवरुद्रादि संज्ञितम्॥२४॥

सं० टी०–इत आरभ्यव्यवहारैरित्यन्तैः सकलस्वरूपतां प्रदर्श्यावधूतस्य महिमानमातनोति, स एवावधूतः अत्याश्रमी आश्रमानतीत्य वर्त्तमानः चकारादाश्रमानतीतोऽपि [**योगी**] योगाभ्यासतत्परः [**ज्ञानी**] आत्मज्ञः [**सिद्धश्च**] अणिमादिसिद्धिसम्पन्नः [**सुव्रतः**] तपोनिष्ठः ईश्वरो हिरण्यगर्भादिदेवः। तथा [**स्वामी**] नायकः श्रीसाधुः शक्तिसहितोपासकः परोपकारनिरतः धन्यवादार्हः, अवधूते सर्वं स्वरूपता घटत इतिभावः॥२१॥ स एव जितेन्द्रियः वशीकृतेन्द्रिवर्गभगवान् ऐश्वर्यसंपन्नः स सुधीः, शोभनध्यानकर्तावुधः, लौकिकावगमनवान् [**कोविदः**] पण्डितः, आत्मज्ञ-चार्वाकादीनां व्यावहारिकमतभेदेऽपि परमार्थावधूतत्वे कोऽपि भेदो नेति बोधयितुं तदनुवादः। [**चार्वाकः**] प्रत्यक्षमात्रप्रमाणवादी [**आर्हतः**] अर्हंदुपासको जैनः। बौद्धप्रकाशवित् बौद्धसम्बन्धिप्रकाशवेत्ता बुद्धिवृत्तिरूपक्षणिक

विज्ञानवादिसौगतः॥२२॥ तार्किकः नैयायिकः [**सांख्यः**] कापिलः [**मीमांसकः**] कर्मवादी ब्रह्मवादी च ननु कथ सर्वस्वरूपोवधूतः सति भेदेऽत आह– एते यमात्मानं विदुः [**देवतेत्यादि विद्वद्भिः**] देवताकाल-भावादिवादिभिः [**शास्त्रकोटिभिः**] तत्तद्दर्शनैः यः आत्मा कीर्तितस्तत् स्वरूपोऽवधूतोऽतश्चार्वाकादिरूप इति ॥२३॥ [**आत्मा**] भूतात्मा इत्यप्यवधूत एव [**परमात्मा**] ब्रह्मेत्यपि, सः [**जीवात्मा**] जीवरूपोऽपि स एव यत्तु [**साक्षाच्छिवरुद्रादिसञ्ज्ञितम्**] शिवरुद्रशब्देन कथ्यमानम् [**परं तत्त्वम्**] सर्वथा बाधरहितं वस्तु तत् स्वरूपोयमवधूतसकलस्वरूपः सञ्जातः कृतं परिगणनेन॥२४॥

भा० टी०–पूर्वोक्त अवधूत ही चारों आश्रमों से अतीत होने से अत्याश्रमी है; क्योंकि वह ब्रह्मनिष्ठ है। इसी से किसी आश्रम विशेष में अभिमान नहीं रखता। समाहित आत्मा होने से योगी ब्रह्मनिष्ठ होने से ज्ञानी अणिमादि सिद्धि से युक्त होने से सिद्ध दृढनिश्चयी होने से सुव्रत सर्व सामर्थ्ययुक्त होने से ईश्वर जितेन्द्रिय होने से स्वामी और सबका कल्याण साधक होने से वही धन्य है। भूतों की उत्पत्ति-प्रलय-गति-आगति-विद्या-अविद्या को जानने वाला भगवान् और जितेन्द्रिय होता है; वही अच्छा ध्यानी ज्ञानी पण्डित कहा जा सकता है। इन्द्रियपरायण व्यसनी पुरुषों में उक्त लक्षण नहीं घट सकता। अब मतान्तरों में अरुचि दिखाते हैं। देहात्मवादी चार्वाक, मध्यमपरिमाणात्मवादी जैन, क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध, आरम्भवादी नैयायिक, परिणामवादी सांख्य और केवल कर्मवादी मीमांसक– ये सब अपने-अपने मत के अनुसार जिस तत्त्व का उपदेश देते हैं तथा अनेक शास्त्रों और विद्वानों ने भी इस संसार का कारण देवता-स्वभाव-काल-कर्म-आदि को कहा है। भूतात्मा, परमात्मा और जीवात्मा इत्यादि नाना रूप से जो वर्णित है; वास्तव में वह एक ही तत्त्व है। वही प्रत्यक्ष आत्मरूप चेतन सर्वव्यापक तीनों कालों में अबाध्य शिव-रुद्रादि नामों से कहा जाता है। इसीलिये किसी सिद्धान्त से परम अद्वैत सिद्धों के सिद्धान्त का विरोध नहीं; क्योंकि सिद्ध समाहित आत्मा होने से वास्तविक एक ब्रह्म तत्त्व में निष्ठ रहते हैं। पूर्वोक्तवादी लोग परिणामशाली बुद्ध्यादि के उपासक होने से बुद्धि की कल्पना के आधार पर भले ही चले इससे समाहित आत्मा सिद्धों की कुछ हानि नहीं।॥२१-२४॥

मू०–

शरीरपद्मकुहरे यत्सर्वेषामवस्थितम्।
तदवश्यं महापाशाच्छेदितव्यं मुमुक्षुभिः॥२५॥

ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च सोक्षरः परमः स्वराट्।
स एवेन्द्र सः च प्राणः सकालाग्निः स चन्द्रमाः॥२६॥

स एव सूर्यः स शिवः स एव परमः शिवः।
स एव योगगम्यश्च साङ्ख्यशास्त्रपरायणैः॥२७॥

स एव कर्म इत्युक्तः कर्ममीमांसकैरपि।
सर्वत्र सत्परानन्द इत्युक्तो वैदिकैरपि॥२८॥

व्यवहारैरयं भेदस्तस्मादेकस्य नान्यथा॥२९॥

मुदमोदे तु रादाने जीवात्मपरमात्मनोः।
उभयोरेकसंवित्तिर्मुद्रेति परिकीर्तिता॥३०॥

मोदन्ते देवसङ्घाश्च द्रवन्तेऽसुरराशयः।
मुद्रेति कथिता साक्षात् सदा भद्रार्थदायिनी॥३१॥

अस्मिन्मार्गेऽदीक्षिता ये सदा संसाररागिणः।
तेहि पाखण्डिनः प्रोक्ताः संसारपरिपेलवाः॥३२॥

अवधूततनुर्योगी निराकारपदे स्थित।
सर्वेषां दर्शनानाञ्च स्वस्वरूपं प्रकाशते॥३३॥

सं० टी०–सर्वेषां प्राणिनां शरीरे यत् पद्मं हृदयाख्यं तस्य कुहरे गुहायान् यत् आत्मतत्त्वमवस्थितम्, वर्तमानम्। तदात्मतत्त्वम् महापाशात् अविद्यादिजालात् मुमुक्षुभिः मोक्षार्थिभिर्मनष्यैरवश्यमेव छेदितव्यम् पृथक्कर्तव्यं विज्ञानासिनाण्यन्तच्छिदेस्तव्यतिरूपम्। तदेव मनुष्यजन्मसाफल्यं तत्त्वावधूतेन सम्पादितमिति स्तुतिध्वनिः॥२५॥ एकैवात्मतत्त्वरूपोऽवधूतो व्यवहारेऽनेकनाम-रूपोपाधिर्भेदैर्व्यवह्रियतति वर्णयति ब्रह्मेत्यादिरज उपहितो ब्रह्मा सत्वोपहितो विष्णुस्तम उपहितो रुद्रः स एवोपाधिरहितोऽक्षरः परमः स्वराट् स्वर्गाधिरति

पिण्डोपहित इन्द्रः "सूत्रात्मा प्राणः" प्रलयकालिकः कालाग्निस्तथा चन्द्रः॥२६॥ स एवावधूतः सूर्यरूपः, कल्याणरूपः, परमः शिवः, सकलजगत् संहारकः। किं च योगशास्त्रगम्यः क्लेशकर्मविपाकेत्यादिसूत्रप्रतिपाद्यः, सांख्यशास्त्रोक्ता-सङ्गचिद्रूपानेकपुरुषा अपि स एवेति॥२७॥ स एवावधूतः कर्मयोग-मीमांसकसम्मत् कर्मरूपः किं च वैदिकैरद्वैतवेदान्तिभिरपि सत्परानन्दशब्देन सर्वत्रोपनिषत्सु कथितः सोऽपि स एव॥२८॥ तस्माद् व्यवहारैरेवायं भेदः सञ्जातो न तु परमार्थतया तस्मादेकस्य तत्त्वस्य नान्यथा न भेदो भवितुमर्हति॥२९॥ मुद्राशब्दे मुदिति रा इति च पदं तत्र मोदत इति व्युत्पत्त्या मुदशब्दार्थो जीवात्मा आनन्दभोगकर्तृत्वात्। राति ददातीति व्युत्पत्या रा पदार्थश्च परमात्मा सर्वेषां कर्मफलदातृत्वात्। उभयत्र वाच्यार्थयोर्भेदेऽपि लक्ष्यभूतचैतन्यस्यैक्यमेवेति मुद्रापदार्थमाह– मुद इति मुद् धातुर्मोदेर्थे रा धातुर्दानेऽर्थे च वर्तते तदुभयार्थयोर्जीवात्मपरमात्मनोरैक्यसंवित्तिरभेदज्ञानमुद्रेति प्रकीर्तिता तत्स्मारकं लिङ्गमुद्रा कर्णकुण्डलमिति यावत्॥३०॥ किञ्च मुद्रापदस्य वाच्यान्तरमाह–मोदन्त इति मुदं राति ददातीत्यर्थे व्युत्पत्तिमङ्गी-कृत्योच्यते देवानां मुदं ददाति, अर्थादेतद् भूषणं दृष्ट्वा देवा मोदन्ते हृष्टा भवन्ति। यथा राजा स्वदत्तचिह्नधारिणं पुरुषं दृष्ट्वा मोदते। किञ्च नामैकदेशन्यायेन मुग्धा असुरा द्रवन्ते। एनां दृष्ट्वा प्लायन्ते। यथा चौरः राजचिह्नात्। सदा साक्षाद्भद्रार्थदायिनी कल्याणप्रदामुद्राशास्त्रे प्रकीर्तिता कथिता॥३१॥ अस्मिन्मार्गे योगमार्गे अदीक्षिताः अशिक्षिताः सदा संसाररागिणः नित्यं भवविषयाभिलाषकाः संसार एव परिपेलवः अतिरमणीयो येषां ते पाखण्डिनः धूर्ताः प्रोक्ताः। अथवाऽस्मिन् मार्गे योगमार्गे दीक्षिताः सन्तः सदा निरन्तरं जीवननिवार्हकाधिककाले संसाररागिणस्तेपीत्यर्थोऽपि वक्तुं शक्यते॥६२॥ सांसारिकपुरुषान्दयित्वा परमार्थमभीप्सु योगिनः प्रशंसन्ति यः निराकारपदे चिदानन्दघने स्थितः रममाणः अवधूततनुः सकललिङ्गरहितविग्रहः योगी साधनवान् स सर्वेषां दर्शनानां निखिलसिद्धान्तानाम् स्वस्वरूपम् निजात्मस्वरूपं प्रकाशते प्रकाशयतीत्यन्तर्भावितण्यर्थः॥३३॥

भा० टी०–सर्व प्राणियों के शरीरस्थ हृदयकमल में विशेष करके आत्मतत्त्व अभिव्यक्त होता है। वही उपाधियुक्त होने से शोक-मोहादि पाश से वद्ध हो संसारचक्र में भ्रमरण करता है। अतः मुमुक्षु को चाहिये कि अज्ञानरूप उपाधि-बन्धन को तोड़कर निज अखण्ड आत्मानन्द

में प्रतिष्ठित हो जाय। बस! यही मनुष्यजन्म की सफलता है। वास्तव में आत्मतत्त्व एक ही है। किन्तु व्यवहारकाल में अनेक वादियों की कल्पना से उसी के अनेक नाम हो जाते हैं। इसी अभिप्राय को यहाँ से लेकर उनतीस श्लोक तक वर्णन करेंगे। वही आत्मतत्त्व ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र परब्रह्म, इन्द्र, प्राण, कालाग्नि और चन्द्रमा है। वही सूर्य, शिव तथा योग से जानने योग्य परम शिव और वहीं सांख्य में प्रतिपादित असङ्ग आत्मतत्त्व है। उसी परमतत्त्व को कर्म कहकर मीमांसक जगत् का कारण कहते हैं और उसी को वेदान्ती लोग सच्चिदानन्द नाम से कहते हैं। अतः वास्तव में तो वह एक ही आत्मतत्त्व है। उसी के ये व्यावहारिक अनेक भेद हैं वास्तविक नहीं। मुद्रा-शब्द में दो पद हैं। एक 'मुद', दूसरा 'रा'। इनमें मुद् का अर्थ आनन्दभोक्ता जीवात्मा और रा का अर्थ दाता परमात्मा है। दोनों के मेल से जीवात्मा और परमात्मा का अभेदज्ञान सिद्ध होता है। अतः इसी लक्ष्य के स्मारक मुद्रा अर्थात् कुण्डल कानों में योगीजन धारण करते हैं। मुद्रा-शब्द के दूसरे अर्थ का वर्णन करते हैं। 'मुद्' अर्थात् हर्ष 'रा' का अर्थ है देने वाला। जैसे राजा अपने बनाये हुये चिह्न-विशेषों से सज्जित सेना को देखकर प्रसन्न होता है; वैसे ही देवगण जिसके कानों में मुद्रा देखते हैं, उसके ऊपर प्रसन्न होते हैं। और जैसे चोर राजचिह्न को देखकर भयभीत होता है, वैसे ही इस देवचिह्न मुद्रा को देखकर असुरगण भय मानते हैं। अतः योगियों के लिये मुद्राधारण करना कल्याणकारी है। जो इस योगमार्ग में दीक्षित या अदीक्षित हैं, वे यदि सदा संसार में ही अनुरक्त होकर संसार को ही सर्वोत्तम रमणीय मान लें; तो वे आत्मतत्त्व के विरोधी और पाखण्डी कहलाते हैं। जो योगी शरीरस्थ मल-विक्षेप-आदि दोषों को दूर करने वाला तथा सदा निराकार ज्योतिःपद में ही स्थित रहने वाला है। उसी को सब दर्शन-आदि शास्त्रों में व्यापक आत्मस्वरूप प्रकाशित होता है; अर्थात् वह केवल ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।॥२५-३३॥

मू०—

सर्वतोभरिताकारं निजबोधेन बृंहितम्।
चरते ब्रह्मविद्यस्तु ब्रह्मचारी स कथ्यते॥३४॥

गृहिणी पूर्णता नित्या गेहं व्योम सदा बलम्।
यस्तया निवसत्यत्र गृहस्थः सोऽभिधीयते॥३५॥

सदान्तःप्रस्थितो योऽसौ स्वप्रकाशमये वने।
वानप्रस्थः सविज्ञेयो न वने मृगवच्चरन्॥३६॥

परमात्माऽथ जीवात्मा आत्मन्येव स्फुरत्यलम्।
तस्मिन्न्यस्तः सदा येन संन्यासी सोऽभिधीयते॥३७॥

सं० टी०—अधुना सकलसम्प्रदायावलम्बिनामवधूतपदार्थेऽन्तर्भाव इति प्रदर्शनाय परमार्थत एकमेव परमार्थतत्त्वं समेषां लक्ष्यमिति बोधनद्वारा ब्रह्मचर्यादिनिखिलशब्दानामवधूतपदार्थे समन्वयः प्रस्तूयते। तत्र प्रथमं ब्रह्मचारि-पदार्थमाह यो ह्यवधूते सम्यग् घटते [**सर्वतोभरिताकारम्**] सर्वतः परितोभरितः पूर्ण आकारः स्वरूपं यस्य तत् स्वस्वरूपज्ञानपरिपूर्णं बृंहितम्, व्यापकम्, ब्रह्म यदस्ति, तत्रेतिशेषः **निजबोधेन** स्वकीयज्ञानद्वारा [**चरति**] सदा रमते, स ब्रह्मचारी कथ्यते सोऽवधूतः॥३४॥ एवं गृहस्थऽव्युत्पत्तिरपि तत्रैव सङ्घटयते। नित्यरूपापूर्ण तत्रैव गृहिणी सहचारिणी तया सह-आकाशवाच्यब्रह्मरूपगृहे सदयो निवसति, स एव गृहस्थः कथ्यते॥३५॥ तथैव वानप्रस्थतापि संस्थाप्यते योऽसौ वनमेव वानः प्रज्ञादित्वादण् तस्मिन् प्रकाशमये प्रकाशरूपे प्रकर्षेण स्थितः निष्ठः, स एव वानप्रस्थः। न तु मृगवद्वनेऽन्धकारात्मके चरन् वानप्रस्थतया समन्वीयते॥३६॥ संन्यासिपदार्थमाह-परमात्मेति। तथा चोपाधिवशाज्जीवात्मपरमात्मेति भेदेन व्यवह्रियमाणोऽपि चेतनः स्वस्वरूपता आत्मन्येव स्वरूपमात्रे स्फुरति भाति, तस्मिन् येन सर्वं जीवभावादिकं न्यस्तं स संन्यासीति व्यवह्रियते॥३७॥

भा० टी०—अब ब्राह्मणादि द्विजवर्णों में जो ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-आदि का लौकिक अर्थ है, उसी को परमार्थतः अवधूत योगी में घटाते हैं। व्यापक ज्योतिःरूप आत्मा के बोध से बढ़ा हुआ। अतएव ब्रह्मज्ञान द्वारा स्वस्वरूप की रक्षा करने वाला और ज्योतिःस्वरूप आत्मा में ही रमण करने वाला अवधूत योगी ही वास्तविक ब्रह्मचारी कहा जाता है। जिस सिद्ध योगिराज के निरन्तर साथ रहने वाली आत्मव्यापकता ही पत्नी है और व्यापक ब्रह्म ही जिसका सदा घररूप बल है। उस ब्रह्म

घर में अपने से अभिन्न आत्मव्यापकता के साथ निरन्तर रहने वाला अवधूत योगी ही परमार्थ गृहस्थ है। जो जितेन्द्रिय अवधूत योगी आत्मप्रकाशरूपी वन में विचरता है, वही परमार्थ वानप्रस्थ है। केवल मृग के सदृश जङ्गल में घूमने वाला वानप्रस्थ नहीं है। सर्वज्ञत्व-उपाधि-सहित परमेश्वर और अल्पज्ञत्व-उपाधि-सहित जीव– ये दोनों उपाधिरहित अखण्डज्योति आत्मा में ही जिसको अभिन्न रूप से प्रतीत होता हैं और उसी ज्योतिः स्वरूप आत्मा में जो समस्त बाह्य कल्पनाओं का परित्याग करने वाला अवधूत योगी है। वही वास्तव में परमार्थ संन्यासी कहलाता है॥३४-३७॥

मू०–

मायाकर्मकलाजालमनिशं येन दण्डितम्।
अचलो नगवद्भाति त्रिदण्डी सोऽभिधीयते॥३८॥

एकं नानाविधाकारं चञ्चलन्तु सदा तु यत्।
तच्चित्तं दण्डितं येन एकदण्डी स कथ्यते॥३९॥

शुद्धं शान्तं निराकारं परानन्दं सदोदितम्।
तं शिवं यो विजानाति शुद्धशैवो भवेत्तु सः॥४०॥

सन्तापयति दीप्तानि स्वेन्द्रियाणि च सः सदा।
तापसः स तु विज्ञेयो न च गोभस्मधारकः॥४१॥

क्रियाजालं पशुं हत्वा पतित्वं पूर्णतां गतम्।
यस्तिष्ठेत् पशुभावेन स वै पाशुपतो भवेत्॥४२॥

सं० टी–संन्यासे कश्चित् त्रिदण्डी भवति तस्यातात्त्विकमर्थं माह-१ [**माया**] अविद्या, २- [**कर्म**] धर्माधर्मौ, ३- [**कलाजालम्**] प्राणादिलिङ्गं शरीरमेतत् त्रयं येन [**दण्डितम्**] तत्त्वज्ञानेन निवारितम् [**स्वयं च**] नगवत् पर्वतवदचलः यो भाति स त्रिदण्डी कथ्यते; न तु केवलवंशदण्डत्रयधारणेन त्रिदण्डित्वमाप्नोति। अतः मुख्यलक्ष्ये सावधानेन स्थातव्यम्॥३८॥ [**नानाविधाकारम्**] कदाचिद्रागरञ्चितं कदाचिद् द्वेषाकुलितमित्थं नानावृत्ति- विलसितम् [**चञ्चलम्**] क्षणैकस्मिन् परः

सत् सङ्कल्पशीलं यच्चित्तं तदेकं दण्डितं येन, स एकदण्डी कथ्यते॥३९॥ **[शुद्धं शान्तं]** सकलधर्मरहितम् **[निराकारम्]** अखण्डम् **[परानन्दम्]** चिदानन्दस्वरूपं सदोदितम्, अस्तमनवर्जितम्। एतादृशं शिवं यो जानाति, सः शुद्धशैवः॥४०॥ यः **[सदा]** सर्वदा **[दीप्तानि]** विषयाभिमुखानि **[इन्द्रियाणि]** चक्षुरादीनि **[सन्तापयति]** विषयेभ्यो निवर्त्तयति स च तापसो विज्ञेयः, न तु भस्ममात्रधारकः॥४१॥ **[क्रियाजालम्]** कर्मपाशात्मकम् **[पशुम्]** सेवकत्वरूपजीवभावं **[हत्वा]** परित्यज्य **[पूर्णताम्]** व्यापकतारूपम् **[पतित्वं]** स्वामित्वरूपपरमात्मभावम् **[गतम्]** प्राप्तम् **[शिवम्, यः तिष्ठेत्]** उपासते, स वै निश्चयेन **[पाशुपतः]** पशुपतिमतानुयायी पशुभावेन स्वस्वामिभावेन भेदरूपेणोपासक इति अत्रोपासनार्थवाचकत्वेन स्थाधातुः सकर्मको यथादित्यमुपतिष्ठते। उपसर्गस्य द्योतकतया तद्विनापि धातुप्रयोगे तदर्थो न्यायः॥४२॥

भा० टी०—माया तथा माया का कार्यभूतशुभाशुभ कर्म और नाना कला जालादि प्रपञ्च को वंचित करने वाला एवं एक आत्मस्वरूप में ही पर्वत के सदृश अचल ऐसा अवधूत योगी ही उक्त तीनों को दण्डित करने से परमार्थ त्रिदण्डी कहलाता है। अनेक विषयवासनाओं में अनुरक्त इसी से सदा चंचल स्वभाव ऐसे चित्त को भी जिसने योग बल से जीत लिया है। वह अवधूत योगी यथार्थ एक दण्डी है। भाव यह है कि एक मन के जीतने से ही संसारबन्धन से मुक्त हो सकता है; अन्यथा नहीं। शुद्ध-शान्त-निराकार एवं परमानन्दस्वरूप और सदा प्रकाशमान व्यापक ज्योतिःस्वरूप ऐसे शिव को जो जानता है, वही अवधूत वास्तविक और शुद्ध शैव कहलाने योग्य है; दूसरा नहीं। इन्द्रियों की अपने अपने विषयों में प्रवृत्ति स्वाभाविक है, उनको अपनें अपने विषयों से रोककर आत्मा में लगाना ही उन इन्द्रियों का तपाना है। अतः आत्मध्यानी जितेन्द्रिय योगी को ही सच्चा तपस्वी जानों केवल उपले की भस्म रमाने वाला नहीं। सकाम कामसमूहरूप पशु को छोड़कर निज आत्मा की व्यापकता को प्राप्त हुआ जो योगिराज पशुभाव से रहता है, वह यद्यपि यथार्थ ब्रह्मनिष्ठ है। तथापि स्थूलबुद्धि मूर्खजनों को उस तत्त्वज्ञानी का व्यापार पशु-जैसा दीखता है। ऐसा सिद्धराज ही सच्चा पाशुपत मतावलम्बी कहलाता है॥३८-४२॥

मू०–

परानन्दमयं लिङ्गं निजपीठे सदाऽचले।
तल्लिङ्गं पूजितं येन सवै कालमुखो भवेत्॥४३॥

विलयं सर्वतत्त्वानां कृत्वा सन्धार्यते स्थिरम्।
सर्वदा येन वीरेण लिङ्गधारी भवेत्तु सः॥४४॥

अन्तकादीनि तत्त्वानि त्यक्त्वा नग्नो दिगम्बरः।
यो निर्वाण पदे लीनः स निवार्णपरो भवेत्॥४५॥

स्वस्वरूपात्मकं ज्ञानं समन्त्रं तत् प्रपालितम्।
अनन्यत्वं सदा येन स वै कापालिको भवेत्॥४६॥

सं० टी०–[परानन्दमयम्] सच्चिदानन्दस्वरूपम् **[लिङ्गम्]** संसारकारणम् **[सदाऽचले]** नित्यरूपे **[निजपीठे]** स्वधाम्नि यद् वर्तमानमिति शेषः तल्लिङ्गं येन पूजितं पुष्पचन्दनादिभिर्ध्यानादिभिश्चोपासितं स वै कालमुखः कालो मुखे यस्येति कालविजेता। इदमेव लिङ्गोपासनारहस्यम्। महाकालोपासकोऽमरो भवति; यथालिङ्गपूजनेन माकण्डेयश्चिरजीवितां गतः॥४३॥ **[सर्वतत्त्वानां]** सर्वभूतानां भूतलौकिकवस्तूनाम् **[विलयं कृत्वा]** तेषु सम्बन्धाभिमानं विहाय येन वीरेण संसाराभिमानरूपरिपुदमनेनैव वीरतेति ध्वन्यते। स सर्वदा **[स्थिरम्]** कूटस्थं ब्रह्म धार्यते उपास्यते। स लिङ्गधारी भवेत्। तत्स्मारकं बाह्यलिङ्गधारणमिति ध्वनिः॥४३॥ अन्तकादीनि तत्त्वानि विनश्वरवस्तूनि **[त्यक्त्वा]** उज्झित्य **[नग्नः]** संसारात्मकावरणरहितः, अतो दिगम्बरः **[दिगेव ब्रह्मैवाम्बरो यस्य सः] [यो निर्वाणपरः]** ब्रह्मलीनस्तन्निष्ठः, स निर्वाणपरो निर्वाणीति भवेत्॥४४॥ **[स्वस्वरूपात्मकम्]** आत्मरूपं नित्यम् **[ज्ञानम्]** ब्रह्मसमंत्रम् गुरुमन्त्रसहितं येनोपासितमिति शेषः। किञ्च **[अनन्यत्वम्]** आत्मपरमात्मनोरैक्यम् **[प्रपालितम्]** भेदभ्रमात् तस्कराद्रक्षितं, स वै कापालिकः मुख्यः कापालिकमतानुयायी॥४६॥

भा० टी०–जो सदा अचल और परमानन्दरूप होकर निजधाम में स्थित है, वह लिङ्ग है; अर्थात् जगत् का कारणरूप है; उसकी ही पूजा

जिसने की है, अर्थात् पत्र पुष्पादि द्वारा बाह्य पूजन और ध्यानादि द्वारा मानस पूजन किया है; वह काल को जीतने वाला महाकाल का उपासक कहलाता है। यही लिङ्गोपासना का रहस्य हे। बाह्यशिवलिङ्ग उसी की प्रतिकृति (अर्थात् फोटो) है। सकल चराचर भूतों का लय करके अर्थात् भूतदृष्टि का परित्यागकर जिस अभेदोपासक ने सदा स्थिर परमात्मा को धारण कर लिया है, वह वास्तविक लिङ्गधारी है। इसी भाव का स्मरक बाह्यलिङ्गधारण है। जन्म-मरण-आदि सांसारिक पदार्थो को छोड़कर जो संसाररूप आवरण से रहित हो गया है। अत एव वह दिगम्बर और सदा ब्रह्मरूप निर्वाण में स्थित निर्वाणी कहलाता है। जिसने गुरुमन्त्र द्वारा अभिन्न निज आत्मरूप ज्ञान की रक्षा की है, वह कापालिक होता है।॥४३-४६॥

मू०–

महाव्याप्तिपरं तत्त्वमाधाराधेयवर्जितम्।
तद्व्रतं धारितं येन स भवेद्वै महाव्रतः॥४७॥

कुलं सर्वात्मकं पिण्डमकुलं सर्वतोमुखम्।
तयोरैक्यपदं शक्तिर्यस्तां वेद स शक्तिभाक्॥४८॥

कौलं सर्वकलाग्रासः सकृतः सततं यया।
तां शक्तिं यो विजानाति शक्तिज्ञानी स कथ्यते॥

ज्ञात्वा कुलाकुलं तत्त्वं स क्रमेण क्रमेण तु।
स्वप्रकाशमहाशक्त्या ततः शक्तिपदं लभेत्॥४९॥

सं० टी०–[आधाराधेयवर्जितम्] सर्वेषामाधारः सन् स्वयं निराधारः **[महाव्याप्तिपरम्]** अखण्डतत्त्वमविनाशिब्रह्मतद्व्रततदुपासनं येन धारित-मनुष्ठितं वै निश्चयेन स महाव्रतो भवेत्॥४७॥ **[पिण्डम्]** पिण्डरूपं कार्यात्मकं **[सर्वात्मकं]** समष्टिसृष्टिरूपं प्राकृतप्रकृतिरूपङ्कुलं भवति। अखण्डचिद्रूपं च सर्वतोमुखं कारणरूपं स्थापितस्वान्तःसकलकार्यमकुलं व्यवह्रियते, तयोः कुलाकुलयोरैक्यपदमभिन्नतारूपा शक्तिः। एकैव शक्तिः सर्वत्र व्याप्तेति भावः। तां समष्टिरूपां, शक्तिं यो वेद स शक्तिभाक्

शाक्तः कौलं नाम सर्वकलाग्रासः सर्वासां कलानां प्राणादिवस्तूपादान-चतुःषष्टिशक्तीनां ग्रासः प्रलयः [**सः**] लयः [**यया**] शक्त्या सततं नित्यम् [**कृतः**] सम्पादितः [**तां**] शक्तिं प्रलयकारिणीं महाकालीं यो विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन वेत्ति, स शक्तिज्ञानी कथ्यते। सक्रमेण यथाक्रमं कुलाकुलं पूर्वोक्तं ज्ञात्वा क्रमेण [**स्वप्रकाशमहाशक्त्या**] चिद्रूप-महाशक्त्या सहैक्यं सम्पादयेत्। [**ततः**] साधनानन्तरं शक्तिपदं शाक्तस्थानं लभते॥४९॥

भा० टी०– अब महाव्रत के मुख्य अर्थ निरूपण किया जाता है। जो आधार-आधेय-रहित है; अर्थात् सब चराचर का आधार होता हुआ भी स्वयं निराधार है तथा सर्वत्र व्यापक अखण्ड तत्त्व है, उसका व्रत जिसने धारण किया है; वह 'महाव्रत' कहलाता है। अब शाक्त का अर्थ सुनिये : जो दृश्यमान चराचर और अखिल ब्रह्माण्ड तथा उनकी प्रकृति सूक्ष्म समष्टि है, वह अचित् कुलपद से व्यवहृत होता है। और जो सर्वव्यापक चिद्रूप वह अकुलपद से व्यवहृत होता है। इन दोनों की उपादान-उपादेय-एकता ही शक्ति है, उसको जो जानता है; वह शाक्त है। सकल कार्य करने वाली व्यष्टि शक्ति तथा सकल पदार्थों का प्रलय जिसमें हो, वह कौल है। यह प्रलय जिस शक्ति के द्वारा होता है, उस महाकाली शक्ति को जो जानता है, जप-ध्यानादि द्वारा जिसने स्वानुभव गोचर किया है; वह शक्तिज्ञानी कहलाता है। पूर्वोक्त कुलाकुलतत्त्व को उपर्युक्त क्रम से जानकर, फिर उसी क्रम से स्वप्रकाश चिद्रूप महाशक्ति के साथ एकता करे; तब शक्तिपद का लाभ होता है– यह सर्वोच्च पद है। अतः इसका अनेक श्लोकों से निरूपण किया गया है।॥४७-४९॥

मू०–

मदोमद्यमतिर्मुद्रा मायामीनं मनः पलम्।
मूर्च्छनं मैथुनं यस्य तेनासौ शाक्त उच्यते॥५०॥

सं० टी०–पञ्चमकारेण पूजनमिति शाक्तमतम्। तत्र के पञ्च-मकारपदार्थास्तान् दर्शयति– [**मदः**] अभिमानमेव [**मद्यम्**] सुरा न तु बाह्यमद्यम् [**मतिः**] कामनां [**मुद्रा**] मुदमनोराज्यरूपमानन्दं राति ददातीत्-

यथिका। न तु शष्कुली [**माया**] च मीनपदार्थोऽतिचञ्चलत्वान्न तु जलचरः। मन एव पलम्। मांसपदवाच्यम्; अन्नमयत्वात्, न तु पललम्। [**मूर्च्छनम्**] प्राणापानयोः सङ्गमः कुम्भक इति [**मैथुनं**] मैथुनपदवाच्यम्। न तु ग्राम्यधर्मः। क्वचित् कुण्डलिन्याः सहस्रारस्थपरमशिवेन योग एव मैथुनमित्याह। यस्य पूर्वोक्तपदार्थाः परमात्मनि समर्पणीयाः सन्ति, तेनासौ शाक्त उच्यते। अत्रेदं बोध्यम्– प्राकृतविषयका एते मोक्षप्रतिबन्धका अतस्तेषां परमशक्तौ प्रत्यर्पणं क्रियते। अतस्तेन परित्यक्तो जीवो विशुद्ध सन् स्वरूपभूतमोक्षपदं लभते। ननु ग्राम्यकर्मानुष्ठाने विमुक्तो भवतीति सिद्धान्तः। [**एतेन**] एतदीयरहस्यमजानन्तः पञ्चमकारपूजनस्य निन्दका रहस्येतर सेवकाश्चोभये निरस्ताः॥५०॥

भा० टी०–शाक्तमत में पाँच मकारों से पूजन करना प्रसिद्ध है। अज्ञ पुरुष उसका निन्दनीय अर्थ जानकर कोई अनुष्ठान न करे, अतः उस का रहस्य अर्थ श्रीनाथजी स्वयं निरूपण करते हैं। यहाँ मद्य का अर्थ अभिमान है; न कि सुरा। मुद्रा का अर्थ कामना [**अभिलाषा**] है; न कि शष्कुली (पूड़ी)। मीन का अर्थ माया है; न कि मछली। संकल्प-विकल्पात्मक मन ही अन्न रसमय होने से मांसपद का अर्थ है। मैथुन-पद का अर्थ मूर्च्छन अर्थात् संसार सम्बन्ध से बुद्धि की अविवेकिता है। इन पाँचों पदार्थों को जिसने महाशक्ति में समर्पित किया है, वह शाक्त है। भाव यह है कि ये पाँच मोक्ष के प्रतिबन्धक हैं। अतः इनका महाशक्ति में समर्पण कर देने से जीव उससे छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस रहस्य को न जानकर जो लोग पंच मकारों द्वारा पूजन की निन्दा करते हैं। और निन्दित मदिरादि का सेवन करते हैं, वे त्याज्य हैं॥५०॥

मू०–

यया भासस्फुरद्रूपं कृतं चैव स्फुटं बलात्।
तां शक्तिं यो विजानाति शाक्तः सोऽभिधीयते॥५१॥

यः करोति निरुत्थानं कर्तृचित्प्रसरेत् सदा।
तद्विश्रान्तिस्तया शक्त्या शाक्तः सोऽत्राभिधीयते॥५२॥

व्यापकत्वे परं सारं यद्विष्णोराद्यमव्ययम्।
विश्रान्तिदायकं देहे तज्ज्ञात्वा वैष्णवो भवेत्॥५३॥

भास्वत्स्वरूपो यो भेदाद् भेदभावोज्झितः खलु।
भाति देहे सदा यस्य स वै भागवतो भवेत्॥५४॥

यो वेत्ति वैष्णवं भेदैः सर्वासर्वमयं निजम्।
प्रबुद्धं सर्वदेहस्थं भेदवादी भवेत्तु सः॥५५॥

पञ्चानामक्षया हानिः पञ्चत्त्वं रात्रिरुच्यते।
तां रात्रिं यो विजानाति स भवेत् पाञ्चरात्रिकः॥५६॥

सं० टी०—यया शक्त्या हठाद् बलात् भासस्फुरद्रूपं प्रकाशसञ्चार-क्रियाविशिष्टं जगत् इत्यध्याहारः कृतं सृष्टिं ससर्जेतिभावः। अथ च ब्रह्म रूपं प्रकाशितं; तं यो विजानाति, स शाक्त इति॥५१॥ यः शक्त्या विश्रान्तितया विगता श्रान्तिर्यस्यास्तस्याभावो विश्रान्तिता विश्रामेणेति फलितम्। यथा साधर्म्यमित्यादौ समानो धर्मो यस्य, तस्य भावः समानधर्म इति फलति। शक्तिं सङ्कोच्येति यावत् [**निरुत्थानं**] निर्विकल्पसमाधिं करोति, तस्यां दशायां [**कर्तृचित्**] स्वतन्त्रचेतनरूपः सन् [**प्रसरेत्**] विरहत् [**अत्र**] संसारे स शाक्तोऽभिधीयते॥५२॥ [**विष्णोः**] विष्णुपदवाच्यस्य व्यापकत्वे सति यत् [**परम्**] सर्वतः श्रेष्ठं [**सारम्**] तत्त्वभूतम् [**आद्यम्**] सर्वनिदानम् [**अव्ययम्**] त्रिविधपरिणामशून्यं वस्तु विचारतो निर्गलिततत्त्वं [**देह**] स्वपिण्डे [**विश्रान्तिदायक्**] स्थितिकारकं चैतन्यं ज्ञात्वा वैष्णवो भवेत्॥५३॥ यः [**भास्वत्स्वरूपः**] चैतन्यरूपः [**भेदभावोज्झितः**] स्वरूपतोऽभिन्नः [**भेदात्**] शरीरोपाधिभेदात् [**यस्य**] जनस्य [**देहे**] शरीरे [**भाति**] प्रकाशते तज्ज्ञाता भागवतो भवेत्॥५४॥ [**सर्वासर्वमयम्**] समष्टिव्यष्टिरूपम् [**निजम्**] स्वयम् [**प्रबुद्धम्**] प्रकाशमानम् [**सर्वदेहस्थम्**] एकमेव शरीरोपहितम् [**वैष्णवम्**] विष्णुतत्त्वम् [**यो भेदैः**] नानारूपेण [**वेत्ति**] जानाति, स तु भेदवादी भवेत् [**पञ्चानाम्**] पञ्चभूतानां या [**अक्षया**] समूलतोऽनुच्छिन्न [**हानिः**] स्थूलरूप-विनाशास्तिरोभाव इति यावत्तदेव पञ्चत्वं प्रलयावस्था रात्रिः। तां यो विजानाति स पाञ्चरात्रिकः। अयमाशयः पञ्चानां रात्रिः, इति विग्रहः

पञ्चपदार्थः भूतपञ्चकं रात्रिपदार्थः प्रलयस्तथा च पञ्चभूतलयः पञ्चरात्रिपदार्थतात्कालिकपरमेश्वरोपासकः पाञ्चरात्रिक इति। अथवा पञ्चैव रात्रयः धर्मप्रधानतया पञ्चत्वरूपा रात्रिर्लय इति यावत् तद्बोद्धालययोग-ज्ञाता पाञ्चरात्रिको भवेन्न केवलनाममात्रेण नारदपञ्चरात्रग्रन्थप्रमाणवादीति ध्वनिः॥५६॥

भा० टी०—जिस शक्ति ने अखिल क्रियाकौशलविशिष्ट जगत् का आविर्भाव और ब्रह्मानुभव का विकाश किया है, उस शक्ति को जो जानता है; वह शाक्त हैं। जो शक्ति को संसार से संकुचित करके निरुत्थान निर्विकल्प समाधि करता है, और उस समाहित दशा में स्वतन्त्र चेतन हो विहार करता है वह शाक्त है। विष्णुपद का अर्थ व्यापक है। अतः जो उस व्यापक अखण्ड अविनाशी तत्त्व को अपने देह में स्थित अपने स्वरूप से अभिन्न जानता है, वह वैष्णव होता है। जो स्वप्रकाश भेदरहित होकर सर्वत्र अभेदरूप से प्रकाशमान है, उसका जिसने निज पिण्ड में अनुभव कर लिया है; वही भागवत है। जो व्यष्टि समष्टि व्यापक तथा प्रकाशमय एक ही विष्णु तत्त्व को नाना रूपों में देखता है, वह 'भेदवादी' कहलाता है। पाञ्चरात्रिक-पद का अर्थ यह है कि पंचभूतों का जिसमें प्रलय होता है। उसका उपासक 'पाञ्चरात्रिक' कहलाता है॥५१-५६॥

मू०—

येन जीवन्ति जीवा वै मुक्तिं यान्ति च तत्क्षणात्।
सजीवो विदितो येन सदा जीवी च कथ्यते॥५७॥

यः करोति सदा प्रीतिं प्रसन्ने पुरुषे परे।
शासितानीन्द्रियाण्येव सात्त्विकः सोऽभिधीयते॥५८॥

सर्वाकारं निराकारं निर्निमित्तं निरञ्जनम्।
सूक्ष्मं हंसं च यो वेत्ति स भवेत् सूक्ष्मसात्त्विकः॥५९॥

सत्यमेकमजं नित्यमनन्तं चाक्षयं ध्रुवम्।
ज्ञात्वा यस्तु वदेद्धीरः सत्यवादी स कथ्यते॥६०॥

ज्ञानज्ञेयमयाभ्यां तु योगिनः स्वस्वभावतः।
कलंकी स तु विज्ञेयो व्यापकः पुरुषोत्तमः॥६१॥

सं० टी०—येन चैतन्येन जीवाः संसारावस्थायां जीवन्ति ज्ञाने सति तत्क्षणात् तत्कालमेव मुक्तिं मोक्षं यान्ति प्राप्नुवन्ति, स जीवश्चैतन्यरूपो येन विदितः सः [**सदा जीवी**] सः 'अमरः' कथ्यते॥५७॥ [**यः**] प्रसन्न आनन्दरूपे [**परे**] सर्वतः श्रेष्ठे [**पुरुषे**] पूर्णरूपे [**सदा प्रीतिम्**] आत्मरूपतयाऽकृत्रिमं प्रेम करोति। किं च [**इन्द्रियाणि**] शासितानि विषयेभ्यो निवर्तितानि, स सात्त्विकः कथ्यते॥५८॥ [**सर्वाकारम्**] सृष्टिरूपम् [**निराकारम्**] वस्तुतः सर्वोपाधिरहितम् [**निर्निमित्तम्**] कारणरहितं निरंजनम् धर्माधर्मादिरहितम् [**सूक्ष्मं हंसम्**] हं-पदार्थः शक्तिः स-पदार्थः शिवस्तथा च शक्तिसहितं शिवम्। अथवा हं-पदार्थो जीवः स पदार्थो ब्रह्मतयोरभेदः कर्मधारयसमासार्थस्तथा च जीवाभिन्नं परमेश्वरं यो वेत्ति, स सूक्ष्मसात्त्विको भवेत्॥५९॥ [**एकम्**] द्वैतरहितम् [**सत्यम्**] त्रैकालाबाधितम् [**अजम्**] परिणामशून्यम् [**अनन्तम्**] तिरोधानवर्जितम् [**अक्षयम्**] क्षयादिह्रासशून्यम् [**ध्रुवम्**] निष्क्रियं परमात्मानं ज्ञात्वा यस्तु [**धीरः**] योग्यजिज्ञासुं प्रति वदेत्, स सत्यवादी कथ्यते॥६०॥ [**योगिनः**] योगिना कृत्यानां कर्तरि वेति कर्तरि षष्ठी विज्ञेय इत्यन्वयः। [**ज्ञानज्ञेयमयाभ्याम्**] ज्ञानं येन मानसवस्तुना ज्ञेयमयेन च प्राकृतवस्तुना च सह सम्बद्ध इति शेषः। [**स्वस्वभावतः**] स्वरूपेण [**व्यापकः**] सर्वगतः [**पुरुषोत्तमः**] परमेश्वरो यः स कलङ्की कलङ्क-उपाधिरूपचिह्न यस्यास्तीति विज्ञेयः निरुपाधि-प्राप्त्युपायतया साधनीयः॥६१॥

भा० टी०—जिस चैतन्य के बल से जीव संसारावस्था में जीवित रहता है और उसी को जानकर मोक्ष को प्राप्त करता है, उस परमात्मा से अभिन्नचेतनरूप जीव को जिसने जान लिया, वह सदा अमर है। जो परमपुरुष परमात्मा में निरन्तर प्रीति करता है और जिसने इन्द्रियों का दमन कर लिया है; वह सात्विक कहलाता है। सर्वस्वरूप निराकार निरंजन और सूक्ष्म परमात्मा को जो जानता है, वह सूक्ष्म सात्त्विक होता है। एक नित्य कूटस्थ अक्षय सत्य को जानकर जनता में जो उसका उपदेश देता है, वह सत्यवादी कहलाता है। मानस और बाह्य— दोनों

प्रकार के पदार्थों से सम्बद्ध और स्वस्वरूप से व्यापक जो पुरुषोत्तम है, वही कलङ्की अर्थात् उपाधिरूप कलङ्क से विशिष्ट सगुण ईश्वर योगियों को निर्गुणपद की प्राप्ति के लिये जानना चाहिये॥५७-६१॥

मू०–

मुक्तिचारेमतिर्या वै व्यापिका स्वप्रकाशिका।
एषा ज्ञानवती येन ज्ञातासौ सात्त्विको भवेत्॥६२॥

क्षपणं चित्तवृत्तीनां रागद्वेषविलुण्ठनम्।
कुरुते व्योमवन्नग्नो योऽसौ क्षपणको भवेत्॥

प्रसरं भासते शक्तिः सङ्कोचं भासते शिवः।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत्सिद्धयोगिराट्॥६३॥

सं० टी०–[मुक्तिचारे] मोक्षार्थानुष्ठाने– **[स्वप्रकाशिका]** स्व-प्रकाशरूपा **[व्यापिका]** अखण्डात्मिका या **[मतिः]** बुद्धिः एषा **[ज्ञानवती]** प्रशस्तं ज्ञानं निश्चयो यस्यां, सा **[येन]** जनेन **[ज्ञाता]** असौ सात्त्विको भवेत्॥६२॥ **[चित्तवृत्तीनाम्]** मनोवृत्तीनाम् **[क्षपणम्]** निरोधक्रियाम् **[राग- द्वेष-विलुण्ठनम्]** रागद्वेषयोर्निवर्हणं, यः **[कुरुते]** करोति; तथा **[व्योमवन्नग्नः]** नभोवन्नग्नः, स क्षपणको भवेत्। यद्यपि शिवं विना न शक्तिः, शक्तिं विना न शिवस्तिष्ठति; उभयोः स्वाभाविकः सम्बन्धः। तथापि यथाशक्तिः प्रवर्द्धते तथा सृष्टिर्भवति। यदा च शिवः स्वान्तर्विलालयति, तदा प्रलयः। परन्तु इदं चक्रं प्राणिकर्मवशाद् वंभ्रमीत्यतो नावधिरस्य कर्मणामानन्त्यात् योऽनुष्ठानबलात् स्वेच्छया उभयोः सम्बन्धं घटयति, स सिद्धराजो योगी सृष्टिप्रलयोभयकरणे समर्थो भवेत्। इत्यमुमर्थं दर्शयति शक्तिः **[प्रसरम्]** सृष्टिप्रसारं प्रकाशते प्रकाशयतीत्यन्तर्भावितण्यर्थः। शिवः **[सङ्कोचम्]** लयम् **[भासते]** करोति **[तयोर्योगस्य]** सम्बन्धस्य **[कर्ता]** स्वच्छावशात्सङ्घटयिता स सिद्धयोगिराड् भवेत्। अथ च द्वितीयार्थोऽप्यस्य **[शक्तिः]** प्राणवायुः **[प्रसरम्]** प्रश्वासनिःसारणम् **[भासते]** करोति **[शिवः]** अपानवायुः संकोचं भासते श्वासमध आकर्षयति **[तयोः]** प्राणापानयोः **[योगस्य]** एकत्र मेलनस्य कुम्भकस्येति यावत् कर्ता स सिद्धयोगिराड् भवेत्। ननु शक्तिशिवशब्दाभ्यां कथं

प्राणापानयोर्ग्रहणमिति चेच्छृ शृणु– आधाराभूतः शिवः आधेयभूता शक्तिः, तत्सादृश्येनाग्निमाणवक इवाधारभूतापानस्य शिवशब्देनाधेयभूतप्राणस्य च शक्तिशब्देन ग्रहणं मार्मिकदृष्ट्या सङ्घटतेतराम्॥६३॥

भा० टी०–मोक्ष के लिये अनुष्ठान में जो स्वप्रकाशरूप अखण्ड बुद्धि होती है, उसको जिसने प्राप्त कर लिया वह सात्त्विक होता है; जो चित्तवृत्तियों के निरोधपूर्वक रागद्वेषादि का नाशकर आकाश की तरह नग्न (निर्मल) रहता है, वह 'क्षपणक' कहलाता है। यद्यपि शिव के बिना शक्ति नहीं रहती और शक्ति के बिना शिव नहीं रहता; तथापि जब शक्ति बढ़ती है, तब सृष्टि होती है और जब शिव-शक्ति को अपने में लीन कर लेता है, तब प्रलय होता है। जो योगी इस दोनों क्रियाओं में कुशल है, वह सिद्धों में 'योगिराज' कहलाता है। इसका दूसरा अर्थ है कि प्राणवायु श्वास को बाहर निकालता है और अपानवायु श्वास को नीचे खेंचता है– इन दोनों के योग को कुम्भक कहते हैं। उसको करने वाला सिद्ध योगिराज होता है॥६२-६३॥

मू०–

विश्वातीतं यथाविश्वमेकमेव विराजते।
संयोगेन सदा यस्तु सिद्धयोगी भवेत्तु सः॥६४॥
सर्वासां निजवृत्तीनां प्रसृतिर्भजते लयम्।
स भवेत्सिद्धसिद्धान्ते सिद्धयोगी महाबलः॥६५॥
उदासीनः सदा शान्तः स्वस्थोऽन्तर्निजभासकः।
महानन्दमयो धीरः स भवेत्सिद्धयोगिराट्॥६६॥
परिपूर्णप्रसन्नात्मा सर्वासर्वपदोदितः।
विशुद्धौ निर्भरानन्दः सभवेत् सिद्धयोगिराट्॥६७॥
गतेन शोकं विभवेन वाञ्छा
प्राप्तेन हर्षं न करोति योगी।
आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो न
बाध्यते कालपथेन नित्यम्॥६८॥

सं० टी०–[**यथाविश्वम्**] विश्वमनतिक्रम्य विश्वसहितमिति फलितम्। [**विश्वातीतम्**] संसारात्परं परब्रह्म [**एकमेव**] अद्वैतमेव तत्त्वं सत् [**सदासंयोगेन**] सम्यग् योगेन निर्विकल्पसमाधिद्वारा यो योगी विराजते, स सिद्धयोगी भवेत्। तत्त्वमित्यस्य नित्यनपुंसकत्वाद् य इत्यनेन सामानाधिकरण्यान्वयेन क्षतिः॥६४॥ यस्य सर्वासां निजवृत्तीनां समस्तस्वीयमनो व्यापाराणाम् [**प्रसृतिः**] उद्गमः [**लयं लभते**] विलयं व्रजति, स एव सिद्धसिद्धान्ते सिद्धमते [**महाबलः**] सकलरचनासमर्थसिद्धयोगी कथ्यत इति॥६५॥ यः [**उदासीनः**] संसाराद्विरक्तः, अत एव [**सदा**] सततम् [**शान्तः**] चित्तविक्षेपरहितः [**स्वस्यान्तः**] स्वशरीरमध्ये [**निजभासकः**] स्वस्वरूपप्रकाशकः। अतः [**महानन्दमयः**] प्रचुरानन्दोऽत्र प्राचुर्येऽर्थे मयट् सः [**धीरः**] ध्यानवान् सिद्धयोगिराड् भवेत्॥६६॥ [**परिपूर्णं प्रसन्नात्मा**] अखण्डानन्दरूपः [**सर्वासर्वपदोदितः**] सकलवस्त्वधिष्ठानतयोपहितरूपेण सकलशब्दवाच्योऽथवा असर्वेतिच्छेदस्तथा वस्तुतो जातिगुणक्रियातीतत्वात् कस्यापि पदस्य वाच्यतां नाश्रयतीत्यर्थः। [**विशुद्धः**] प्राकृतसम्बन्धशून्यः, अतः [**निर्भरानन्दः**] अखण्डानन्दः स सिद्धयोगिराट्॥६७॥ योगी [**गतेन**] नष्टेन [**विभवेन**] धनेन [**शोकम्**] उपतापम् वांक्षितवस्तुप्राप्त्या वाञ्छेत्यत्र कर्मण्यङ् प्राप्तेत्यत्रय भावेक्तो ज्ञेयः। [**हर्षम्**] प्रसन्नताम् [**न करोति**] न विदधाति। ननु किं करोत्यत आह–आनन्दपूर्णो निजबोधलीनः, आनन्दपूर्णः सर्वशक्तिमान् परमेश्वरश्चासावुस्तस्य निजः शिवानुरूपः व्यापकरूप इति यावत् [**बोधलीनः बोधो**] ज्ञानं तस्मिन् लीनः, तत्परः सन् [**कालपथेन**] मृत्युना न बाध्यतेऽमरो भवतीत्यर्थः॥६८॥

भा० टी०–संसार से अतीत होकर संसार में व्यापक परमेश्वर से जो निर्विकल्प समाधि द्वारा अभिन्न हो जाता है, वह सिद्ध योगी है। समस्त इन्द्रियवृत्तियों को जो लीन कर लेता है, सिद्धों के सिद्धान्त में वह महाशक्तिशाली योगी होता है। जो संसार से विरक्त सदा चित्त विक्षेप से रहित अपने देह में स्वस्वरूप का प्रकाशक और समाहित होता है, वह **'योगिराज'** कहलाता हे। जो अखण्ड शान्तियुक्त और जाति-गुण-क्रिया-रहित होने से शब्द के द्वारा अकथनीय विशुद्ध सकल संसार के सम्बन्धों से शून्य और अखण्डानन्द हो जाता है, वह सिद्ध 'योगिराज' कहलाता है। जो धनादि के नष्ट हो जाने पर दुःख नहीं मानता तथा न धनादि लाभ

होने से प्रसन्न ही होता है। किन्तु सदा परिपूर्ण परमात्मा के ज्ञान में ही संलग्न रहता है, वह मृत्यु से भी बाधित नहीं होता; अर्थात् अमर हो जाता है।॥६४-६८॥

मू०–एवं तु सर्वसिद्धान्तदर्शनानां पृथक्पृथग्भूतानामपि ब्रह्मणि समन्वयसूचनशीलोपदेशकर्ताऽवधूत एवं कर्ता सद्गुरुः प्रशस्यत एषामुपदेशानां पृथक् पृथक् सूचितानां जायते, यत्र विश्रान्तिः साविश्रान्तिश्च विधीयते॥६९॥

लीनतां च स्वयं याति निरुत्थानचमत्कृतेः।
यतो निरुत्थानमयात् सोऽयं स्यादवधूतराट्॥७०॥
तस्मात्तं सद्गुरुं साक्षाद् वन्दयेत् पूजयेत्सदा।
सम्यक्सिद्धपदं धत्ते तत्क्षणात्स्वात्मभाषितम्॥७१॥
न वन्दनीयास्ते काष्ठादर्शनभ्रान्तिकारकाः।
वर्जयेत्तान् गुरून् दूराद् धीरः सिद्धमताश्रयः॥७२॥

सं० टी०–[एवम्] पूर्वोक्तप्रकारेण **[पृथग्भूतानामपि]** विभिन्न-मतप्रकाशकानामपि **[सर्वसिद्धान्तदर्शनानाम्]** निखिलसिद्धान्तबोधकानां शास्त्राणाम् **[ब्रह्मणि]** सच्चिदानन्दे **[समन्वयसूचनशीलोपदेशकर्ता]** सम्यक् तात्पर्यनिश्चयफलकव्याख्यानकारकोऽवधूतः, सद्गुरुः **[एव कर्ता]** समन्वयकारकः **[प्रशस्यते]** स्तूयते। तदेव प्राचीनोपदेशमुखेन द्रढयति। एषामित्यादि **[यत्र]** ब्रह्मणि **[एषां विश्रान्तिः]** सकलदर्शनानां समन्वयः, जातये वस्तुतः सैव विश्रान्तिर्विधीयते न तु क्षणिकविश्रान्तिः प्रशस्यते॥६९॥ **[निरुत्थानचमत्कृतेः]** निरुत्थाने न पुनरनुद्गमनेन चमत्कृतेः सुशोभिते ब्रह्मणि **[लीनताम्]** लयम् **[स्वयं]** योगी **[याति]** प्रयाति नान्यं साहाय्यमपेक्षते, यतो यो निरुत्थानमपुनरागमनम् **[आयात्]** अगच्छत्। अतः सोऽयमवधूतराट् अवधूतशिरोमणिः स्यादिति निश्चयः॥७०॥ **[तस्मात्]** उक्तहेतोः **[तम्]** अवधूतम् **[सद्गुरुम्]** मोक्षप्रदं साक्षात् प्रत्यहं समक्षं सदा यो **[वन्दयेत्]** प्रणमेत् पूजयेत् भोजनाच्छादनादिभिरलं कुर्यात्, स स्वात्मभाषितं स्वगुरूपदिष्टम् **[सम्यक्सिद्धपदम्]** सिद्धपदवीं चारुतया **[धत्ते]** श्रयते सिद्धो भवतीति यावत्॥७१॥ ये **[काष्ठादर्शनभ्रान्तिकारकाः]**

दिग्दर्शने ब्रह्मदर्शने भ्रमोत्पादकाः [**तेन न वन्दनीयाः**] न पूजनीयाः। किं च सिद्धमताश्रयः सिद्धानुयायी [**तान्**] प्रागुक्तान् गुरून् दूराद् वर्जयेत् परित्यजेत्॥७२॥

भा० टी०—पूर्वोक्त प्रकार से विभिन्न मतप्रकाशक सकल सिद्धान्तबोधक वाक्यों का समन्वय सच्चिदानन्द ब्रह्म में करने वाला सद्गुरु अवधूत प्रशंसनीय है। कहा भी है कि विभिन्न रूप से प्रतीयमान इन उपदेशों का जिस ब्रह्म में जो समन्वय होता है, वही समन्वय प्रशंसनीय कहलाता है। बन्धकोटि में न आना निरुत्थान है। उस चमत्कारशाली परमात्मा में योगी स्वयं लीन हो जाता है। उस योगी को संयम योग के अतिरिक्त साधन की अपेक्षा नहीं है। अतः जिसने उस निरुत्थान पद को प्राप्त कर लिया वह 'अवधूतराज' हो जाता है। इसलिये उस अवधूत सद्गुरु को नित्य प्रणाम करे और वस्त्र-भोजनादि से उसकी पूजा करे। ऐसा करने वाला अपने गुरु के बतलाये सिद्धपद को उसी क्षण प्राप्त कर लेता है। जो ब्रह्मदर्शन में भ्रम डालने वाला है, वह कदापि वन्दनीय नहीं है। ऐसे गुरु को सिद्धमतावलम्बी धीरजन दूर से त्याग दे॥६९-७२॥

मू०—

वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिग्रस्तः परं मायया
भाट्टाः कर्मकलाकुलाहतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः।
अन्ये भेदरता विवादविकलाः सत्तत्त्वतो वञ्चिता-
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत्॥७३॥

सं०टी०—यो हि वेदान्ती केवलवेदान्तशास्त्रमधीत्यस्वानुभव-विहीनोऽपि कर्मोपासनादिकं सदुपायं विहाय केवलशाब्दिकज्ञानबलेनोन्मत्तः [**बहुतर्ककर्कशमतिः**] बहवस्तर्काद्वैतखण्डनोपाययुक्तयस्तैः कर्कशा कठिनानिदिध्यासनबहिर्मुखा मतिः बुद्धिर्यस्येति, अतः सः [**मायया**] परमतखण्डनादिमानसिकानात्मचिन्तनजालेन [**परमम्**] अत्यन्तम्, ग्रस्तः [**भाट्टाः**] श्रीकुमारिलभट्टमतानुयायिनः [**कर्मकलाकुलाः**] केवलकर्मकौशलतत्पराः [**वैशेषिकाः**] नैयायिकाः [**द्वैतेन**] भेदेन

[हतधियः] द्वैतस्थापनाग्रहग्रहेण विनष्टबुद्धयः **[एवमन्येऽपि]** क्षपणकनग्नकादयः **[भेदरताः]** विवादविकलाः विवादश्रमेण खिन्नमानसाः **[एते]** सर्वे **[सत्तत्त्वतः]** वस्तुभूतसच्चिदानन्दतः **[वञ्चिताः]** पृथग्भूताः सन्तो न मोक्षायालम् **[तस्मात्]** पूर्वोक्तहेतोः **[धीरः]** मुमुक्षुः **[सिद्धमतम्]** सिद्धैर्मतं स्वीकृतं **[स्वभावसमयम्]** स्वभावतः समयं सिद्धान्तम्। न तु केनचित् कृतमनादिसिद्धान्तमिति यावत् **[संश्रयेत्]** सेवेतेति निष्कर्षः। अयमाशयो विक्षिप्तचित्तेन चिदानन्दसाक्षात्कारो दुर्लभः। विक्षेपाश्च ध्यानादियोगमन्तरा न समूलकाषं कर्षितुमर्हन्तीति सार्वजनीनोऽयं पन्थाः। अतस्तमधिरूढवतामवधूतानां सिद्धान्त एव परान् सकलानतितिशेते। ननु सर्वेषां कर्मोपासनादीनां तु निन्दैव कृता। तर्हि कोऽवशिष्टः सिद्धान्तः सिद्धानामिति चेच्छृणुरहस्यम्। समरसकरणमेव मुख्यसिद्धान्तो यस्य प्रक्रिया पूर्वमेवोक्ताचार्यपादैः। अत एव सर्वेषामेकैकानुष्ठानपराणां निन्दा प्रस्तूयते समरसकरणायैवं; न तु निन्दातात्पर्येण। यथा वेदेऽन्धं तमः प्रविशन्तीत्यादिना प्रत्येकं कर्मोपासनयोर्निन्दोभयसमुच्चयः॥७३॥

भा० टी०—जो वेदान्ती केवल वेदान्तशास्त्र को पढ़ स्वानुभवरहित कर्मोपासनादि सदुपाय को छोड़कर केवल शाब्दिक ज्ञान से ही द्वैतखण्डनादि युक्तियों में तत्पर रहते हैं, उनकी बुद्धि निदिध्यासन से बहिर्मुख हो जाती है। अतः वे माया से ही ग्रस्त हैं; अर्थात् माया के जाल में ही फंसे रहते हैं। भट्टमतानुयायी पूर्वमीमांसक केवल कर्मकला में ही व्याकुल रहते हैं। इसलिये उनको ईश्वरोपासना का अवसर ही नहीं मिलता। वैशेषिक-कणादमतानुयायियों की बुद्धि द्वैत के आग्रह से ही विनष्ट हो जाती है। ऐसे ही अन्य द्वैतवादी भी द्वैताग्रह से बुद्धि को नष्ट कर लेते हैं और सदा परस्पर विवाद में तत्पर रहते हैं। इसलिये अपने धेयतत्व से वंचित ही रह जाते हैं। अतः धीर जन को चाहिये कि सिद्धों के सम्मत समरसभाव का भी सेवन करे; अर्थात् सकल दर्शनों का समन्वयकर अद्वैततत्त्व में तत्पर हो जाय। वाद विवाद में कभी न फंसे एक दर्शन का ही पक्षपाती होकर अपने लक्ष्य को न खो बैठे॥७३॥

मू०–

साङ्ख्यावैष्णववैदिकाविधिपराः संन्यासिनस्तापसाः
सौरावीरपराः प्रपञ्चनिरता बौद्धाजिन श्रावकाः।
एते कष्टरता वृथा पथगताः सत्तत्त्वतो वञ्चिताः
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत्॥७४॥

आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसाः
नानातीर्थनिषेवका जपपरा मौने स्थिता नित्यशः।
एते ते खलु दुःखभारनिरताः सत्तत्त्वतो वञ्चिता-
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत्॥७५॥

सं०टी०–एवं साङ्ख्यमतावलम्बिनो वैष्णवा वैदिकाश्च एतेऽपि [**विधिपराः**] प्रवृत्तिपरायणः, न तु निवृत्तिनिष्ठास्तथैव संन्यासिनो यतयः [**तापसाः**] वानप्रस्थाः [**बौद्धाः**] बुद्धमतानुयायिनः [**जिनश्रावकाः**] जिनस्य तत्प्रोक्तस्य ग्रन्थस्य श्रावकाः श्रोतारस्तदनुयायिन इति भावः। तेऽपि प्रपञ्चनिरताः, सक्तसांसारिकव्यवहारपरायणतामार्गे व्यर्थं भ्रमन्तः। अत एव [**कष्टरताः**] दुःखबहुलाः सन्तः सत्तत्त्वतो वंचिता इत्यादेः पूर्ववदर्थः॥७४॥ [**बहुदीक्षिताः**] बहुभिर्दीक्षिता अनियतमतावलम्बिनोऽश्वत्थ-पर्णवन्निराधाराः कमण्डलुवच्च दोलायमानाः। बहवो दीक्षिता ये वा शिष्यरुच्यनुसारमनुच्य शिष्यसम्पादकाः [**हुतिरताः**] हवनव्रताः [**तापसाः**] व्रतपराः [**नग्नव्रताः**] दिगम्बराः [**नानातीर्थनिषेवकाः**] तीर्थाटनपराः [**जपपराः**] जपशीलाः [**मौने स्थिताः**] नित्यशो मौनिनः। एतेऽपि सत्तत्त्वतो वञ्चिता। अतो दुःखभारनिरता भवन्ति; न तु मुक्ता इति ध्वनिः। शेषं पूर्ववत्॥७५॥

भा० टी०–एवं सांख्य, वैष्णव और वैदिक तथा संन्यासी-वानप्रस्थ-आदि जो प्रवृत्तिमार्गपरायण हैं और जो बौद्ध-जैन-चार्वाक-आदि संसारव्यवहार में फंसे रहते हैं, वे भी कुमार्ग में भटकते हुये असली तत्त्व से वंचित हो दुःख के भागी होते हैं। इसलिये धीरजन सिद्धसम्मत समरसकरण का ही अवलम्बन करे। इसी तरह जो एक गुरुनिष्ठ नहीं है, अथवा अनेक

शिष्य बनाने वाले आचार्य हवन में तत्पर रहने वाले तथा नग्नव्रत को धारण करने वाले तापस अनेक तीर्थों में घूमने वाले वाले जपपरायण और सदा मौनी रहने वाले ये सब भी श्रेष्ठतत्व से वंचित होकर दुःख के भागी होते हैं। इसलिये धीरजन का कर्तव्य है कि सिद्धसम्मत समरसभाव का ही सेवन करे॥७४-७५॥

मू०-

आदौ रेचकपूरकुम्भकविधौ नाडी यथा शोधितं
कृत्वा हृत्कमलोदरे तु सहसा चित्तं महामूर्च्छितम्।
पश्चादक्षरमव्ययं परकुले चोङ्कारदीपाङ्कुरे
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत्॥७६॥

चार्वकाश्चतुराश्च तर्कनिपुणदेहात्मवादे रताः
ते सर्वे न तरन्ति दुःसहतरं ये ते परं सात्त्विकाः।
ते सर्वे प्रभवन्ति य च यवना पापे रता निर्दयाः
तेषामैहिकमल्पमेव हि फलं तत्त्वं न मोक्षं पदम्॥७७॥

सं० टी०-ये [**आदौ**] प्रथमं [**रेचकपूरककुम्भकविधौ**] प्राणायामसिद्धये [**नाडी यथा शोधितम्**] नाडीनां पन्थानस्तेषां यथाशोधितं सम्यक्शोधनं कृत्वा हृदयकमले [**ओंकारदीपाङ्कुरे**] अर्थप्रकाशत्वादोङ्कार एव दीपः, तस्याङ्कुरेऽकारोकारमकाररूपालम्बेन [**अक्षरमव्ययम्**] परमेश्वरम्। [**समाहितेन मनसा**] शान्तस्वान्तेन पश्यन्ति। तेषामपि [**न नित्यं पदम्**] न साक्षान्मोक्षः समरसकरणं विना द्वैतानिवृत्तेर्न साक्षान्मोक्षः किन्तु सत्यलोकप्राप्तिद्वारा क्रममुक्तिरिति भावः॥७६॥ [**चार्वाकाः**] परमनास्तिकाः अतः [**चतुराः**] लोककर्मकुशला [**तर्कनिपुणाः**] आगमानपेक्षाः [**देहोत्मवादे रताः**] पृथिव्यादिभूतचतुष्टयं देहाकारं परिणतं मदशक्तिवत्स्वत एव समुत्पन्नचैतन्यमात्मेति; न तु देहातिरिक्तो नित्य आत्मा। अतो *"यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्"* इति सिद्धान्तं नानाविधतर्कैः स्थापयन्ति। तेऽपि [**दुःसहतरम्**] संसारं न तरन्ति न परमधिगच्छन्ति। किं च [**परम्**] तत्त्वम् [**न तरन्ति**] न

प्राप्नुवन्ति। किं च ते सात्विका अपि न प्रभवन्ति; किन्तु राजसाः। ये च यवना म्लेच्छा हिंसादौ [**रताः**] तत्पराः, अतो निर्दया दयारहिताः। [**तेषामल्पमेव**] ऐहिकफलं भवति; न तु तत्त्वं मोक्षपदम्॥७७॥

भा० टी०—जो निरन्तर नाडीशोधन तथा रेचक पूरक और कुम्भक में ही लगे रहते हैं और हृदयकमल में मन को रोककर पश्चात् ओंकाररूप दीपक के अवयव (अकार-उकार-मकार) को ब्रह्म की मूर्ति मानकर मन से उस ब्रह्म का ध्यान करते हैं, उनको भी समरसकरण के बिना द्वैत की निवृत्ति न होने से साक्षात् मोक्षपद की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु सगुण ब्रह्म की प्राप्ति द्वारा मोक्ष होता है। इसी का नाम 'क्रममुक्ति' है। शुष्क लौकिक तर्क में तत्पर और अपने को ही चतुर मानने वाले प्रत्यक्ष प्रमाणवादी चार्वाक देह को ही आत्मा मानते हैं, वे परलोक में फल देने वाले क्रम से वंचित होकर इस असार संसार से पार नहीं होने पाते और मुहम्मदमतानुयायी लोग भी बड़े निर्दय तथा अनेक पापकर्मों में संलग्न रहते हैं। उनको इस लोक में ही क्षणिक विषयसुख मिलता है, मोक्षपद की तो उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं॥७६-७७॥

मू०—

श्रीहट्टे मस्तकान्ते त्रिपुटपुटविले ब्रह्मरन्ध्रे ललाटे
भ्रूनेत्रे नासिकाग्रे श्रवणपथरवे घण्टिका राजदन्ते।
कण्ठे हृन्नाभिमध्ये त्रिकमलकुहरे चोड्डियाने च पीठे
एवं ये स्थानलग्नाः परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम्॥७८॥

गोल्लाटे दीप्तिपुञ्जे प्रलयशिखिनिभे सिद्धजालन्धरे वा
शृङ्गाटे ज्योतिरेकं तडिदिवतरलं ब्रह्मनाड्यन्तराले।
भालान्ते विद्युदाभे तदुपरि शिखरे कोटिमार्तण्डचण्डे
ये नित्यं भावयन्ते परमपदमहो नास्तितेषां निरुत्थम्॥७९॥

लिङ्गाद्दण्डाङ्कुरान्तर्मनपवनगमाद्ब्रह्मनाड्यादिभेदं।
कृत्वा बिन्दुं नयन्तः परमपदगुहां शङ्खगर्भोदरोर्ध्वम्।

तत्रान्तर्नादघोषं गगनगुणमयं वज्रदण्डी क्रमेण।
ये कुर्वन्ती कष्टान् परमपदमहो नास्तितेषां निरुत्थम्॥८०॥

सं० टी०–श्रीहट्ट इति मस्तकान्त इत्यस्य विशेषणं श्रीणां शोभा प्रभाणां *"श्रीर्लक्ष्मी भारती शोभा प्रभासु सरलद्रुमः"* इति यादवः।" हट्ट-विपण इवाकर इति यावत् सहस्रारे निखिलपदार्थाः सन्तीति भावः। **[मस्तकान्ते]** सहस्रारे यः **[त्रिपुट पुटः]** त्रिकोणाकारयन्त्रस्तस्य विलेच्छिद्र-ब्रह्मरन्ध्रे ये ध्यानं कुर्वन्तीत्यध्याहारस्तथा ललाटे, ततोऽधो भालपटले भ्रूनेत्रे च लुप्तचकारोऽत्र द्रष्टव्यः। **[भ्रुवि नेत्रे च]** भ्रूश्च नेत्रं चेति समाहारं द्वन्द्वस्ततो ङौ रूपम्। तथैव **[नासिकाग्रश्रवणपथरवे]** नासिकाग्रे श्रोत्रस्य शब्दे चात्रापि समाहारद्वन्द्वः **[घण्टिका राजदन्ते]** कण्ठे देशस्थमांसखण्डे तथा कण्ठे हृन्मध्ये नाभिमध्ये च **[त्रिकमलकुहरे]** त्रिकोणाकारकमल-मध्ये **[उड्डियाने]** तन्नामकबन्धे पीठे नाभितोऽधः प्रदेशे **[एवं ये स्थानलग्नाः]** पूर्वोक्तेषु स्थानेषु संलग्नास्तत्रेवाशक्ताः सन्तो यतन्ते; तेषामपि निरुत्थं परमपदं नास्ति; साक्षान्मोक्षो न भवति, किन्तु परम्परया हिरण्यगर्भादि-द्वारेति भावः॥७८॥ **[गोल्लाट]** इति–गोल्लाटः स्थानविशेषस्तस्मिन्दीप्तिपुञ्जे प्रकाशसमुदाये **[प्रलयशिखिनिभे]** प्रलयकालिकाग्निप्रभे **[वा सिद्धजालन्धरे]** ध्यानस्थाने **[शृङ्गाटे]** सर्वोपरिभागे **[ब्रह्मनाडी मध्यस्थाने]** **[भालान्ते]** मस्तकान्ते **[विद्युदाभे]** विद्युत्प्रभे तथा **[कोटिमार्तण्डचण्डे]** कोटिभास्वद्दीप्ते **[तदुपरि शिखरे]** तदूर्ध्वोच्चस्थाने ये सन्तः **[तडिदिवतरलम्]** विद्युद्वल्लोलमेकं ज्योतिःप्रकाशं सततं भावयन्ते भावनां कुर्वन्तेषां परमंपदमुच्चस्थानं निरुत्थं मोक्षवस्तु नास्तीत्यहो आश्चर्यम्॥७९॥ लिङ्गादारभ्य **[दण्डांङ्कुरान्तः]** गेरुदण्डमध्ये **[मनपवनगमनात्]** अत्र सान्तस्यापयदन्तत्वान् मनसः पवनस्य च प्राणवायोः गमनवशात् **[ब्रह्मनाड्यादिभेदम्]** सुषुम्णनाडिभेदनम् **[कृत्वा]** विधाय **[बिन्दुम्]** शुक्रम् **[शङ्खगर्भोदरोर्ध्वम्]** शङ्खगर्भगलमध्यभाग-स्तस्योदरान्मध्यदेशादूर्ध्वं उपरिभागे। **[परमपदगुहायाम्]** वीर्यस्य मूलस्थानं भ्रमरगुहाशिरसः पृष्ठभागे वर्तते। तत्र **[नयन्तः]** वहन्तस्तत्र वज्रदण्डी क्रमेण वज्रोलीक्रियाप्रकारेणान्तर्मध्ये **[गगनमगुणमयम्]** आकाशध्वनिप्रचुरम्। व्यापकमिति यावत् **[नादघोषम्]** नित्यनादध्वनितं ये कुर्वन्ति, तेऽपि कष्टङ्कुर्वन्ति तेषामपि नात्यन्तिकसाक्षान्मोक्षस्तत्रैवासक्तात्वादिति-

पूर्वकज्ज्ञेयम्॥८०॥

भा० टी०—लक्ष्मी सरस्वती शोभादि सकल पदार्थों के खजाने सहस्रार के ऊपर जो त्रिकोण यन्त्र है, उसके मध्य ब्रह्मरन्ध्र में जो ध्यान करते हैं और उसके नीचे कपाल, भ्रूकुटि; नेत्र, नासिका, श्रोत्र, कण्ठ के ऊपर तथा कण्ठ, हृदय, नाभि और उसके नीचे स्वाधिष्ठान आदि स्थानों में जो ध्यान करते हैं, वे भी साक्षात् निरुत्थान (मोक्ष) नहीं प्राप्त कर सकते। किन्तु क्रममोक्ष को ही प्राप्त होते हैं। दीप्तिपुञ्ज प्रलयकालिक अग्नि के सदृश गोल्लाट में जालन्धर शृङ्गाट ब्रह्मनाडी के मध्यस्थान में बिजली की तहर दीप्त मस्तकान्त में तथा करोड़ों सूर्यप्रकाश सदृश शिखर में जो योगिजन चंचल बिजली के आकार वाले ज्योतिःपुञ्ज का ध्यान करते हैं, उनको भी मोक्ष नहीं मिलता। लिङ्ग से लेकर मेरुदण्ड के बीच मन और प्राणवायु के गमन द्वारा सुषुम्णा नाडी का भेदन कर बिन्दु को गले से ऊपर भ्रमर गुहानामक शिर के पीछे भाग में ले जाते हुये वज्रौली क्रिया द्वारा वहाँ स्थापित कर व्यापक नित्य नादध्वनि को जो करते हैं, उनको भी साक्षात् मोक्ष नहीं मिलता॥७९-८०॥

मू०—

सम्यक् चालनदोहनेन सततं दीर्घीकृतां लम्बिकां
तां ताल्वन्तरवेशितां च दशमद्वारोदरे सन्धिनीम्।
नीत्वा मध्यमसन्धिसङ्घटघटात् प्राप्तां शिरो देशतः
पीत्वा षड्विधपानकाष्ठभजनं वाच्छन्ति ये मोहिताः॥८१॥
गुह्यात्पश्चिमपूर्वमार्गमुभयं रुध्वानिलं मध्यमं
नीत्वा ध्यानसमाधिलक्ष्यकरणैर्नानासमाध्यासनैः।
प्राणापानगमागमेन सततं हंसोदरे संघटा
एवं येऽपि भजन्ति ते भवजले मज्जन्त्यहो दुःखिताः॥८२॥

सं० टी०—केवलखेचरीमुद्रा करणेनापि न मोक्षसिद्धिरिति दर्शयति सम्यगिति सततम् [**सम्यक् चालनदोहनेन**] चालनदोहनक्रियया [**दीर्घीकृताम्**] विस्तारिताम् [**ताल्वाभ्यन्तरवेशिताम्**] तालुमध्ये

विपरीतरूपेण प्रवेशिताम् [**तत्र दशमद्वारोदरे**] भ्रूमध्ये सन्धिनीं सन्धिकारिणीं संयुक्तामिति यावत् [**लम्बिकाम्**] जिह्वां [**नीत्वा**] प्रापय्य [**मध्यमसन्धिसङ्घटघटात्**] मध्यमश्चासौ सन्धिः सङ्गमो नाल्पो नातिदीर्घ इति यावत् तस्य सङ्घटः समुदायस्तस्यघटात् करणात्। तत्र भ्रूमध्ये मध्यमरूपेण बारम्बारं रसनायाः सङ्गमकरणादितिभावः [**शिरोदेशतः**] सहस्रारतः [**प्राप्ताम्**] समागतां सुधामिति शेषः [**पीत्वा**] आस्वाद्य ये जनाः सततम् [**षड्विधपानकाष्ठभजनम्**] षड्रसास्वादनरूपजडसेवां वाक्षन्ति तेऽपीति शेषः [**मोहिताः**] तत्त्वबोधतो वञ्चिताः। तत्त्वज्ञानसाधनमिदं लक्ष्यं मत्वा सततं तदासक्ता न भवन्त्वित्युपदेशायात्र प्रकरणे सर्वेषां निन्दाकृता न तु निन्दा तात्पर्येणेति पूर्वोक्तं न विस्मर्तव्यमिति॥८१॥ केवलवायुरोधजसमाधितो न मोक्ष इति प्रदर्श्यते गुह्येति [**गुह्यत्**] मूलाधारात्, आरभ्येति प्रभृत्यर्थकयोगे पञ्चमी [**उभयं पश्चिमपूर्वमार्गम्**] इडापिङ्गलोभयपथम् [**रुद्ध्वा**] अवरोध्य [**मध्यमनिलम्**] सुषुम्णायां वायुम् [**नीत्वा**] प्रगमय्य [**ध्यानसमाधिलक्ष्यकरणैः**] ध्यानं च समाधिश्च तयोर्लक्ष्ययोः करणैः साधनैः [**नानासमाध्यासनैः**] भूयोऽभ्यासैः [**प्राणापान-गमागमेन**] प्राणस्यापानस्य चोच्छ्वासनिःश्वासयोर्गमागमेन यातां यातेन [**हंसोदरे**] नाडी कुहरे [**सङ्घटा**] सङ्घर्षः सम्पाद्यत इति शेषः। एवमपि ये भजन्ति, तेऽपि दुःखिताः सन्तो भवजले मज्जन्ति विना ज्ञानं समाधिना प्रकृतिलयो भवतीति न संसाराद्विमुक्तिरतस्तत्त्वज्ञानाय सावधानेन स्थातव्यमित्युपदेशः॥८२॥

भा० टी०—अब केवल खेचरी से भी साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, इसका निरूपण करते हैं। अच्छी तरह चालन-दोहन द्वारा जिह्वा को लम्बी बनाकर तालु के भीतर ले जाते हुये तथा दशम द्वार में संयुक्त करते हुये बार-बार उस जिह्वासम्बन्ध से सहस्रार से टपकने वाले अमृत को पीते हुये जो षट् प्रकार के रसास्वादरूप जडपान में आसक्त हैं, वे भी साक्षात् मोक्ष से वञ्चित हैं। मूलाधार से लेकर इडापिङ्गला के मार्ग को रोककर सुषुम्णा द्वारा वायु को ऊपर ले जाकर अपने ध्येय के साक्षात्कार के उपाय अनेक प्रकार के अभ्यास से वायु के गतागत द्वारा नाडीचक्रों में ही जो सदा आसक्त रहते हैं, वे भी समरसकरण के बिना साक्षात् मोक्ष के भागी न होने से दुःखी ही रहते हैं॥८१-८२॥

मू०–

शक्त्याकुञ्चनमग्निदीप्तिकरणं त्वाधारसम्पीडनात्
स्थानात्कुण्डलिनी प्रबोधनमतः कृत्वा ततो मूर्धनि।
नीत्वा पूर्णगिरिं निपातनमधःकुर्वन्ति तस्याश्च ये।
खण्डज्ञानरतास्तुते निजपदं तेषां हि दूरं मतम्॥८३॥

बन्धं भेदञ्च मुद्रां गलविलचिबुकाबद्धमार्गेषु वह्निः
चन्द्रार्का सामरस्यं शमदमनियमा नादबिन्दुं कलान्ते।
ये नित्यं मेलयन्ते ह्यनुभवमनसाप्युन्मनीयोगयुक्ता-
स्ते लोकान्भ्रामयन्ते निजसुखविमुखाः कर्मदुखाध्वभाजः॥८४॥

सं० टी०–केवलषट्चक्रभेदेन शक्तिसञ्चालनक्रियानुरागोऽपि न श्रेयस्करः। किन्तु साध्यसिद्धिपर्यन्तमेव साधनं कर्तव्यं यथोदनपर्यन्तमेव पाकस्तण्डुलनिष्पत्तिपर्यन्तमेवावघातश्चान्यथा निष्क्रियावस्थारूपावधूतत्वं न स्यादित्युपदिश्यते। शक्त्येति- [**आधारसंपीडनात्**] मूलाधारस्य बन्धन-मुद्रयामर्दनात् [**शक्त्याः**] कुण्डलिन्याः [**आकुञ्चनं**] सङ्कोचः तथा [**अग्निदीप्तिकरणम्**] कुक्षिस्थाग्निं प्रगृह्याधारे संयोजनम् एतत्साधनद्वयबलेन [**स्थानात्**] स्वस्थानात् [**कुण्डलिनी प्रबोधनम्**] मूलाधारस्थं शक्तिजागरणं भवति ततः प्रबोधान्मूर्धनि भालमध्ये [**ताम्**] कुण्डलिनीं कृत्वा [**ततः**] तस्मादप्युपरि [**पूर्णगिरिम्**] सहस्रारस्थितपीठदेशं नीत्वा तस्याश्च पुनः [**अधः**] नीचैः [**निपातनम्**] प्रपातनं ये कुर्वन्ति सततं कुण्डलिन्या उत्थानावपातनयोरेवासक्तास्तेऽपि खण्डज्ञानरता एकदेशसाधनसम्पन्ना अपि अवधूतत्वसम्पादकनैष्कर्म्यादिपूर्णसाधनरहिता। अतस्तेषां निजपदं स्वस्थानं [**दूरम्**] अनल्पविलम्बनेन मोक्षो भवति, नैष्कर्म्यादिसाधनं यावत्प्रतीक्षते॥८३॥ सिद्धिपर्यन्तमेव साधनं तत्परं, तदपि हेयमन्यथा सङ्गताख्यमोक्षो न स्यादित्युक्तं पूर्वम् तथैवात्रापि बोध्यमियमेव प्रक्रिया सर्वदर्शनेषु समादृता। यथा तत्त्वज्ञानस्यापि वृत्तिरूपतया वृत्तेश्चाविद्यारूपत्वाद्धेयतैव पर्यवस्यतीति घण्टाघोषः [**बन्धम्**] जालन्धरादिम् [**भेदम्**] चक्रभेदम् [**मुद्राम्**] खेचरीप्रभृतिं कृत्वेति शेषः। [**गलविलचिवुकाबद्धमार्गेषु**] गलस्य कण्ठस्य विलं छिद्रं चिबुकम्-ओष्ठाधो-भागस्तयोराबद्धमार्गाः आप्रतिबद्धाः सम्यग् निरुद्धा मार्गा नाडीरन्ध्रास्तेषु सत्सु

[**वह्निः**] सुषुम्णा नाडी [**चन्द्रः**] इडानाडी [**अर्कः**] पिङ्गलानाडी तेषाम् [**सामरस्यम्**] समरसभावमैक्यमिति यावत्। [**शमः**] अन्तरिन्द्रियनिग्रहः [**नियमाः**] शौचादयः [**नादः**] आन्तरिकशब्दः [**बिन्दुः**] शुक्रम्, एतेषां समुदायं कलान्ते साधयित्वा सिद्धेः पश्चादपि– [**उन्मनी योगयुक्ताः**] संसारापसृत्यपरमात्मनिष्ठाः सन्तोऽपि-उन्मनी पदार्थः प्रागुक्तः। अपि शब्दस्य भिन्नक्रमतां स्वीकृत्यात्र सम्बन्धः [**अनुभवमनसा**] साधनज्ञानाशक्तचित्ततया पूर्वोक्तसाधनं नित्यं मेलयन्ते, ते निजसुखविमुखाः स्वात्मानन्दवञ्चिता लोका भ्रामयन्ते साधनोपदेशेन वञ्चयन्ते। अत उन्मनीभावात् पूर्वमेव साधनं विधेयं, न तु ततः पश्चादिति निष्कर्षः॥८४॥

भा० टी०–जब योगी एड़ी से मूलाधार को दबाकर भली प्रकार सिद्धासन लगाकर मूलबन्ध को दृढ़ करता हुआ बैठता है, तब मूलाधार के युक्तियुक्त दबाने से अग्नि प्रज्वलित होती है। उस अग्निप्रज्वलन से तथा अपानवायु को ऊपर की ओर खेंचने से मूलाधार में कुण्डलिनी-शक्ति को प्रबोधित करें। उस कुण्डलिनीशक्ति को प्रबुद्धकर पीछे मूर्धस्थान में स्थित "पूर्णागिरिपीठ" नामक ब्रह्मस्थान सहस्रदल में पहुँचाकर योगी यथाशक्ति समाधि में स्थित रहते हैं। यह निर्भय मोक्षस्थान है। यहाँ काल की गति नहीं है। इसी को पूर्णागिरिपीठ भी कहते हैं; क्योंकि यहाँ पूर्णब्रह्मरूप निजस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर वे ही ध्यानी लोग ध्यान में उतरते समय उसी कुण्डलिनी को नीचे निजस्थान पर गिरा देते हैं। अतः वे ध्यानावस्था से फिर प्रपञ्चावस्था में लौट आते हैं। इस अवस्था को प्राप्त हुये योगिजन यद्यपि उत्तम कोटि में गिने जाते हैं। तथापि ऐसे अभ्यासी महात्मा भी खण्डज्ञान में ही रहते हैं; क्योंकि यह केवल साधन भूचरी मुद्रा का फल है। अतः जब तक साङ्गोपाङ्ग योगविधि से निज पिण्डपद का समरसकरण न किया जाय, तब तक उन खण्डज्ञानियों के लिये अखण्ड ज्योतिःस्वरूप पद दूर माना जाता है। मूलादि बन्ध तथा कुण्डलिनी प्रबोध से षट्चक्र और ब्रह्म-विष्णु-रुद्र ग्रन्थियों का भेदन या महावेधकर तथा खेचरी-आदि मुद्रा एवं ठोड़ी को वक्षःस्थल में जालन्धर बन्ध द्वारा नियोजितकर गलबिल के प्रतिरोध से समस्त नाड़ीमार्गों के रुक जाने पर प्रज्वलित हुई अग्नि का तथा सूर्य और चन्द्र स्वर के सुषुम्णागत मेल का एवं शमदमादि नियमपालनपद्धति

से नाद और बिन्दु का या शमदमादि नियमों का तथा नाद और बिन्दु का जहाँ शब्दादि समस्त कलाओं का अन्त होता है। ऐसे शिवराजधानी-स्वरूप सहस्रदल में अर्थात् सर्वचक्रातीत निरञ्जन देव में उन्मनी योग से युक्त हुये भी जो योगी अनुभव आत्मक मानस ज्ञान से नित्य सम्मेलन करते हैं, वे स्वयं भी कर्मरूप दुःख अन्धकार के भागी होते हुये निज आत्मानन्द सुख से विमुख है और लोगों को भी भ्रम में डालते हैं। कारण कि स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित करने वाली सहजावस्था होती है, उसी को उन्मनीयोग या समाधिनिष्ठा कहते हैं। उसी को प्राप्त करने के लिये समस्त योगसाधनों का अनुष्ठान किया जाता है और जब उन्मनी योग सिद्ध होता है, तब फिर आत्मानन्द को छोड़कर उन साधनों में ही आसक्त रहना तो एक प्रकार से स्वयं भी दुःखभार को सहते हुये लोगों को भ्रम में ढालना है। इसी भाव का पूज्यपाद श्रीयोगाचार्यजी ने ऊपर के श्लोक में वर्णन किया है॥८३-८४॥

मू०–

अष्टाङ्गं योगमार्गं कुलपुरुमतं षण्मुखी चक्रभेदम्
ऊर्ध्वाधोवायुमध्ये रविकिरणनिभं सर्वतो व्याप्तिसारम्।
दृष्ट्या ये वीक्षयन्ते तरलजलसमं नीलवर्णं नभो वा
एवं ये भावयन्ते निगादितमतयस्तेऽपि हा कष्टभाजः॥८५॥
आदौ धारणशङ्खधारणमतः कृत्वा महाधारणं
सम्पूर्णम्प्रतिधारणं विधिबलाद् दृष्टिस्तथा निर्मला।
अर्धोली बहुलीहवासनमयो घण्टावसन्नौलिका
ये कुर्वन्ति च कारयन्ति च सदा भ्राम्यन्ति खिद्यन्ति ते॥८६॥

सं० टी०–[अष्टाङ्गयोगमार्गम्] पूर्वोक्तयमनियमादिरूपाष्टां-गयोगमार्गम् **[तथा]** कुलपुरुषमतं कुलपुरुषः कुलपतिराचार्यस्तेन मतं स्वीकृतम् **[षण्मुखीचक्रभेदम्]** मूलाधारादिषट्चक्रभेदं कृत्वेति शेषः **[ऊर्ध्वाधोवायुमध्ये]** उच्छ्वासनिःश्वासमध्ये भ्रूमध्य इति यावत् **[रविकिरणनिभम्]** भास्करप्रभासदृशम् **[सर्वतो व्याप्तिसारम्]** परितो देदीप्यमानं तेजोः पुञ्जं ये दृष्ट्या त्राटकादिमुद्रया **[वीक्ष्यन्ते]** पश्यन्ति।

[वा] अथवा **[तरलजलसमम्]** चञ्चलनीरतुल्यं **[नीलवर्णम्]** ईषच् श्यामलभं नभो वीक्षयन्ते। एवं सततं भावयमाना अपि कष्टभाज एवेति शेषं पूर्ववत्॥८५॥ **[विधिबलात्]** शास्त्राचार्यनियोगबलात् **[आदौ]** पञ्चभूतधारणेषु प्रथमम् **[धारणशंखधारणम्]** धारणं शं मङ्गलं यस्मिंस्तस्य खस्याकाशस्य धारणमथवा धारणश्चासौ शङ्खः। धार्यते जगदनेनेति संसारस्थितिकारकः, शंसुखात्मकः, खो व्यापकस्तस्य परमेश्वरस्य धारणमतः **[पश्चान्महाधारणम्]** समस्तपञ्चभूतधारणम् अव्याकृताकाशधारणं वा **[प्रतिधारणम्]** विपरीतधारणं प्रत्येकभूतधारणं वा तदङ्गभूतचिह्नधारणम् **[सम्पूर्णम्]** सकलं सम्पाद्य **[दृष्टिम्]** बुद्धिम् **[निर्मलाम्]** स्वच्छां तथा **[अर्धोली]** धौति **[बहुली]** वस्ति **[वासनम्]** नेति भस्त्रिकाश्च **[अथो]** अथ च **[घण्टा]** त्राटकम् **[नौलिका]** नौलिः "एकदेशानुमत्या-भस्त्रेति" एवं ये स्वयं षट्कर्माणि कुर्वन्ति। अन्यान् कारयन्ति च ते सदा स्वयं भ्राम्यन्ति खिद्यन्ति च पूर्ववत्॥८६॥

भा० टी०—कुण्डलिनी शक्ति से जिसमें चक्रों का भेदन कहा है और सर्वसम्मति द्वारा शिव-शक्ति-मतानुयायी से अभिमत एवं यम-नियमादि-साधन-विशिष्ट अष्टाङ्गयोगमार्ग कहा जाता है और ऊर्ध्व ध्येय सहस्रदलयुक्तपद्म तथा ब्रह्मचक्र-ललाटादि के मध्य एवं अधोध्येय मूलाधारादि और मध्यध्येय-नाभिचक्र आदि कों के बीच में सूर्य की किरणों के समान सर्वतो-व्यापक तेजोमय वा तरल स्वच्छ जल के समान या नील वर्ण आकाश के सदृश वस्तु को उन ध्येय स्थानों में देखकर जो ध्यान करते हैं, वे लोग भी परम लक्ष्य पर न पहुँचने से परिमित बुद्धि वाले हैं। दुःख है कि वे पूर्वोक्त रीति से भावना करते हुये भी केवल दुःख भार को ही उठाते हैं। सर्वप्रथम दूसरे उपदेश में कहे हुये पाँच आकाशों में से आकाशधारणा, पराकाशधारण और महाकाशधारण को कर सम्पूर्ण तत्त्वों की प्रतिधारण यानी प्रत्येक धारणा अर्थात् तत्त्वाकाशधारणा को करके योगविधि से ध्येय लक्ष्य में दृष्टि जमाकर निर्मल करते और करवाते हैं। एवं नेति, धोति, वस्ति, त्राटक, नौलि और कपालभाति (भस्त्रिका)— इनको जो सदा करते हैं और कराते हैं, वे भी परमलक्ष्य तक न पहुँचने से भ्रान्त हुये दुःख का उपभोग करते हैं॥८५-८६॥

मू०–

शङ्खक्षालनमन्तरं रसनया ताल्वोष्ठनासारसं
वान्तेरुल्लुठनं कपाटममरी पानं तथा खर्परी।
वीर्यद्रावितमात्मजं पुनरहो ग्रासं प्रलेपञ्च वा
ये कुर्वन्ति जडास्तु ते नहि फलं तेषां तु सिद्धान्तजम्॥८७॥
घण्टाकोहलकालमार्दुलमहाभेरीनिनादं यदा
सम्यङ्नादमनाहतध्वनिमयं शृण्वन्ति चैतादृशम्।
पिण्डे सर्वगतं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽपि वा
तेषां सिद्धपदं ततः समुचितं नैवं परं लभ्यते॥८८॥

सं० टी०–ये सततं कर्मणि रतास्तत्त्वाभिमुखा न भवन्ति, तेऽपि जडाः [**सिद्धान्तजं फलं**] मोक्षस्तेषां न भवति। किं किं कुर्वन्तीति– कथ्यते [**अन्तरम्**] अभ्यन्तरम् [**शङ्खक्षालनम्**] शङ्खनाडीशोधनम्, आन्तरिककमलशोधनमिति यावत्। तथा ताल्वोष्ठं नासिकास्तासां रसं तस्येति शेषः [**रसनया**] जिह्वया [**वान्तेः**] वमनस्य करणेनेति शेषः [**उल्लुठनम्**] निःसारणम् [**कपाटम्**] कपाटमुद्रां भ्रूद्वारभेदनम् [**अमरीपानम्**] शिवजलसुधापानं तथा [**खर्परी**] खर्परधारणम् [**वीर्यद्रावितम्**] वीर्यनिःसृतम् [**आत्मजम्**] स्वकीयं पुनस्तस्यैव [**ग्रासम्**] कवलनम् [**प्रलेपनम्**] वाऽङ्गे मर्दनमित्यादि ये कुर्वन्ति। तेषां सिद्धान्तजं फलं मोक्षो न भवतीति किमु वक्तव्यं शिष्टमण्डलेऽपि समावेशस्तस्य दुर्लभः॥८७॥ [**यदा**] प्राणवायुरोधकाले [**घण्टेत्यादि**] घण्टाप्रसिद्धं वाद्यं तस्याः कोहलः, कोलाहलस्तस्येव कालम्, मार्दुलं च यस्य। कलस्य भावः कालः माधुर्यमिति यावन्मृदुलस्य भावो मार्दुलं, कोमलत्वमिति भावः। सा चासौ महाभेरी निनादो वाद्यविशेषं ध्वनिस्तम्। किं च [**अनाहतध्वनिमयम्**] महाकाशस्थितप्राकृतनित्यशब्दस्य यो ध्वनिः, सोऽनाहतध्वनिस्तन्मयं तत्प्रायं [**सम्यग्ध्वनिम्**] सुन्दरध्वनिम् [**सर्वगतम्**] व्यापकम् [**निरन्तरतया**] अनवरतम् [**पिण्डे**] शरीरमध्ये वा ब्रह्माण्डमध्ये ये शृण्वन्ति तेषां [**ततः**] तेनैव ज्ञानरहितेन साधनेन [**सिद्धपदम्**] सिद्धानां प्राप्यं समुचितं

परं तत्त्वं ब्रह्म नैव लभ्यत इति। किन्तु साधनेन ज्ञानप्राप्तिस्ततो मोक्ष इति क्रमः॥८८॥

भा० टी०–शङ्ख धोने के बाद स्वभाव से तालु, ओष्ठ और नासारस एवं वान्ति का उछाल, कपालकपाट, अमरीपान और खर्परी होना, निज बिन्दु का द्रावण फिर उसी का ग्राम (पीना) और लेप जो जडबुद्धि करते हैं, उनको स्वसिद्धान्त वर्णित फल की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती; क्योंकि यह कल्याण से गिराने वाला अत्यन्त विपरीत मार्ग है। घंटा, कोहल (ढोल), काल (कांस्य का वाद्य विशेष) डमरू और बड़ी नौवत इनके तथा और भी ऐसे ही अनेक चित्र-विचित्र अनहद ध्वनिरूप नाद को सर्वगतरूप से जो स्वपिण्ड में या ब्रह्माण्डमात्र में निरन्तर सुनते हैं, उन अभ्यासियों को यथावत् सिद्धि की प्राप्ति होती है। कारण कि पूर्वोक्त प्रकार से शब्द सुनना योगसिद्धि सूचक शुभ लक्षण है। जब प्राणवायु तीनों ग्रन्थियों का भेदन कर सहस्रदल शिवस्थान में पहुँचने लगता है। जब घण्टादि वाद्य-विशेषों की यह विशाल ध्वनि उत्पन्न होती है, उस समय योगसिद्धियाँ समीप आ जाती हैं। परन्तु उन सिद्धियों के आने पर भी अपने को कृतकृत्य न समझे; क्योंकि यह सिद्धिरूप सार्वभौम पद भी माया का कार्य है। अतः इससे भी तृप्त न होना चाहिए; क्योंकि इतने से भी आत्मरूप व्यापकपद की प्राप्ति नहीं होती। हाँ! अणिमादि ऐश्वर्य में जब विरक्तिभाव होता है, उसके बाद अखण्ड ज्योतिःरूप परमव्यापक आत्मतत्त्व को प्राप्त हो जाता है॥८७-८८॥

मू०–

वैराग्यात्तृणशाकपल्वलजलं कन्दं फलं मूलकं
भुक्त्वा यो वनवासमेव भजते चान्ये च देशान्तरे।
बालोन्मत्तपिशाचमूकजडवच्चेष्टाश्च नानाविधाः
ये कुर्वन्ति पदं विनामतिबलं भ्रष्टा विमुह्यन्ति च॥८९॥
कथादर्शनमद्भुतं बहुविधं भिक्षाटनं नाटकं।
भस्मोद्धूलनमङ्गकर्कशतरं धृत्वा च वर्षं त्वरेत्॥

क्षेत्रं क्षेत्रमटन्ति दुर्गमतरे स्थित्वाऽथ सर्वेन्द्रियं
नो विन्दन्ति परम्पदं गुरुमुखाद् गर्वेण कष्टाश्च ते॥९०॥

सं०टी०–ये [**वैराग्यात्**] संसारात् विरज्य [**तृणशाकपल्वल-जलम्**] तृणविशेषं शाकं वास्तुकादि पल्वलं जलाशयस्तस्य जलं प्रसिद्धं कन्दं, सुरणादि फलमाम्रादि मूलकं प्रसिद्धम्। एतानि भुक्त्वा वनवासरण्यमेव [**भजते**] सेवतेऽन्ये च ये देशान्तरे जन्मदेशादन्यत्र [**नालोन्मत्तपिशाचमूक-जडवत्**] क्वचिद्बालवत् कुत्रचिदुन्मत्तादिवत् [**नानाविधाः**] अनेकप्रकाराः [**चेष्टाः**] व्यापारान् कुर्वन्ति ते मतिबलम् [**ज्ञानशक्तिम्**] [**विना**] ऋते भ्रष्टाः स्वसिद्धान्ताद् विचलिताः सन्तो विमुह्यन्ति मुग्धा भवन्ति॥८९॥ [**अद्भुतम्**] विचित्रम् [**कन्थादर्शनम्**] कन्थारूपवस्त्रम् [**बहुविधम्**] नाना प्रकारकम् [**भिक्षाटनम्**] याचनम् [**नाटकम्**] नाटकवद् बहुवेषम् [**भस्मोद्धूलनम्**] विभूतिपरिलेपनम्-अत एवं [**अङ्गकर्कशतरम्**] अतिशयेन कटिनाङ्गम् [**धृत्वा**] परिधाय कृत्वा च [**वर्षम्**] निरन्तरबहुवर्षावधि [**त्वरेत्**] विचरति [**क्षेत्रं क्षेत्रम्**] प्रतिस्थानम् [**अटन्ति**] अतन्ति [**अथ दुर्गमतरे**] विषमस्थाने [**स्थित्वा**] आसित्वा सर्वेन्द्रियं निरुध्येति शेषः [**गर्वेण**] अहंकारेण [**गुरुमुखात्**] आचार्यवक्त्रात् [**परंपदम्**] तत्त्वं [**नो विन्दन्ति**] न लभन्तेऽतस्ते कष्टाः दुखिता इति॥९०॥

भा०टी– बहुत-से वैराग्य हो जाने पर पत्ती के शाक से ही निर्वाह करते हैं एवं पत्तों के जलपात्र से ही जल का ग्रहण करते हैं। या तृण, शाक और पत्तों से निकाला हुआ जल, कन्द, फल और मूल आदि को खाकर वन में ही निवास करते हैं। या अन्य देश में रहते हैं। इसी प्रकार जो बालक, उन्मत्त, पिशाच, गूंगे और मूर्ख पुरुष के सदृश चेष्टा करने वाले हैं। अतः विपरीतबुद्धि के कारण योगरूप आनन्द से वंचित हो, वे बनावटी विरक्तिपद का ठाठ दिखाते हैं वे आत्मानन्द से भ्रष्ट हुये इस संसार के मायाचक्र में ही मोहित हो रहे हैं। अनेक प्रकार के चित्र विचित्र कन्या (चोला) और वसनादिकों को धारण करने वाले एवं अनेक प्रकार से भिक्षा के निमित्त भ्रमणरूप नाटक में परायण तथा भस्मी और धूल को शरीर में रमाकर देह को अति कठोर बना कितने ही वर्षों

तक कठिन नियमों का पालन करते हैं और अन्य कितने ही समस्त इन्द्रियों को जीतकर दुर्गम तीर्थक्षेत्रों में ही भ्रमण करते हैं। परन्तु वे स्वयं पण्डितमानी होते हुये गर्व से योगतत्त्ववेत्ता गुरु की शरण में पहुँचकर भी योग द्वारा आत्मरूप परमपद को नहीं जानते। वे भी आत्मानन्द से वंचित यू ही दुःखभार से पीड़ित हैं॥८९-९०॥

मू०–

वाणीं ये च चतुर्विधां स्वरचितां सिद्धैश्च वा निर्मितां।
गायत्रीं चतुराश्च पाठनिरता विद्याविवादे रताः॥
नो विन्दन्ति तदर्थमात्मसदृशं खिद्यन्ति मोहाच्छलाद्।
दण्डैः कर्तरि शूलवक्रलगुडैर्भाण्डाश्च दुष्टाश्च ते॥९१॥
एवं शून्यादिशून्यं परमपरपदं पञ्चशून्यादिशून्यं
व्योमातीतं ह्यनाद्यं निजकुलमकुलं चाद्भुतं विश्वरूपं।
अव्यक्तं चान्तरालं निरुदयमपरं भासनिर्नाममैक्यम्।
वाङ्मात्राद्भासयन्तो बहुविधमनसो व्याकुलाभ्रामितास्ते॥

सं० टी०– [स्वरचिताम्] परमात्मनो निःसृतां श्रुतिरूपाम् **[सिद्धैः]** सिद्धपुरुषैर्निर्मितां स्मृतिरूपाम् **[चतुर्विधाम्]** निपातोपसर्ग सुबन्ततिङन्तरूपाम् "चतुर्विधाः शब्दाः" नामाख्यातोपसर्गनिपाताः इति व्याकरणमहाभाष्ये **[वाणीम्]** मन्त्रात्मकशब्दम् **[गायत्रीम्]** तत्तद्देव गायत्रीं पठितुमिति शेषः। **[चतुराः]** निपुणाः **[पाठनिरताश्च]** जपतपपरा अपि यदि **[विद्याविवादे रताः]** विद्याविवादे संलग्नाः **[आत्मसदृशम्]** स्वानुरूपम्–यथार्थमिति यावत् **[तदर्थम्]** मन्त्रार्थम् **[नो विदन्ति]** न लभन्ते, तदा सिद्धिमप्राप्य खिद्यन्ति। अतो विहाय विवादं मन्त्रार्थलाभाय यतितव्यमिति भावः, पश्चान्मोहाच्छलाद्वा ते कर्तरि शूलचक्रलगुडैः। तत्तदस्त्रैः **[दण्डैः]** परपीडनैः **[भाण्डाः]** निर्लज्जा बहुवाग्मिनः **[दुष्टाश्च]** परच्छिद्रान्वेषिणश्च लोके कथ्यन्त इति शेषः॥६१॥ एवं पूर्वप्रकारेण ये स्वयं **[बहुविधमनसः]** नानाविषयव्यावृत्तचेतसः **[व्याकुलाः]** चिन्ताग्रस्ताः सन्तः **[वाङ्मात्रात्]** बहिर्वचना मात्रेणैवान्यान् **[ऐक्यम्]** अद्वैतम्

[**भासयन्तः**] लोकान् भ्रमेषु निपातयन्तो वञ्चकाः सन्तीति तात्पर्यं कीदृशं तत्त्वमित्यस्य विशेषणानि शून्यादीनि [**शून्यस्य**] संसाराभावस्य [**आदि**] कारणं शून्यं सर्वधर्मरहितम् [**परमपरपदम्**] सर्वोत्कृष्टस्थानम्। [**पञ्चशून्यादिशून्यम्**] पञ्चशून्यानां पञ्चभूतावसानानां मध्ये आदिशून्यम्-प्रथमशून्यस्वरूपम्। अयमाशयः-एकैकभूतस्य योऽवसानः स शून्यपदेन कथ्यते। तथा च पृथिवीजलयोर्मध्ये एकशून्यमेवं जलतेजसोर्मध्ये द्वितीयं शून्यम्। तथैव तेजोवायोर्मध्ये तृतीयं शून्यं वाय्वाकाशयोर्मध्ये चतुर्थ-माकाशान्ते च पञ्चमं तथा च पञ्चशून्यानि भवन्ति; तेषु प्रथमाकाशान्तिं ब्रह्मरूपमिति यावत्। अत एव [**व्योमातीतम्**] आकाशमतिक्रम्य स्थितम् [**अनाद्यम्**] नास्त्याद्य कारणं यस्य तत् [**निजकुलम्**] व्यवहारे [**निजम्**] स्वयं [**कुलम्**] सकलवंशप्रवर्तकम् [**अकुलम्**] वस्तुतः कुलरहितं स्वकारणरहितमिति यावत्, अत एव [**अद्भुतम्**] आश्चर्यरूपम् [**विश्वरूपम्**] सर्वस्वरूपं कार्यकारणयोस्तादात्म्यात् [**अव्यक्तम्**] सूक्ष्मम् [**अन्तरालम्**] सर्वेषामभ्यन्तरस्थम् [**निरुदयम्**] उत्पत्तिरहितम् [**परम्**] उत्कृष्टम् [**भासनिर्नामम्**] भासमानं सन्नामरहितम्, नाम्नोऽभाव इत्यर्थाभावेऽव्ययीभावः, अतः नपुंसकादन्यतरस्यामिति टच्॥९२॥

भा० टी०—जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी— इन चार प्रकार की वाणी या गद्य-पद्यात्मक संस्कृतभाषारूप स्वरचित चतुर्विध वाणी वा सिद्धों से निर्माण की हुई वाणी को पढ़ते हैं तथा गायत्रीमन्त्र आदि में चतुर, स्तोत्रादि के पाठ में तत्पर और विद्या-विवाद में भी तत्पर रहते हैं; वे भी आत्मा के सदृश अर्थ को अर्थात् सर्वत्र व्यष्टि समष्टि अण्ड पिण्ड में भीतर, बाहर-ऊपर-नीचे एक ही अखण्ड ज्योतिःस्वरूप आत्मा है— इस प्रकार नहीं जानते; क्योंकि वे मायाचक्र में फंसकर अज्ञानवश खेद को प्राप्त हो रहे हैं। इतना ही नहीं, बल्कि इनमें बहुत से तो पूरे कृपानिधान होते हैं। सुनिये—आत्म बोध से विमुख हो कितने तो दण्ड धारी दण्ड का उपयोग करते हैं। बहुत से कुल्हाड़ी-त्रिशूल-चक्र-लाठी-आदि शस्त्रों को ही धारण करते हैं। अतः ऐसे पामर जन एक प्रकार के भांड और दुष्ट हैं; क्योंकि वे आत्मा की तरफ से एकदम विमुख हुये पशुवृत्ति में ही तत्पर रहते हैं।

अब केवल शून्यवादी के मत की खण्डन करते हैं। जैसे पूर्व में खण्डन किया हुआ मत निःसार है, वैसे ही इसको भी जानना। समस्त जगत् के विनाश का कारण भी महाशून्य है, उससे पर कुछ नहीं है। अपितु वही सबसे पर और परमपद है तथा क्रम से पंचभूतों के मध्यवर्ती विशेष पंचशून्य अभाव का कारण भी वही शून्य है। वह शून्य आकाश से भी अतीत और आदि अन्त से रहित है एवं वह अस्मादादियों का कारण और स्वयं कारणरहित है। व्यवधानरहित अव्यक्त अद्भुत विलक्षण और विश्वरूप– ऐसा वह शून्य है तथा उदय-अस्त से रहित सर्वोत्कृष्ट व्यापकरूप और नाम-रूप से रहित एक है। इस प्रकार केवल वाणीमात्र से वर्णन करने वाले वे शून्यवादी नाना विक्षेपण से व्याप्त हैं; क्योंकि उस वागाडम्बर से स्वयं उनके मन में भी सन्तोष नहीं है। अतः वे भी भ्रान्त ही हैं॥९१-९२॥

मू०–

आज्ञा सिद्धिकरं सदा समुचितं सम्पूर्णभाभासकम्।
पिण्डे सर्वगतं विधानममलं सिद्धान्तसारं वरम्॥
भ्रान्ते निर्हरणं सुखातिसुखदं कालान्तकं शाश्वतम्।
तन्नित्यं कलनोज्झितं गुरूमयं ज्ञेयं निरुत्थं पदम्॥९३॥

सं० टी०–अनात्मेत्यादिना। यदखण्डसच्चिदानन्दाद्वितीयतत्त्वमुपक्रान्तं तस्य कार्यविशेषसृष्ट्यादितज्ज्ञानप्रकारं प्रसङ्गागतं च सर्वं प्रदर्श्य *"उपक्रमोपसंहाराभ्यां तात्पर्यविनिर्णयः"* इति न्यायेनास्य ग्रन्थस्य तत्रैव तात्पर्यं सूचयितुं पुनरपि ग्रन्थान्ते तदेवोपसंहरति। आज्ञेत्यादिश्लोकेन **[गुरुमयम्]** गुरुरूपं स्वार्थे मयट् **[निरुत्थं पदम्]** यस्य नास्त्युत्थानं तदुच्चतमं पदम् **[प्राप्यम्]** तत्त्वं ज्ञेयं कीदृक् तत्तत्त्वमिति विज्ञापनाय बहुविशेषणैः विशिनष्टि– **[आज्ञासिद्धिकरम्]** आज्ञायाः स्वीयोपदेशस्य सिद्धिं साफल्यङ्करोति तच्छीलम्, *"कृञो हेतुताच्छील्येति टच्"* सत्यसङ्कल्पत्वाद् यदेवोपदिशति यं प्रति, तत् तथैव भवतीति भावः **[सदा समुचितम्]** अन्यायोपदेशरहितम्। **[सम्पूर्णभाभासकम्]** सम्पूर्णानां सकलानां भानां सूर्यादिप्रकाशानां भासकं प्रकाशकम्; *"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"* इति श्रुतेः **[पिण्डे]** शरीरे

ब्रह्माण्डे च [**सर्वगतम्**] व्यापकम् [**विधानम्**] सर्वकारकम् [**अमलम्**] रागद्वेषादिमलरहितम्। [**सिद्धान्तसारम्**] सिद्धान्तेषु सारं दृढं वादिभिरजेयत्वात्। अत एव [**वरम्**] श्रेष्ठम् [**भ्रान्तेः**] संसाररूपभ्रमस्य [**निर्हरणम्**] विनाशकम् [**सुखातिसुखदम्**] नित्यमोक्षात्मकानन्ददायकम् [**कालान्तकम्**] सर्वमारकस्यापि कालस्यान्तकम्मारकमजरामरमिति यावत्। अत एव [**शाश्वतम्**] ध्रुवकूटस्थमिति [**कलनोज्झितम्**] गणनारहितं सङ्कल्परहितत्वम् [**नित्यम्**] नित्यरूपं तत् तत्त्वन्तत्र गुरुपददानेन गुरोः परमात्मनश्चैकमेवलक्षणन्तथा चैतादृशगुरूद्वारा तत्तत्त्वं झटिति सुबोधं ध्रुवं भवतीति ध्वनितम्। अत एव इतः पूर्वं वञ्चकगुरुन् निन्दित्वा कीदृशो गुरुराश्रयणीय इत्याकाङ्क्षामुपशमितवान्॥६२॥

भा०टी०—अब इस शास्त्र के प्रतिपाद्य और सिद्धों के लक्ष्यभूत परमपद का वर्णन करते हैं। सृष्टि के आदि में सदा ही उचित समय में अपनी शक्ति से अभिन्न वह ब्रह्म जगद्विषयक इच्छा और जगत की उत्पत्ति को करता है, पीछे परम्परा से वही जगत् के विशेष अवयव विन्यास और देव-मनुष्यादि सकल प्राणियों की भी रचना करता है। वास्तव में वह असङ्ग अखण्ड और ज्योतिरूप है; किन्तु सूर्य-चन्द्र-अग्नि-विद्युत्-नक्षत्र-आदि सम्पूर्ण भासक वस्तुओं का भी वह प्रकाशक है; क्योंकि चेतन सत्ता के बिना इन उपर्युक्त सूर्य-चन्द्रादिकों की स्थिति असम्भव है। यद्यपि वह अखण्ड ज्योति चेतन अण्डपिण्ड में सर्वत्र एकरस और व्यापकरूप से विद्यमान है, तथापि इस देह पिण्ड में ही योगपद्धति द्वारा विशेष ध्यान करने से उस शुद्ध निरञ्जन ज्योतिस्वरूप परब्रह्म की अभिव्यक्ति होती है। वही यथार्थ में सिद्धों के सिद्धान्त का उत्कृष्ट सार है। और जिस समय योगध्यान से उस चेतन परमार्थ तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है, तब यथार्थ में अविद्यारूप भ्रान्ति और अविद्या के कार्यभूत समस्त दुःख-प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाती है। वही परब्रह्म निरतिशय सुख को देता है। जैसे इस लोक में कोई किसी को धनी बना देता है, वैसे ही सुखरूप ब्रह्म अन्य को भी अपने जैसा आनन्दस्वरूप सुखी बना सकता है। और तो क्या! विषय-सम्बन्धी क्षणभंगुर सुख भी उस ब्रह्मसुख का ही लेश है : *"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"* इत्यादि श्रुतियों में भी कहा है। परन्तु वह उपाधिपरिच्छिन्न

होने से तुच्छ कहलाता है और वह परमेश्वर ही आदि– अन्त से रहित शाश्वत और काल का भी काल है; क्योंकि इस ब्रह्म के भय से ही वायु, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु– ये सब स्वयं अपने अपने काम में तत्पर रहते हैं। वही ब्रह्म नित्य और बाध से रहित है; क्योंकि परिच्छिन्न अनित्य वस्तु का देश-काल-कृत अन्त होता है। परन्तु व्यापक नित्य चेतन ब्रह्म में उपर्युक्त विकार नहीं है। अतः वह ब्रह्म नित्य है। इसी से वह समस्त कल्पनाओं से रहित और शुद्ध हे। एवं गुरु पद भी वही है; अर्थात् "गु"-शब्द से अज्ञान और "रु"-शब्द से उसका विनाश। अभिप्राय वही परमेश्वर आचार्य मूर्ति में स्थित होकर उपदेश द्वारा अज्ञानविनाशक कहलाता है। या वही सर्वेश्वर सर्वोच्च व्यापक और सुखरूप कहलाता है और वह शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-आदि अन्तःकरण और अव्याकृत माया से भी परे है। वही योगियों का निर्भय और उत्कृष्ट परमपद है॥९॥

मू०–

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे।
त्रयाणामैक्यं सम्भूतिरादेश इति कीर्त्तितः॥६४॥

आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयापहाम्।
यो योगिनं प्रति वदेत् स यात्यात्मानमैश्वरम्॥६५॥

आशादहनं भसितं कुण्डलयुगलं विचारसन्तोषः।
कौपीनं स्थिरचित्तं खर्परमाकाशमात्मनो भजनम्॥९६॥

सं० टी०–ब्रह्मविद्यालाभाय गुरुराश्रितव्य इति पूर्वश्लोके प्रतिपादितम्। तत्र केन शिष्टाचारेण गन्तव्यमिति बोधयितुं प्रथममादेशपदार्थमाह– आत्मेति **[आत्मा इति]** भूतात्मा पिण्डस्तदुपलक्षकं सकलाधिभौतिकपदार्थस्य **[परमात्मा]** परमेश्वरः **[जीवात्मा]** जीवः **[एतेषां त्रयाणां विचारणे]** विवेके सति **[ऐक्य सम्भूतिः]** एकतैव भवति स एवादेश इति कीर्त्तितः कथितः॥९४॥ अयं भावः– आ० १, दे २ श ३– अत्र पदेऽक्षरत्रयमेलनं तेनाधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकपदार्थानामैक्यभाव एव आदेशपदस्य साङ्केतिकोऽर्थः प्रसिद्धो योगिनाम्। आदेश इति कथनेन योगी प्रसीदति।

ततो ब्रह्मविद्यां ददाति। द्वितीयेन श्लोकेनाह– [**आदेश इति सद्वाणीम्**] सतो ब्रह्मणो बोधिका वाणी, आदेश इति। अत एव [**सर्वद्वन्द्वक्षयापहाम्**] सकल- द्वैतप्रयुक्तदुःखविनाशिनीं तां वाणीं यो योगिनं प्रति वदेदुच्चारयेत्, स ऐश्वरम्। ईश्वर एव ऐश्वरस्तं अथवोपाधिविशिष्ट ईश्वरस्तस्य भावः साक्षिणमात्मानमानन्दचिद्घनं याति-प्राप्नोति परमात्मविद्या साधनान्युपदर्शयति– [**आशादहनम्**] आशायाः सङ्कल्पस्य दहनं विनाशङ्कुर्यादिति शेषः [**भसितं**] अङ्गे भस्म [**कुण्डलयुगलम्**] कर्णयोः कुण्डले धारयेत् [**विचारसन्तोषः**] विचारे ब्रह्मविवेके एव सन्तोषो यस्य, न तु धने। [**कौपीनम्**] वस्त्रं धारयेत् [**स्थिरचित्तम्**] निश्चलं मनः कुर्यात्। हस्ते [**खर्परम्**] पात्रं धारयेत् [**आकाशम्**] हृदयाकाशम् [**आत्मनः**] परमात्मनो भजनं भजनस्थानं भज्यते यत्रेत्यधिकरणसाधनम्॥९६॥

भा० टी०–अब पूज्यपाद योगाचार्य श्रीगोरक्षनाथजी सिद्धयोगियों में प्रचलित 'आदेश' शब्द के अभिप्रेत अर्थ का निरूपण करते हैं। सब उपाधियों से रहित नित्य-अनन्त-शुद्ध-बुद्ध-सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा है। एवं शुद्धसत्त्वगुणप्रधान माया उपाधि वाला सर्वज्ञ समस्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करने वाला जो ईश्वर है; वही यहाँ 'परमात्मा' पद से लिया जाता है। और मलिनसत्त्वगुणप्रधान अविद्यारूप उपाधिवाला अल्पज्ञ और सुख-दुःखादि सहित जीवात्मा है। जीव और ईश्वर की अविद्या एवं मायारूप उपाधि को छोड़कर आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा की एक सम्भूति (अर्थात् अभेद), आदेश-शब्द का अर्थ है। अतः उपर्युक्त रीति से एक सम्भूति-पद के द्वारा एक ब्रह्म का ही बोध हुआ; क्योंकि वास्तविक सिद्धान्त में द्वितीय का अभाव है। परन्तु जहाँ बद्धाञ्जलि शिष्य शिर को झुकाकर गुरु के प्रति आदेश कहता है; वहाँ शिष्य का: "हे गुरु महाराज! आप ब्रह्मस्वरूप हैं।" इस प्रकार स्तुति करने में तात्पर्य है। कारण कि स्तुति अक्षर-प्रणाम के साथ ही की जाती है और जो पुरुष जिसको प्रणाम करता है, वह उसकी स्तुति भी अवश्य करता है। जैसे रावण ने श्रीमहेश्वर को प्रणाम किया था और उनकी स्तुति भी की थी। परन्तु श्रीरामचन्द्र को प्रणाम नहीं किया, तो उनकी स्तुति भी नहीं की। यह बात सर्वलोक प्रसिद्ध है। यहाँ आदेश-शब्द नमस्कार का वाचक नहीं है– यह शंका भी नहीं हो सकती; क्योंकि

पूर्वोक्त रीति से नमस्कार पदार्थ को आदेश पदार्थ के अन्तर्भूत होने से अर्थात् आत्मा की एकता का बोधक जो आदेश-शब्द है उसी में नमस्कार-पदार्थ का भी समावेश होता है और जब शिष्य गुरु के प्रति आदेश आदेश करता है, तब गुरु भी शिष्य के प्रति आदेश ही करता है। वहाँ गुरु का अभिप्राय यह है कि हे शिष्य! तू भी ब्रह्मस्वरूप है। इस रीति से गुरुदेव का उपदेश करने में तात्पर्य है। जहाँ दो समान पुरुष परस्पर आदेश करते हैं, किन्तु उनका गुरु-शिष्य-भाव नहीं है। वहाँ केवल स्तुतिमात्र करने में तात्पर्य है। तात्पर्य के वश से शाब्दबोध सर्वप्रामाणिक पुरुषों से सम्मत है। जैसे कि "सैन्धवमानय" इस वाक्य के सुनने के बाद तात्पर्यवश से कभी अश्व का और भी नामक का भी बोध होता है। जहाँ दो बार 'आदेश-आदेश'– ऐसा उच्चारण किया जाता है। वहाँ अत्यन्त आदर अर्थ जानना। अब आदेश-शब्द के माहात्म्य का निरूपण करते हैं। 'आदेश'– यह सिद्धों को प्रसन्न करने वाली परम आदरणीय शुद्ध वाणी है और उच्चारणमात्र से ही सकल दुःखजाल को समूल नष्ट कर कल्याण को देती है; क्योंकि आदेश-शब्द अद्वितीय ब्रह्म का बोधक है। अतः इसके उच्चारणमात्र से सकल विघ्नों का विनाश और कल्याण की प्राप्ति स्वाभाविक है। वेदों में भी अद्वितीय ब्रह्म का बोधक आदेश-शब्द देखने में आता है :–

"तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो विद्युत्तदा" इति (के० उ०), "उत तमादेशमप्राक्ष्यम्" इत्यादि। (छा० उ०)। अर्थात् "आदेशो नेति नेति"। (बृ० उ०)। अन्तर केवल इतना है कि कहीं उस अनुपम ब्रह्म के उपदेश का बोधक आदेश-शब्द विधिरूप से देखा जाता है। [जैसे ऊपर के छान्दोग्येपनिषद् वाक्य में] और कहीं निषेध रूप से [जैसे बृहदारण्यकोपनिषद् में। अतः जो प्रेमीजन योगी के प्रति 'आदेश-आदेश' इस प्रकार परमपावन शिवरूप आदेश-शब्द का प्रयोग करता है, वह निज आत्मस्वरूप शिव के लोक को प्राप्त होता है। जिस अवधूत योगी ने सम्पूर्ण लोकों को दास बनाने वाली आशा का दहन कर दिया है। वहीं यथार्थ में आत्मनिष्ठ है। उस अवधूत योगी का आत्मविचार और आत्मसन्तोष ही मानो भास्वर कुण्डल हैं, या आशा का उच्छेदरूपी भस्म जिसने धारण की है निज चित्त की स्थिरता ही कौपीन और आकाशरूप

खप्पर है, और निज आत्मस्वरूप का स्मरण ही भजन है॥९३-९५॥

मू०–

एतच्छास्त्रं महादिव्यं रहस्यं पारमेश्वरम्।
सिद्धान्तं सर्वसारस्य नानासंकेतनिर्णयम्॥९७॥

सिद्धानां प्रकटं सिद्धं सद्यः प्रत्ययकारकम्।
आत्मानन्दकरं नित्यं सर्वसन्देहनाशनम्॥९८॥

न देयं परशिष्योभ्यो नान्येषां सन्निधौ पठेत्।
न स्नेहान्न बलाल्लोभान्न मोहान्नानृताच्छलात्॥९९॥

न मैत्री भावनाद्दानान्न सौन्दर्यान्न चासनात्।
पुत्रस्यापि न दातव्यं गुरुशिष्यक्रमं विना॥१००॥

सं० टी०–एतच्छास्त्रं पारमैश्वरं परमेश्वरसम्बन्धिपरमेश्वरस्य प्रकाशकम्परमेश्वररचितञ्चातो महादिव्यमलौकिकम् [**रहस्यं गोपनीयम्**] [**सर्वसारस्यं**] सर्वेषां मध्ये सारः श्रेष्ठस्तस्य प्रकाशमिति शेषः [**नाना-सङ्केतनिर्णयम्**] अनेकसङ्केतैर्निश्चीयमानम् [**सिद्धान्तम्**] प्रकाशयतीति शेषः॥९७॥ एतच्छास्त्रमिति पूर्वेण सम्बन्धः [**सिद्धानां प्रकटम्**] सिद्ध-योगिभिः प्रत्यक्षीकृतम्। अतः सिद्धम् [**आत्मानन्दकरम्**] ब्रह्मानन्दजनकम् [**सर्वसन्देहनाशनम्**] सकलसंशयोच्छेदकम्। नित्यमासूर्यचन्द्रं विद्यमान-मेतच्छास्त्रमतोऽवश्यमुपादेयमिति ध्वनिः॥९८॥ गुरुशिष्यक्रमं विना न कस्मैचिद्देयम्। अत्र रागद्वेषौ न शङ्कनीयौ, किन्तु गुरुशिष्यक्रमं विना केवल- ग्रन्थं विलोक्य क्रियाकरणेऽनेकबाधासमुपतिष्ठते। ततश्च विद्यालाभो दूरे तावद् हानिरेव पुरतः समाढौकतेऽत एवोक्तं न देयं परशिष्येभ्य इत्यादि। सर्वमन्यत्सुगमम्॥९९-१००॥

भा० टी०–यह महादिव्य योग शास्त्र महेश्वर सम्बन्धी परम गोपनीय रहस्य है। अधिक क्या कहें; उत्तमोत्तम सर्वशास्त्रों के सार का भी सिद्धान्तरूप हृदय है। "सिद्धसिद्धान्तपद्धति"– इस नाम से ही इसके संकेत का निर्णय हो जाता है; अर्थात् सिद्धों के अत्यन्त गोपनीय सिद्धान्त को बतलाने वाला यह ग्रन्थ है। यह निजकार्य मे ंपरिणत होने से सिद्धों

में प्रत्यक्ष सिद्ध है। किन्तु अन्य जिज्ञासु को भी शीघ्र निश्चय करा देता है। यह महादिव्य योगशास्त्र नित्य अभ्यास करने वालों के सन्देह को दूर करता हुआ आनन्द को बढ़ाता है। जो योग में रुचि नहीं रखते ऐसे शिष्यों को इनका उपदेश न दे और उनके समीप बैठकर इस शास्त्र का पठन-पाठन भी न करे। इसको न स्नेह से, न बल से, न लोभ से, न मोह से, न मिथ्या भाषण से और न छल से देना चाहिये। न मित्रपन से, न दान से, न रूप सौन्दर्य से और आसनादि सत्कार से भी न दे। इतना ही नही; किन्तु योग्य अधिकारी पुत्र को भी गुरु शिष्य क्रम के बिना न देवे॥९७-९९॥

मू०–

सत्यवन्तो दया चित्ता दृढभक्ताः सदाचलाः।
निस्तरंगा महाशान्ताः सदा ज्ञानप्रबोधकाः॥१०१॥

भयदैन्यघृणालज्जातृष्णाशोकविवर्जिताः।
आलस्यमदमात्सर्यदम्भमायाच्छलोज्झिताः॥१०२॥

अहङ्कारमहामोहरागद्वेषनराङ्मुखाः।
क्रोधेच्छाकामुकासूयाभ्रान्तिलोभविवर्जिताः॥१०३॥

निःस्पृहा निर्मला धीराः सदाऽद्वैतपदे रताः।
तेभ्यो देयं प्रयत्नेन धूर्त्तानां गोपयेत्सदा॥१०४॥

सं० टी०–इदं शास्त्रं कस्मै देयमित्यधिकारिविशेषं लक्षयति– ये सत्यवादिनो दयालवो दृढभक्तिविशिष्टाः सततं स्वधर्मतत्पराः। उद्वेगरहिताः सत्यप्यपराधे शान्तिसहिताः सततसज्जनेभ्यः परलोकज्ञानप्रदर्शकाः। भय-जुगुप्सालज्जातृष्णाशोकरहिताः। आलस्यमदमात्सर्यपाखण्डमायाच्छलरहिताः। अहंकारमहामोह– अज्ञानं रागद्वेषबहिर्मुखाः। क्रोधधनेच्छाकामुकता-परिच्छिद्रान्वेषणभ्रमलोभशून्याः। अतः संसाराद्विरक्ताः मलरहिताः। सततम-द्वैतपदे विशुद्धचिदानन्दे परमात्मन्यनुरागवन्तः। एतेभ्य इदं शास्त्रम्प्रदेयं धूर्तेभ्यस्तु सततं गोपनीयमिति॥१०१-१०४॥

भा० टी०—किन्तु निम्नलिखित अधिकारियों को अवश्य देना चाहिये। सत्यवक्ता, दयालु, ईश्वर और गुरु में दृढ़ भक्ति रखने वाला निज धर्म में अचल, चञ्चलतादोषशून्य, महाशान्त, सदा ज्ञान का उपदेश और भय, दीनता, घृणा, लज्जा, तृष्णा, शोक, आलस्य, मद, दम्भ, छल, मिथ्या, अहंकार, महामोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, इच्छा, निद्रा, भ्रान्ति इत्यादि दोषों से सर्वथा रहित तथा निःस्पृह, निर्मल, धीर और जो सदा अद्वैतपद में रत हैं। ऐसे उत्तमाधिकारियों को प्रयत्न से इस शास्त्र की शिक्षा दे और धूर्तों से सदा इस शास्त्र को गुप्त रक्खे॥१०१-१०४॥

मू०—

निन्दका ये दुराचाराश्चुम्बका गुरुतल्पगाः।
नास्तिका ये शठाः क्रूरा विद्यावादरतास्तथा॥१०५॥

योगाचारपरिभ्रष्टा निद्राकलहयोः प्रियाः।
स्वस्यकार्ये परानिष्ठा गुरुकार्येषु निःस्पृहाः॥१०६॥

एतान् विवर्जयेद्दूरे शिष्यत्वेनागतानपि॥१०७॥

सच्छास्त्रं सिद्धमार्गञ्च सिद्धसिद्धान्तपद्धति।
न देयं सर्वदा तेभ्यो यदीच्छेच्चिरजीवनम्॥१०८॥

गोपनीयं प्रयत्नेन तस्करेभ्यो धनं यथा।
तेषां यो बोधयेन्मोहादपरीक्षितमन्दधीः॥१०९॥

न हि मुक्तिर्भवेत्तस्य सदा दुःखेन सीदतः।
खेचरी भूचरी चैव शाकिनी च निशाचरी॥११०॥

एतासामद्भुतं शापः सिद्धानां भैरवस्य च।
मस्तके तस्य पतति तस्माद्यत्नेन रक्षयेत्॥१११॥

सं० टी०—अनधिकारिणः शिष्या अपि परिहर्तव्याः। तत्र केऽनधिकारिण इत्याह— निन्दकेति। ये निन्दकाः परनिन्दातत्पराः, चुम्बकाः कामुकाः। गुरोस्तल्पे शय्यायां दारेषु वा गच्छन्तीति गुरुतल्पगा नास्ति। परलोकः श्रुतिस्मृतयः प्रमाणं वेति मतिर्येषान्ते नास्तिकाः। योगाचारपदेन

यमनियमादयस्तद्रहिता इत्यर्थः, स्वकीयकार्य सम्पादने संलग्नाः; किन्तु गुरुकार्येषूदासीनाः। एतान् शिष्यत्वं प्राप्तवतोऽपि दूरतो निःसारयेत्। सिद्धा मार्गा यस्मिन् सिद्धानां वा मार्गा यस्मिन् वा सिद्धानां मार्गः सिद्धमार्गः, सोऽस्मिन्नस्तीतिमत्वर्थी योऽच् प्रत्ययः। तत् सच्छास्त्रं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिरूपम् तेषां सम्बन्धसामान्ये षष्ठी पूर्वोक्तदुर्गुणविशिष्टेभ्यो न देयम्। अन्यथाकरणे दण्डमाह यदीच्छेदिति। प्रदाने सत्यल्पजीननं भवति। अतो यथा तस्करेभ्यो धनं गोप्यते, तथा तेभ्य इदं गोपनीयम् यो हि मोहादज्ञानतः [अपरीक्षितमन्दधीः] दुष्टशिष्यस्तमिदं शास्त्रं ज्ञापयेत् [**तस्य**] गुरोः शिष्यस्य च मुक्तिर्न भवति। किञ्च खेचरी भूचरी शाकिनी निशाचरीणां शापोऽपि तस्य मस्तकेऽद्भुतं यथा स्यात्तथा पतति यदि सिद्धश्चेत् तस्य मस्तके भैरवस्य शापः पतति तस्मात्-यत्नेन रक्षयेत्। बलात्करणे दातुर्ग्रहीतुरुभयोर्हानिरिति॥१०५-१११॥

भा० टी०—अब अनधिकारी धूर्तों को बतलाते हैं। निंदक, दुराचारी, गुरुतल्पगामी, नास्तिक, शठ, निर्दयी और केवल शुष्कविद्या विवाद में ही रत एवं योगाचार से परिभ्रष्ट निन्दा और कलह चाहने वाले स्वार्थी और गुरु के कार्य की उपेक्षा करने वाले ऐसे पुरुषों को दूर से ही त्याग दे; चाहे शिष्यरूप से भी क्यों न आये हों। यह सिद्धसिद्धान्त-पद्धतिरूप दिव्य शास्त्र-सिद्धों का अभीष्ट मार्ग है; अर्थात् इस मार्ग पर चलने से योग प्रवीण ज्ञानी अवश्य सिद्ध हो जाता है। यदि चिरकाल तक जीना चाहे तो ऊपर वर्णित अनधिकारियों को इस दिव्य योगसिद्धान्त का कदापि उपदेश न दे। जैसे चोरों से धन की रक्षा की जाती है, वैसे ही इस शास्त्र को प्रयत्नपूर्वक धूर्तों से गुप्त रक्खे। किन्तु जो मन्दबुद्धि बिना परीक्षा किये मोह से या लोभ तथा अज्ञान से उपर्युक्त अनधिकारी धूर्तों को पढ़ाता है, उसकी मुक्ति नहीं हो सकती और सदा ही दुःखी रहेगा। इतना ही नहीं। किन्तु भूचरी, खेचरी, शाकिनी और निशाचरी इत्यादि योगिनियों का अद्भुत शाप लगेगा और यदि अनधिकारियों को बतलाने वाले सिद्ध हैं, तो उनपर सिद्धराज भैरवदेव का शाप होगा। इसलिये इस ग्रन्थ की रक्षा यत्न से करनी चाहिये॥१०५-११०॥

मू०–

गुरुपादाम्बुजस्थाय परीक्ष्य प्रवदेत्सदा।
कुतो दुःखञ्च भीतिश्च तत्त्वज्ञस्य महात्मनः॥११२॥

कृपयैव प्रदातव्यं सम्प्रदायं प्रवृत्तये।
सम्प्रदायप्रवृत्तिर्हि सर्वेषां संमता यतः॥११३॥

मायाशङ्करनाथाय सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम्।
लिखित्वा यः पठेद्भक्त्या स याति परमां गतिम्॥११४॥

विदधात्वर्थनिचयं भक्तानुग्रहमूर्त्तिमत्।
स्मरानन्दभरं चेतो गणपत्यभिधं महः॥११५॥

॥महेश्वरावतारश्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतावववधूत-योगिलक्षणो नाम षष्ठोपदेशः समाप्तिमगात्। श्रीसाम्बशिवः प्रीयतामनेन। श्रीनाथपादपद्मेभ्यो नमः। शुभम्भूयात्॥

सं० टी०–ये गुरुपादपद्मसेवकाः, तान् शरणमाश्रितानिदं शास्त्रं प्रवदेत्। एवं कृते भैरवादिशापो न भवति, तदेवाह– तस्य तत्त्वज्ञस्य योग्यायोग्यविवेकवतो महात्मनः कुतो दुःखं भीतिश्चदुःखभययोः कुतः शङ्कावसरः? नन्वस्योपरि भैरवशापो न पततीत्यत्र को हेतुरित्युपपादयति सम्प्रदायप्रवृत्तये कृपयैव प्रदातव्यं योगसम्प्रदायस्य रक्षार्थं, तत्रापि केवल न तु भयलोभादिना इदं शास्त्रं योग्यशिष्याय देयम्। अन्यथा सम्प्रदायस्योच्छेदः स्यात्तच्च सर्वेषामनिष्टम्; यतः सम्प्रदायप्रवृत्तिः। सम्प्रदायरक्षा सर्वेषां देवादीनां सम्मताऽभिप्रेताः। अतोऽभिप्रायविरोधमनाचरत आचार्याय श्रीभैरवः कथं शापं प्रदद्यात्। मायाशङ्करनाथाय मायया शक्तया सहिताय शङ्करनाथाय कल्याणप्रदादिनाथमनुकूलयितुम्। सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम्– इदं शास्त्रं लिखित्वा यो भक्त्या प्रीत्या पठेत्, स परमां गतिं मोक्षं याति प्राप्नोति। इदानीं शिष्टाचारपरिपालनाय ग्रन्थान्ते मङ्गलमातनुते। विदधात्विति स्मरानन्दभरं ज्ञानानन्दपरिपूर्णम् चेतः मनो यस्य, तत् भक्तानुग्रहमूर्त्तिमत् भक्तानामनुग्रह उपकारस्तस्मै या मूर्त्तिराकारविशेषः सगुणरूपधारणमिति यावत्, साऽस्ति

यस्य तद् गणपत्यभिधम्। गणपतिनामकं महस्तेजः। अर्थनिचयं पुरुषार्थ-चतुष्टयं [**विदधातु**] करोतु एतच्छास्त्रानुयायिन इति शिवम्॥११२-११५॥

गुरोः कृपाकटाक्षेण द्रव्येशविदुषा कृता।
गूढार्थदीपिका प्रीत्यै भूयादाद्यादिनाथयोः॥१॥

यां गूढान्तरभावतस्करभरां स्वान्तेन नाद्यावधिं
गन्तुं कोऽपि न कोविदोऽशकदतः श्रीपूर्णनाथाज्ञया।
तां गत्वा स्खलतिः क्वचिद्यदि ममासौ वै पथो दर्शिका
ह्यन्येषां विदुषां सुलोचनसमुन्मेषात्प्रमोदं वहेत्॥२॥

॥इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ

मिथिलास्थनैपालराज्यान्तर्गतवसतपुरग्रामवास्तव्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीपूर्णनाथ-संस्कृतकालेजयोगाश्रमप्रधानाध्यापक पं० श्रीद्रव्येशझाकृतगूढार्थदीपिकायां षष्ठोपदेशः॥

भा० टी०—यदि योग्य अधिकारी मिल जाय, तो उसके लिये इस उत्तम योगशास्त्र का उपदेश जरूर करे। यही भाव आगे स्वयं श्रीयोगाचार्यजी दिखलाते हैं। श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का आश्रयकर तथा अधिकारी शिष्य की परीक्षाकर सदा उपदेश करे। सत्यज्ञानी महात्मा को दुःख और भय हो ही कैसे सकता है। किन्तु योग्य शिष्य के ऊपर कृपाकर इस ग्रन्थ का उपदेश देना चाहिये; क्योंकि योगसम्प्रदाय का प्रचार सबके लिये सम्मत है। अब इस ग्रन्थ के पाठ के माहात्म्य का संक्षेप से वर्णन करते हैं : जो श्रद्धालु जगदम्बा भवानी सहित श्रीआदिनाथ महेश्वर को या लोक कल्याणार्थ लीलाशरीरधारी योगाचार्य श्रीगोरक्षनाथजी को प्रणामकर तथा 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' नामक इस ग्रन्थ को लिखकर श्रद्धा-भक्ति से पाठ करता है, वह आवागमन से छूटकर उत्तम गति को प्राप्त होता है। भक्तों के अनुग्रहार्थ मूर्त्तिमान् तथा स्मरणमात्र से ही अमन्द आनन्द से पुलकित चित्त जो गणपति नाम का तेज है, वह इस ग्रन्थ में वर्णित अर्थसमूह को सार्थक करे॥११२-११५॥

जयति सोऽयुग्मनयनो भूमानिःश्वसितवेदभूमानो।
शरदभ्रशरीरोलं गोरक्षो विश्वेशितालम्॥१॥

इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ श्रीमत्पूज्यपादबोहराधिपतिश्री १०८ श्रीपूर्णनाथशिष्यवेदान्ताचार्यश्रीपं०योगिभीष्मनाथकृतायां सारदीपिकाख्यहिन्दीटीकायामवधूतयोगिलक्षणनामः षष्ठोपदेशः॥

॥समाप्तश्चायं ग्रन्थः॥

शोध-प्रकाशनविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
बी-4, कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्, नवदेहली-110016